प्रकाशक :
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (बम्बई-राज्य)

●

पहली बार : ३,०००
नवम्बर, १९५९
मूल्य : डेढ़ रुपया

●

मुद्रक :
ओम्प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी (बनारस) ५५७०-१६

भूमिका

भारत में प्रायः हर आदमी समाजवादी होने का दावा करता है। यही स्थिति एशिया और अफ्रीका के अधिकतर भागों की भी है, जहाँ अश्वेतों को पुनः स्वतंत्रता मिली है। फिर भी सभी लोगों के समाजवादी बनने के साथ-साथ स्थिति यह है कि समाजवाद को वे अच्छी तरह से और बारीकी के साथ नहीं समझते।

समाजवादी विचार और आन्दोलन प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से विकसित हो रहा है। उसके अध्ययन से हमें नयी अन्तर्दृष्टि और अधिक गहन दृष्टिकोण मिल सकता है। एशिया के देशों के लिए इस बात की आवश्यकता है और उन्हें इस बात का अवसर प्राप्त है कि वे फिर से सोचें और समाजवाद तथा अपनी विशेष प्रकार की स्थिति को खूब अच्छी तरह से समझकर समाजवाद का भविष्य निश्चित करें। समाजवाद को जहाँ सार्वलौकिक दर्शन बनाना है, वहीं एशिया की स्थिति के प्रकाश में उसकी पुनर्व्याख्या हमें इस बात का अधिकारी बनाती है कि हम सामान्य तौर पर एशियाई समाजवाद की बात करें।

मैंने इन अध्ययनों की शुरुआत कारावास के समय की थी। जेल में मैंने जो कुछ लिखा, उसके सभी भाग इस पुस्तक में नहीं हैं। मैंने शुरू में छह अध्याय रखे हैं :

(१) समाजवाद का उदय,
(२) उतोपियावाद का उफान,
(३) सर्वहारा-दर्शन,
(४) संशोधनवाद की पुनरावृत्ति,
(५) खेतिहर और समाजवाद और
(६) पुनर्निर्माण का अर्थशास्त्र।

प्रथम चार अध्ययनों में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, उसे अन्तिम दो अध्ययनों में एक दृष्टिपथ में रखने की कोशिश की गयी है।

मैं समाजवाद का विद्यार्थी रहा हूँ और उसके लिए लगभग तीस वर्षों से काम कर रहा हूँ। निश्चय ही मेरे कुछ मत हैं और मैंने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसके स्वरूप-निर्धारण में उन मतों का प्रभाव है। किन्तु मैंने यही प्रयास किया है कि भूत के उपयोगी अनुभवों से काम की चीजें निकालूँ और व्यर्थ के विवादों में न खो जाऊँ।

मैंने समाजवाद के उद्देश्यों और तरीकों, दोनों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मेरा खयाल है कि इस जिज्ञासा और विश्लेषण की पूर्ति के लिए अभी कम से-कम छह और अध्ययनों की आवश्यकता होगी। इस पुस्तक में जो प्रारम्भिक अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं, वे मेरे विचाररूपी भवन की आधारशिला हैं।

—अशोक मेहता

प्रकाशकीय

समाजवाद की ओर जनता का आज विशेष रूप से आकर्षण हो रहा है, पर कठिनाई यही है कि उसे लोग भली प्रकार समझते नहीं। श्री अशोक मेहता ने समाजवाद का जैसा गम्भीर अध्ययन किया है, वह किसीसे छिपा नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने अपनी दृष्टि से समाजवाद के उद्देश्यों और उसके साधनों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि खुले मस्तिष्क से साम्यवाद, समाजवाद और सर्वोदय जैसी विश्व को प्रभावित करनेवाली विचारधाराओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय। हम प्रस्तुत पुस्तक इसी दृष्टि से प्रकाशित कर रहे हैं। इससे एशियाई समाजवाद की विचारधारा को समझने में पाठकों को सहायता मिलेगी और वे स्वतन्त्र रूप से चिन्तन की ओर प्रवृत्त हो सकेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि हम श्री मेहता के सभी विचारों से सहमत हों, परन्तु यह निर्विवाद है कि इससे हमारे स्वतन्त्र चिन्तन को बल मिलेगा और यह तो है ही कि—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'।

श्री मेहता ने यह पुस्तक प्रकाशित करने के लिए हमें अनुमति दी, इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

●

अनुक्रम

१. समाजवाद का उदय ... १—४४

'समाजवाद' शब्द ३, दो प्रतिक्रियाएँ ६, उद्योग-पुराण १०, धरती का संस्कार १३, लघु समाज-निर्माता १६, लड़ाकू परम्परा २०, विकासवादी और राज्यवादी २३, जर्मनी का पदार्पण २५, वितरणवादी २८, दो धाराएँ ३३, कई हिस्सों का भवन ४१।

२. उतोपियावाद का उफान ... ४५—९४

पूरी सहकारिता ४९, संघ के उद्देश्य ५२, संघ के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के साधन ५२, शुरुआत में ही अन्त ६२, समाज के लिए खोज ६५, उतोपीय उफान ७६, गांधी और विनोबा ८४, एशिया का बड़ा स्वप्न ९०।

३. सर्वहारा-दर्शन ... ९५—१५५

फ्रान्स में वर्ग-संघर्ष ९६, उपनिवेशवाद की प्रगति ९८, श्रमिक संघवाद १०१, विघटन : समाजवाद का सेतु १०६, मार्क्सवाद ११२, रक्त और शस्त्र का समाजवाद १२२, रूसी क्रान्ति १२७, लेनिनवाद १३६, समूह राजनीति १४०, विकराल सरलीकरण १४९।

४. संशोधनवाद की पुनरावृत्ति ... १५६—२०६

पश्चिम में प्रगति १५७, पथ के विपरीत जाने से लाभ नहीं १६०, इंग्लैण्ड का समाजवाद १६३, जां जौरेस १६६, बर्नस्टाइन और जर्मन समाजवाद १७७, इटली में समाजवाद १८८, शिल्प-संघ समाजवाद १९३, समाजवाद को पीछे मोड़नेवाली प्रवृत्ति १९९।

५. खेतिहर और समाजवाद ... २०७—२२७

खेतिहर की कामधेनु २१५, स्फूर्तिदायक भावना २१८, प्रक्रियागत अभिव्यक्ति २२५।

६. पुनर्निर्माण का अर्थशास्त्र ... २२८—२५०

दोहरा दबाव २३४, विकासवर्धक क्षेत्र २३९, विकास और सामाजिक जाग्रति २४३, राष्ट्रीकरण की गतिशीलता २४६।

समाजवाद का उदय : १ :

समाजवाद का विद्यार्थी मौलिक दृष्टि तभी प्रदान कर सकता है, जब वह अपने को बराबर नया बनाये रखे और इसके लिए उसका नवीन विचारधाराओं से निरन्तर अवगत रहना आवश्यक है। खाली समय में, जैसे कारावास-काल में, भूतकाल के बृहत् साहित्य के गवेषणात्मक अध्ययन से अधिक उपयोगी और कोई काम नहीं हो सकता। समाजवाद का श्रेष्ठ साहित्य लाभदायक अनुभव प्राप्त कराने का उत्तम साधन है।

पढ़ने के लिए सामग्री इतनी अधिक है, धारा इतनी विस्तृत एवं विशाल हो गयी है कि संक्षेपण की लालसा बराबर बनी रहती है। पचाना और सार-संग्रह करना—ये दो समानान्तर उत्कण्ठाएँ हो जाती हैं। अनातोले फ्रांस की 'ला वाई लिट्रेरे' के एक खण्ड की एक छोटी-सी कहानी यहाँ उल्लेखनीय है। एक अल्पवयस्क राजा ने सिंहासनारूढ़ होने के बाद अपने राज्य के विद्वानों को बुलाया और उनसे कहा कि आप मेरी सहायता और पथ-प्रदर्शन के लिए संसार की श्रेष्ठ पुस्तकों से ज्ञान का निचोड़ निकालिये। वर्षों की शोध के बाद विद्वान् लोग पाँच सौ पुस्तकें लेकर उपस्थित हुए। तब तक राजा अपने काम में इतना लीन हो चुका था कि इतने व्यापक अध्ययन के लिए उसके पास समय ही नहीं था। और भी शोध होने से पुस्तकों की संख्या घटकर पचास हो गयी, किन्तु तब तक राजा वृद्ध हो चुका था और इतनी ही पुस्तकें उसके लिए बहुत अधिक थीं। उसने कहा कि विश्व के ज्ञान के सारतत्त्व को निचोड़कर केवल एक पुस्तक में संगृहीत कर दिया जाय। यह तत्त्वसंग्रह होने के पूर्व ही विद्वान् और जिज्ञासु राजा इस लोक से चल बसे। फिर भी सारे ज्ञान का सारांश रखनेवाली पुस्तक का स्वप्न बना हुआ है।

सन् १८४२ में लोरेंज वॉन स्टाइन से लेकर १९४९ में लेडलर के समय तक समाजवाद का गुणगान करनेवाली अगणित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जैसा कि विल्डूरैण्ट का इसी प्रकार के एक दूसरे सन्दर्भ में आग्रह है, इन 'रूपरेखाओं' को 'ज्ञान का मानवीयकरण' कहा जा सकता है, तथापि ये चिरन्तन स्वप्न की सतत प्रतिक्रिया भी हैं। 'इतिहास' और 'रूपरेखा' प्रस्तुत करनेवाली सभी पुस्तकें विभिन्न लेखकों के विचारों और विभिन्न आन्दोलनों के अनुभवों को कालक्रम अथवा वर्ग के अनुसार एक साथ गूँथने तक सीमित रह गयी हैं। ये बदलते हुए रूप किस वैचारिक भूमिका का संकेत करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि इसे समझने का कोई प्रयास नहीं किया गया। बदलते हुए 'रूप' में क्या कोई स्थिर 'तत्त्व' हैं ? अगणित विचारों का क्या एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्या वे गर्म देशों के झाड़-झंखाड़ की तरह उगते हैं या तर्क और अनुभव की कड़ी से जुड़े हुए हैं ?

कुछ वर्ष पूर्व मैंने कतिपय मूलभूत तत्त्वों के आधार पर समाजवाद का विश्लेषण करने और उन तत्त्वों के साथ बदलने के आधार पर समाजवाद के विकास की व्याख्या करने का प्रयास किया था। यह प्रयास कितना उपयुक्त रहा, इसे 'डेमोक्रेटिक सोशलिज्म' (लोकतान्त्रिक समाजवाद) के पाठक ही समझ सकते हैं। अब मेरा खयाल है कि कतिपय प्रवृत्तियों, उनकी चुनौतियों और प्रतिक्रिया की दृष्टि से समाजवाद की गाथा का अध्ययन विश्लेषण का अधिक उपयोगी साधन है। विभिन्न समाजवादी विचार वातावरण बदलने से बहुत थोड़ा बदलते हैं, उन पर विचारकों की प्रवृत्ति और विशेषता की भी प्रतिक्रिया होती है। इन दोनों में आवर्तन की एक निश्चित लय है। इस लय को समझना बड़ा आनन्ददायक अनुभव है।

जहाँ तक ज्ञात है, मुद्रण में 'समाजवाद' शब्द का सबसे पहला प्रयोग सन् १८०३ में इटली में हुआ, किन्तु वह वाद के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'समाजवाद' से बिल्कुल भिन्न था। १८२७ में 'समाजवादी' शब्द का

प्रयोग 'कोऑपरेटिव मैगजीन' में रावर्ट ओवेन के अनुयायियों के लिए
किया गया। 'समाजवाद' शब्द का पहला प्रयोग
'समाजवाद' शब्द १८३३ में नियतकालिक फ्रेंच-पत्र 'ल ग्लोव' में सेण्ट
साइमन के सिद्धान्त की व्याख्या और विशेषता प्रकट
करने के लिए हुआ। उसके वाद के १२० वर्षों में इस शब्द का न जाने कितना प्रयोग हुआ है, किन्तु इतने भिन्न-भिन्न अर्थों में कि इसका सामान्य आशय समझने के लिए गम्भीर विवेचन की आवश्यकता है।

प्रायः प्रारम्भ से ही यह शब्द किसी-न-किसी विशिष्टतासूचक या अर्थ को सीमित करनेवाले विशेषण के साथ प्रयुक्त होता रहा है, कतिपय विशेषणों का रचना विरोधियों ने कुछ मतों को तुच्छ दिखाने के लिए की। मार्क्स द्वारा अपने घोषणापत्र में प्रयुक्त 'सामन्तीय समाजवाद' और 'पेटी बुर्जुआ समाजवाद' इसका उदाहरण है। क्षेत्र को सीमित करनेवाले बहुत-से शब्द जान-बूझकर चुने गये, जैसे 'वास्तविक समाजवाद', 'राज्य समाजवाद' 'क्रिश्चियन समाजवाद', 'फेवियन समाजवाद', 'शिल्पी संघ (गिल्ड) समाजवाद' 'लोकतान्त्रिक समाजवाद'। जैसा कि ऐसे मामलों में आम तौरपर होता है, विशेषण अपने विशेष्य को हड़प लेता है—सीमित करनेवाले शब्दों के न जाने कितने सूक्ष्म अन्तरों में मूलभूत सत्य ही विलुप्त हो जाता है।

स्थिति इसलिए और भी जटिल हो गयी है कि काल और परम्परा ने 'समाजवाद' शब्द में अर्थ की सारी वर्णच्छटा भर दी है। प्रोफेसर कोल ने प्रारम्भिक समाजवादी विचार का पाण्डित्यपूर्ण पर्यालोकन इन शब्दों में किया है : "अधिकांश 'वामपंथी' एकाधिकार का दोष प्रकट करने में एकमत थे, किन्तु एकाधिकार क्या है, इस विषय में उनमें मतभेद था। कुछ लोग सभी बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों को एकाधिकारपूर्ण मानते थे, क्योंकि उन सम्पत्तियों के कारण ही कुछ लोगों को दूसरों पर अनुचित अधिकार प्राप्त था, जब कि अधिकतर लोगों ने वैधताप्राप्त विशेषाधिकार को एकाधिकार माना और उसे सामन्तवादी अधिकारों और आर्थिक

संस्थानों की पुरानी प्रणाली के साथ रखा। कुछ लोगों ने बड़े पैमाने के व्यवसायों और खासकर रेलवे, नहरों और दूसरे 'उपयोगी' उद्योगों में धन लगाने की बड़ी-बड़ी परियोजनाओं का पक्ष लिया। दूसरे लोग उद्योग-विरोधी थे, उनका विश्वास था कि छोटे-छोटे समुदायों के अलावा और किसी रूप में लोग सुखी नहीं रह सकते और न परिवार की खेती या दस्तकारी के छोटे वर्कशाप के अलावा और कहीं सन्तोषप्रद काम ही कर सकते हैं। कुछ लोग सम्पत्ति को बाँटने के पक्ष में थे, तो दूसरे लोग उसे सामुदायिक या और किसी प्रकार के सामूहिक स्वामित्व में रखने के हिमायती थे। कुछ लोग चाहते थे कि सभी व्यक्तियों की आय एक हो, दूसरे लोग 'प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार' वितरण चाहते थे और इससे भी आगे कुछ लोगों का आग्रह था कि पारिश्रमिक समाज को दी गयी सेवा के अनुपात में होना चाहिए। अधिक उत्पादन के लिए आर्थिक असमानता की किसी-न-किसी प्रकार की व्यवस्था को वे कार्य करने के लिए उत्साह प्रदान करने की दृष्टि से आवश्यक मानते थे।"*

ये अन्तर क्या आकस्मिक थे, ये विभिन्न लेखकों और विचारकों के एकांगी दृष्टिकोणों के कारण हुए या इनमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध या हेतु-मूलक सम्बद्धता भी है?

समाजवाद के विद्यार्थियों का यह प्रयास रहा है कि अनेक भिन्न-भिन्न और जटिल रूपों में प्रचलित समाजवादी विचारों को किसी ढाँचे में ढाला जाय। इनमें सबसे प्रसिद्ध प्रयास फ्रेडरिक एंगेल्स का था, जिन्होंने समाजवाद को उतोपीय और वैज्ञानिक, दो वर्गों में बाँटा। काफी समय से समाजवादी विचार को इन्हीं दो वर्गों की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यह दृष्टि केवल विचार ही नहीं, प्रशासन के क्षेत्र में भी है। यह विभाजन-रेखा १८३८ में खींची गयी। उसके पहले जो कुछ भी था वह उतोपीय समाजवाद था और उसके बाद सही अर्थ में जो कुछ हो रहा है, वह

* जी० डी० एच० कोल : 'सोशलिस्ट थॉट' खण्ड १, पृष्ठ ३०४-५।

वैज्ञानिक समाजवाद है। ऐसी स्थिति में समाजवादी विचार का कोई भी नया मूल्यांकन नये दृष्टिकोण से होना चाहिए।

समाजवाद की कल्पना कभी-कभी विचारों की ऐसी त्रिवेणी के रूप में की जाती है, जो इंग्लैंड के आर्थिक विचार, जर्मनी के दार्शनिक अनुभवों और फ्रांस के समाजशास्त्रीय सूत्रों को मिलाकर बनी है। ऐसे कथन में विशेष विषय को उदाहरण बनाकर व्यापक नियम का मन को भानेवाला निष्कर्ष निकालने जैसा ही सत्य है और वह मार्क्सवाद के सम्बन्ध में ही सार्थक है। औद्योगिक क्रान्ति की लहर पहले इंग्लैंड में आयी। विकास की प्रक्रिया में उसकी शक्ति का इतना व्यय हुआ कि उसे दार्शनिक चिन्तन का अवसर ही नहीं मिला। बाद के वर्षों में जब इसी तरह का और शायद इससे भी बड़ा परिवर्तन सयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ, तो यन्त्र और शिल्पकला का स्थान प्रधान हो गया और विचार का स्थान गौण रह गया। जर्मनी में १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवन निष्प्रवाह हो गया था। सामाजिक प्रश्नों की चिन्ता करनेवाले विचारकों में भी शून्यता आ गयी थी। प्रत्यय (विचार) और भौतिक सत्य में एक-दूसरे के गुणों का आदान-प्रदान शायद ही कभी होता था। समाजवादी विचार के सृजन की उत्तम भूमि फ्रांस था। उस नर्सरी में प्रत्येक भावी परिणति बीजरूप में विद्यमान थी। अकेले फ्रांस में विचार और आर्थिक व्याख्या दोनों एक साथ ऐसे प्रकट हुए कि समाजवाद के सम्बन्ध में भारी खण्डन-मण्डन की लहर आ गयी; विद्वान् सड़कों पर रास्ता रोकने लगे, मजदूर गम्भीर विचार करने और लिखने लगे, धर्मवादी मूर्त्तिपूजा के विरोधी बन गये और इंजीनियर समाज-निर्माण का स्वप्न देखने लगे। इससे विचारों और सामाजिक शक्तियों में अन्योन्य प्रतिक्रिया का आकर्षक क्रम प्रारम्भ हुआ। सत्य और सिद्धान्त एक-दूसरे के साथ आनन्दपूर्वक कदम-से-कदम मिलाकर चलने लगे। समाजवाद की अधिकांश समस्याओं के हल फ्रांस में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।

समाजवाद उन बड़ी घटनाओं की असाधारण कृति था, जो दो

बड़ी क्रान्तियों के फलस्वरूप हुई। फ्रांसीसी क्रान्ति ने अनेक पुरानी परम्पराओं और विचारों को उखाड़ फेंका और राजनीतिक एवं सामाजिक प्रयोगों तथा विचार की साहसपूर्ण यात्राओं के लिए भूमि तैयार कर दी। इसके साथ ही औद्योगिक क्रान्ति यन्त्रों तथा शिल्पकलाओं में सुधार और उद्योग तथा कृषि में व्यापक सुअवसर तथा जटिलताओं की सृष्टि कर रही थी। जीवन एक प्रवाह बन गया और विचार उबाल की अवस्था में था। पौराणिक समुद्रमंथन की कथा की तरह, इस मंथन से भी अमृत और विष दोनों निकले और समाजवाद का आविर्भाव हुआ।

दो प्रतिक्रियाएँ

समाजवाद के असमंजस के जो प्रथम स्वर निकले वे दो थे : पहला था उस समय व्याप्त असमानता, निर्ममता और अहस्तक्षेप सिद्धान्त (Laissez-faire) की व्यक्तिवादी व्यवस्था का विरोध और दूसरा था, सार्वजनिक मामलों और चिन्तन में सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों के मुकाबले राजनीतिक प्रश्नों को प्रमुखता देने का विरोध। समाजवाद अपने ओठों पर 'सामाजिक प्रश्न' की आवाज लेकर पैदा हुआ। यही तुरत उसका गौरव हो गया और उसकी सीमा भी बन गया।

समाजवादियों के शुरू के दलों में कतिपय एक-जैसी विशेषताएँ थीं, उनकी सामाजिक दृष्टि एक-जैसी थी। स्वभावतः मुख्य विषय 'सामाजिक प्रश्न' था। इसकी भिन्न-भिन्न ढंग से अभिव्यक्ति हुई। जोर था—जीविका के लिए व्यक्तियों में प्रतिस्पर्द्धापूर्ण संघर्ष के बजाय सहकार पर, छोटे और बड़े का भेद रखनेवाले व्यक्तिवाद के बजाय सहयोगपूर्ण जीवन पर। राजनीति में आमतौर पर विश्वास नहीं था और राजनीतिज्ञों के बजाय उत्पादकों के माध्यम से संघटन बनाने के विचार को प्राथमिकता दी जाती थी। व्यक्तियों के सामाजिक और आर्थिक पक्ष ने एक नयी दृष्टि दी। उस आधार पर लोगों को संगठित करके राजनीति से उत्पन्न दमन और संघर्षों से बचा जा सकता था। अच्छे व्यक्तियों, समझदार व्यक्तियों के नयी व्यवस्था का आधारस्तम्भ होने की आशा की जाती

थी। यह ढंग काफी हद तक स्वेच्छाप्रेरित और आशावादी था। यदि लोगों के समक्ष प्रदर्शित किया जा सके कि अच्छाई क्या है, तो वे उसे ग्रहण कर लेंगे, जैसा कि विलियम गाडविन (१७५६-१८३६) ने अपनी पुस्तक 'इन्क्वायरी इनटू पोलिटिकल जस्टिस' में बहुत अच्छे ढंग से तर्क प्रस्तुत किया है, अच्छाई को देखना उसे चाहना है। ये समाजवादी व्यक्तियों को पूर्ण रूप से विवेकशील मानते थे, जैसे वे ज्ञान के ही पुत्र हों।

उपर्युक्त दृष्टिकोण रखनेवालों में अधिकांश ऐसे छोटे-छोटे स्वतंत्र स्थानिक समाजों के पक्ष में थे, जो अपनी सारी व्यवस्था अपने आप करें। इससे दबाव घटकर कम-से-कम रह जायगा और लोकतंत्र की अपने उस श्रेष्ठ रूप में प्रतिष्ठा होगी, जिसकी आधारशिला निर्बाध और पूर्ण विचार-विमर्श द्वारा स्थापित सहमति है।

गाडविन जैसे व्यक्तियों का कथन में निहित तर्क में पूर्ण विश्वास था। क्रान्ति को केवल व्यक्तियों का मस्तिष्क प्रभावित करने की जरूरत है, अकेले ज्ञान से ही सामाजिक परम्पराओं में परिवर्तन हो सकता है। इसी कारण तथा मूल्य ३ गिनी होने से विलियम पिट ने गाडविन की पुस्तक के बारे में कहा था कि 'वह कभी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं कर सकती।' बाद में गाडविन ने तर्क की इस सीधी-सादी धारणा में विशुद्ध बुद्धि की दृष्टि से परिवर्तन किया और युक्तिसंगत आचरण में आवेगों के योगदान को भी शामिल किया। यह छूट इसलिए जरूरी हो गयी कि गाडविन ने अनुभव किया कि विवेक रूपी स्वाभाविक प्रकाश समाज की विषम और निष्प्राण परम्पराओं के कारण मन्द पड़ जाता है।

इस युग के थोड़े से भी सुधारक यह नहीं सोचते थे कि दृष्टान्त उपदेश से अच्छा होता है। आदमियों में भले ही विचार-शक्ति न हो, उनके चारित्रिक रूप और विचार एवं कथन में भले ही साम्य न हो, किन्तु आदर्श का निश्चय ही प्रभाव पड़ता है। साम्यवाद का उपदेश देने की दृष्टि से ही नहीं, अपितु अपने उतोपिया को मूर्त रूप देने का प्रयास करने

की दृष्टि से भी एटाइन कैबेट (१७८८-१८५६) शायद उपर्युक्त आदर्श थे। ओवेन, फोरियर और कैबेट ने स्वयं या अपने अनुयायियों के द्वारा उस समय अमेरिका के विरल आबाद क्षेत्रों में अलग बस्तियाँ बसाकर संसार के समक्ष अपने विचारों की उपयुक्तता के प्रदर्शन का प्रयास किया।

संसार से अलग अपना निराला समाज दो प्रकार के ही व्यक्ति स्थापित करते हैं। चारों ओर तूफानी हलचल मचानेवाली लहरों में वे चट्टान पर मकान बनाना या अनुरूपता के द्वीपों की रचना करना चाहते हैं। पहली तरह के लोग निराशावादी हैं। वे समझते हैं कि संसार बुरा है, इससे जो जितनी ही दूर चला जाय, उसकी उतनी ही रक्षा होगी। लबादीवादी या रैपवादी बस्तियाँ इसी कोटि की थीं। इन धार्मिक समुदायों को ऐसे व्यक्तियों ने स्थापित किया था, जो इस संसार से दूर रहना चाहते थे। उनके समाधान का सम्बन्ध इस संसार से नहीं था। दूसरी कोटि में ऐसे लोग हैं जो बहुत आशावादी हैं, जो आदर्शभूत विशेषताओं के अनुरूप समाज स्थापित करना चाहते हैं और उतोपिया के लोक में रहते हैं। पहली कोटि के लोग जहाँ मानव की निर्ममता के सम्पर्क से डरते थे, वहीं दूसरी कोटि के लोगों में साथ रहने की पिपासा थी। वे अपने को पहाड़ी पर स्थित प्रकाशस्तंभ की तरह समझते थे—दूसरे लोगों को केवल इस प्रकाश को देखने और उधर खिंच आने की जरूरत थी। वे अनुभव करते थे कि दृष्टान्त की शक्ति विश्व को सुधारकों की पुस्तकों में वर्णित आदर्शों के अनुरूप अपनी नव-रचना करने में सहायता देगी।

इसके अलावा व्यक्तियों की एक तीसरी कोटि भी है। उनके लिए सत्य उसी सीमा तक सार्थक है, जिस सीमा तक वे उसे जीवन में उतार सकें, और जिस सीमा तक वे उसके द्वारा दृष्टि और जीवन, आदर्श और यथार्थ अस्तित्व को एक सीवनरहित परिधान का रूप दे सकें। सत्य के लिए जीना, अन्तर की आवाज के अनुसार आचरण करना ही सभी सच्चे कलाकारों, साधकों और अपने लक्ष्य की मादकता

में डूबे हुए विद्रोहियों की उत्कण्ठा रही है। उनके लिए सत्यमात्र तर्क से अनुभव की जानेवाली चीज नहीं है, ऐसा एकपक्षीय दृष्टिकोण सत्य को एकदम शक्तिहीन बना देता है और वह मनुष्य के खिलवाड़ की वस्तुमात्र रह जाता है। महत्त्वपूर्ण सत्य केवल जीवन में प्रकाशित हो सकता है, उसे मूल्यसम्मत जीवन द्वारा ही प्रकट किया जा सकता है। निराशावादी संसार से दूर भागना चाहते हैं और आशावादी संसार के लिए दृष्टान्त बनना चाहते हैं, सामाजिक साधक केवल अपने प्रति ईमानदार रहना और लाखों व्यक्तियों के बीच अपने सत्य को जीवन में उतारना चाहते हैं। समाजवादी आम तौर पर आशावादियों और सामाजिक साधकों (जो कभी नहीं स्वीकार करेंगे कि हम ऐसे हैं) की पंक्ति से आते हैं।

फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रान्तियों के फलस्वरूप जो सामाजिक, राजनीतिक और शिल्पिक परिवर्तन हुए, उन्हींसे समाजवाद के आस्थासूत्रों का जन्म हुआ। इन आस्थासूत्रों में मौलिक दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न दो प्रवृत्तियाँ मिलेंगी। एक प्रवृत्ति नये परिवर्तनों और प्रारम्भिक सफलताओं को सुदृढ़ करना चाहती है, दूसरी प्रवृत्ति नयी शक्तियों को दौड़ाकर पूरा विकास-मार्ग तय कराना चाहती है।

विज्ञान का समाज में नयी शक्ति के रूप में उदय हो रहा था। उत्पादन के नये साधन न केवल आर्थिक सम्बन्धों में, अपितु सामाजिक जीवन में भी क्रान्ति कर रहे थे। सेण्ट साइमन पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस प्रभाव को समझा और नये स्वर का स्वागत किया। सेण्ट साइमन और उनके अनुयायियों का बड़े पैमाने के संगठन और नियोजन में पूरा विश्वास था। उनका लक्ष्य राष्ट्रीय राज्यों को ऐसे बड़े पैमाने के उत्पादक-संस्थानों में बदलना था, जिन पर प्राविधिक और व्यावसायिक योग्यता रखनेवाले व्यक्तियों का नियंत्रण हो। वे समझते थे कि समाज के साथ विज्ञान के गठबन्धन से बहुप्रतीक्षित उतोपिया मूर्त रूप लेगी।

इसके विपरीत दृष्टिकोण चार्ल्स फोरियर और कुछ दिन बाद लैमेनेस और प्रूधों का था। उनके विचारों में कृषि को प्रधानता थी। सेण्ट

साइमन उद्योगों के श्रेष्ठ लोगों को महत्त्व देना चाहते थे और इन लोगों ने खेतिहरों के स्वामित्व का पक्ष लिया। भारी पैमाने के संगठनों में उनका अविश्वास था और उन्होंने विज्ञान का उसी सीमा तक स्वागत किया जिस सीमा तक वह उत्पादक के लिए सहायक हो, न कि उत्पादन के लिए। सेण्ट साइमन के मत को माननेवाले भावी औद्योगिक समाज को सभी बुराइयों और अन्यायों का निराकरण करनेवाला मानते थे, जब कि दूसरे वर्ग के लोगों का विश्वास था कि सक्षम और स्वीकार्य सामाजिक व्यवस्था विकसित कृषि-व्यवस्था से ही स्थापित हो सकती है। यह ऐतिहासिक उलझन है। भिन्न-भिन्न देशों में इस प्रकार की स्थितियों में बार-बार ऐसे विकल्प होते हैं।

सेण्ट साइमन (१७६०-१८५२) का मानव प्रगति की निश्चितता में पक्का विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि प्रगति वैज्ञानिकों और

उद्योग-पुराण

प्राविधिज्ञों द्वारा की गयी उन्नति से ही सम्भव होती है, किन्तु निष्प्राण सामाजिक परम्पराएँ उनका मार्ग रोक देती हैं। इस प्रकार इतिहास एक-के बाद एक रचना और आलोचना, उत्थान और पतन के युग का रूप लेता है। सामाजिक ढाँचा अपने को इस प्रगति के अनुकूल नहीं बना पाता, तब तात्कालिक व्यवस्था का विरोध और विध्वंस पूर्णरूप से आवश्यक हो जाता है। अन्ततः वह समय आ गया, जब फ्रान्सिस बेकन के स्वप्न और कल्पनाएँ साकार हो सकती थीं। 'न्यू अटलाण्टिस' अर्थात् बेकन की कल्पना का आदर्श समाज पुराने यूरोप में भी सम्भव था। बेकन के उतोपिया की तरह सेण्ट साइमन शक्ति को वैज्ञानिकों, शिल्पियों और उद्योग चलानेवालों के हाथ में रखना चाहते थे। वे 'राज्य करनेवाली सत्ता' के स्थान पर 'प्रशासन करनेवाली' सत्ता चाहते थे। राजनीति, राजनीतिज्ञों और लोकतन्त्र का उनके लिए कोई उपयोग नहीं था। एकमात्र राजनीति जिसकी उन्हें चिन्ता थी, वह उनकी व्याख्या के अनुसार 'उत्पादन-विज्ञान' था।

सेण्ट साइमन का पक्का विश्वास था कि इंजीनियरिंग हमारे इस निर्धन संसार को भावी समृद्धि के प्रदेशों के साथ जोड़ सकती है। उन्होंने और उनसे भी अधिक उनके शिष्य वेजार्ड (१७९१-१८३२), एनफैण्टिन (१७९६-१९६४) और लेरो (१७९७-१८७१) ने रेलवे लाइनों और बाद में निर्मित स्वेज तथा पनामा की तरह नहरों के जाल बिछा देने की योजनाएँ बनायीं और ब्रिटेन तथा फ्रांस से आग्रह किया कि वे एक-साथ मिलकर सार्वजनिक निर्माण और विकास की ऐसी योजनाएँ पूरी करें, जो राजनीतिक सीमाओं को पार कर जायँ और अन्ततः उन सीमाओं को मिटा भी दें। उनके अनुसार केवल नये नेता ही यूरोपीय संसद का निर्माण और व्यापक शान्ति की स्थापना कर सकते हैं। वे युद्ध के स्थान पर उद्योग और विश्वास के स्थान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा करना चाहते थे।

सेण्ट साइमनवादी समाज को बहुजन के हित की दृष्टि से संगठित करना चाहते थे। किन्तु ऐसा संगठन विज्ञान के पूर्ण उपयोग और उद्योग पर अधिक बल देने पर निर्भर है, जिसमें उद्योगों को दक्ष व्यवस्था की देखरेख में विशाल स्तर के संस्थानों या निगमों के रूप में चलाया जा सके। उन्होंने सार्वजनिक निर्माण की विशाल योजनाएँ बनायीं, व्यापक रूप से (बाद में 'पूर्ण' रूप से) काम-काज की व्यवस्था चाही और कहा कि तभी 'इतिहास का वह तीसरा और स्थायी मुक्तिदायक चरण' आ सकता है, जो अन्तिम चरण (पहले चरण ने दास को भूमि के साथ बेचे गये दास के रूप में बदला और दूसरे चरण ने भूमि के साथ बेचे गये दास को मजदूरी पानेवाला बनाया।) होगा, जिसमें 'सर्वहारा की समाप्ति हो जायगी और मजदूरी करनेवाले साथी' (१८२९ में वेजार्ड) बन जायेंगे।

जैसा कि 'ल ग्लोब' ने सेण्ट साइमन के अनुयायियों का पक्ष प्रस्तुत किया, वे शिल्पतंत्र की सीधी प्रणाली के समर्थक मालूम होते थे। राज-नीतिक लोकतंत्र के प्रति उनके हृदय में गहरी घृणा थी और वे चाहते थे कि शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में रहे, जो उत्पादन की प्रक्रिया का

संचालन करते हैं। "उत्पादन करनेवाले नहीं चाहते कि काम न करनेवाले परान्नभोजी या कोई दूसरा वर्ग हमारा शोषण करे। स्पष्ट है कि एक ओर परान्नभोजियों के पूरे समूह और दूसरी ओर उत्पादन करनेवालों के समूह के बीच यह निश्चय करने के लिए कि उत्पादन करनेवाले क्या काम न करनेवालों के शिकार होते रहेंगे या समाज की पूरी बागडोर अपने हाथ में लेंगे, संघर्ष होगा" (सेण्ट साइमन)। विज्ञान के उदय और शिल्पकला की लहर से अयोग्य राजनीतिज्ञ और शोषक मध्यवर्ती एक किनारे लग जाते हैं, लोग स्वतंत्रता और लोकतंत्र के धूम-पटल से देखते रहते हैं और व्यवस्था स्थापित कर लेते हैं। यह व्यवस्था दमनकारियों द्वारा गोली के बल पर स्थापित क्रान्ति के पूर्व की फ्रेंच राज्य-व्यवस्था जैसी नहीं, बल्कि क्रान्ति से प्राप्त वैज्ञानिक, औद्योगिक और आथिक सूत्रों की शान्तिपूर्ण एवं नवीन व्यवस्था है।

ऐसी व्यवस्था सत्ता के केन्द्रीकरण की कल्पना करके चलती है। नियोजन और आर्थिक उत्थान का सेण्ट साइमनवादी विचार विज्ञान के उपयोग, उद्योगों में काम करनेवाले अगुआदारों के नेतृत्व और शिल्पियों की प्रमुखता पर आधृत था। अहस्तक्षेप की व्यवस्था के विरुद्ध आर्थिक उत्थान, कृषि के विरुद्ध आधुनिक उद्योग, समाज में जमींदारों, मध्यमवर्तियों की प्रमुखता के विरुद्ध बैंकरों, उद्योग संचालकों, शिल्पियों, काम करनेवालों को खड़ा किया गया। स्थानीयता और इधर-उधर फैलाव के बजाय सेण्ट साइमन के सिद्धान्त ने शक्ति और बागडोर के केन्द्रीकरण का पक्ष लिया।

ये नये लक्ष्य थे और ऐसी शाखा से निकले थे जो न केवल तब तक लोगों को ज्ञात नहीं थी, अपितु जिससे लोगों को भय भी था। एशिया के अविकसित देशों में औद्योगीकरण के समर्थकों ने क्लाड हेनरी द रोवराय और काम्टे द सेण्ट साइमन के विचारों को लेकर प्रायः असंगत स्वर अलापा है।

विज्ञान, बड़े उद्योग, केन्द्रीकरण और विशेषज्ञों के शासन का

समर्थन करनेवाले आन्दोलन ही इस युग की एकमात्र प्रतिक्रिया नहीं थे। उतनी ही जोरदार एक दूसरी प्रतिक्रिया थी।

धरती का संस्कार

उसने सामन्तवाद के अन्त और विशेषाधिकारों की समाप्ति का स्वागत किया, किन्तु अपने विचार का केन्द्र-विन्दु उत्पादन को नहीं, वल्कि उत्पादक को वनाया। इसके प्रथम प्रदर्शक फ्रान्स्वाज मैरिये चार्ल्स फोरियर (१७७२-१८३७) थे। वड़े उद्योगों के विस्तार से उन्हें घृणा थी। उनके विचार से सुख खेती और सादे जीवन में है। लोगों के दुःख का स्रोत उन्होंने वाजार में देखा। खरीद और विक्री के उलझनभरे क्रम में व्यक्ति लुटा जा रहा था। आवश्यकता इस वात की थी कि इस निरर्थक प्रतिस्पर्द्धा को रोका जाय और इसके वजाय ऐसी व्यवस्था हो कि उपभोक्ता स्वयं उत्पादन और उत्पादक स्वयं उपभोग करे। वे फ्रांसीसी क्रान्ति की भावना से विपरीत केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के विरोधी थे।

शुरू के अन्य सभी समाजवादियों की तरह चार्ल्स फोरियर के लिए भी राजनीति और राजनीतिज्ञों का कोई उपयोग नहीं था। सारी वीमारियों के लिए वे जो दवाएँ मानते थे, उन्हें स्वेच्छाप्रेरित प्रयासों से प्राप्त किया जा सकता था। उदाहरण के लिए सहयोग का इसमें सर्वाधिक प्रभाव था। जीवन तभी सुन्दर वनाया जा सकता है, जव काम दुखदायी न हो, जव जीवन में वाध्यता और परेशानी नहीं, वल्कि आकर्षण और संतोष हो। ऐसा सामाजिक संगठन वनाना जरूरी है, जिसमें आवेगों का दमन न होता हो या उन्हें वुरा तथा समाजविरोधी न माना जाता हो, वल्कि इस ढंग से उनके अभिव्यक्तीकरण की स्वतन्त्रता हो कि उससे व्यक्तिगत सुख और सामाजिक हित को प्रश्रय मिले। यह जरूरी है कि व्यक्ति का स्वभाव नहीं, वल्कि उस वातावरण को वदला जाय, जिसमें वह रहता है और इस परिवर्तन का तरीका यह है कि समाज को पृथकत्व और प्रतिस्पर्द्धा के वजाय साहचर्य एवं सहयोग के सिद्धान्त के अनुसार संगठित किया जाय। चार्ल्स फोरियर की समाज-योजना का केन्द्र-

विन्दु यह था कि लोगों में मनोभावगत आकर्षण या साथ रहने की भावना होती है।

सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सन्तोषदायक जीवन सहयोग पर आधृत खेतिहर समाज में ही सम्भव है। यह समाज न तो इतना छोटा होना चाहिए कि व्यवसाय को सीमाबद्ध कर दे और न ही इतना बड़ा कि व्यक्ति के सहयोग से कार्य करने की शक्ति को ही दबा दे। फोरियर ने इसके लिए सोलह सौ व्यक्तियों के समाज को, जिसके पास पाँच हजार एकड़ भूमि हो, आदर्श माना। इन समाजों के लिए, जिन्हें 'फ्लांस्तेरेस' नाम दिया गया था, ऐसे भवनों की व्यवस्था थी जिनमें समुदाय की सुविधाओं के सारे साधन हों। कोई भी व्यक्ति अपनी सुविधा और स्वभाव के अनुसार समुदाय के साथ या एकान्त में रह सकता था। फोरियर का विश्वास था कि स्वस्थ जीवन के लिए व्यक्ति का भूमि से सम्बन्ध जरूरी है। उनका उतोपिया सेण्ट साइमन की तरह उद्योग और इंजीनियरिंग पर नहीं, बल्कि कृषि पर आधृत था, जिसमें खेती को सघन कृषि या बागवानी के रूप में संस्कृति मानकर उस उतोपिया का अनुगमन किया गया। इसके बाद समूह की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बुनाई जैसे उत्पादक कार्यों, अध्यापन जैसे सेवा कार्यों का प्रश्न था। फोरियर के दृष्टिकोण में इस बात का विशेष ध्यान था कि कोई व्यक्ति एक ही व्यवसाय तक सीमित न रहे, बल्कि उसमें विविध कार्य करने की क्षमता हो। लोग एक पेशे से दूसरे पेशे में जाते रहें और जो वस्तुएँ तैयार की जायँ, वे वाणिज्य या लाभ के लिए नहीं; समूह के उपयोग के लिए हों, वे सुन्दर ढंग से बनायी जायँ और उनमें टिकाऊपन का ध्यान रखा जाय। लोग निर्माण में उत्साह और उपयोग में सन्तोष अनुभव करें। घटिया किस्म की वस्तुओं में सामान की बर्बादी ही नहीं होती, बल्कि जीवन की उपेक्षा होती है। सन्तोषप्रद काम, व्यवसायों की विविधता, सीधी-सादी जरूरतों की अच्छी तरह पूर्ति और गहरी मित्रता, ये सहयोगात्मक जीवन के स्पष्ट परिणाम होंगे। 'फ्लांस्तेरेस' या समुदाय को मूर्त रूप

देने के लिए राज्य या किसी सार्वजनिक अभिकरण (एजेन्सी) की ओर देखने की जरूरत नहीं थी, स्वेच्छाप्रेरित कार्रवाई ही इसके लिए काफी थी।

अच्छे जीवन की रचना व्यक्ति के आवेगों को दबाकर नहीं, बल्कि उनके उपयोग का साधन तैयार करके, उपभोक्ता और नागरिक को कामगार से अलग करके नहीं, बल्कि व्यक्ति को उत्पादन और उपभोग की सामान्य प्रक्रिया में लगा हुआ मानकर ही की जा सकती है। फोरियर अपने खेतिहर समाजों में कामों में विविधता, तैयार की गयी वस्तुओं में सुन्दरता और टिकाऊपन, यन्त्रों पर सभी का स्वामित्व और काम को जीविका या आराम के साधन के रूप में नहीं, बल्कि जीवन के सार्थक पक्ष के रूप में चाहते थे। उद्योग के विरुद्ध उन्होंने कृषि, बड़े कारखानों के विरुद्ध सहयोग से संचालित दस्तकारी, विशेषज्ञों के बोलबाले के विरुद्ध 'बहुधन्धी' व्यक्तियों के लोकतन्त्र की बात सोची। क्षमता और उत्पादन के आधार पर श्रम को महत्त्व देने के बजाय उन्होंने श्रम को सुन्दरता और उत्साह का स्रोत माना, तथा वस्तुओं के टिकाऊपन में गौरव समझा। मानव उस बिगड़ी मशीन की तरह नहीं है, जिसे इञ्जीनियर ठीक करता है, बल्कि उसमें तरह-तरह की आकांक्षाएँ होती हैं; वह सुसंगठित समाज में सम्पत्ति और सुख दोनों का साधन हो सकता है। मानव में चालबाजी की भावना और परिवर्तन के लिए इच्छा उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति मिलाप की आकांक्षा से सन्तुलित हो जाती है।

औद्योगीकरण का समर्थन करनेवालों ने इसका यह कहकर विरोध किया कि यह स्वप्न उद्योग की प्रगति रोककर नहीं, बल्कि उसे विकास का पूरा मौका देकर ही चरितार्थ किया जा सकता है। जैसा कि हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०-१९०३) ने कहा था : "जिस प्रकार 'व्यक्ति राज्य के लिए है' विश्वास का 'राज्य व्यक्ति के लिए है' विश्वास में बदलना समाज-वाद के लड़ाकू और औद्योगिक वर्गों में विपरीतता का संकेत करता है, उसी प्रकार 'जीवन काम के लिए है' विश्वास का 'काम जीवन के लिए है'

विश्वास में विलोभीकरण औद्योगिक और उससे प्रकट होनेवाले वर्गों में विपरीतता का सूचक है।"

औद्योगिक क्रान्ति का सबसे पहले आगमन और सबसे अधिक प्रगति ब्रिटेन में हुई। रावर्ट ओवेन (१७७१-१८५८) सफल उद्योगपतियों में से थे। हाँ, इस बात में वे अवश्य औरों से भिन्न थे कि न्यू लेनार्क स्थित उनकी कॉटन मिल लाभ का साधन नहीं, बल्कि उनके शिक्षालय और प्रयोगशाला की भाँति थी। ओवेन को उनकी बुद्धि और अनुभव ने सिखाया कि समुचित अवसर और ठीक नेतृत्व मिलने पर सभी व्यक्तियों में अच्छा बनने की क्षमता है। व्यक्ति का चरित्र उसकी इच्छा के अनुसार उतना नहीं बनता, जितना वातावरण के अनुसार। उन्होंने कारखानों के आतंक के प्रति मौन सहमति, गन्दी बस्तियों और व्यक्तियों तथा उनके जीवन को कुण्ठित करनेवाली व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया। अपनी मिल में उन्होंने दिखाया कि अच्छे व्यवहार और मानववादी सम्बन्धों से व्यवसाय में कोई गड़बड़ी नहीं आती। अपने अनुभव के द्वारा उन्होंने 'चरित्र निर्माण' को नये प्रकाश में देखा। "सर्वोत्तम से लेकर निम्नतम और सबसे अज्ञान से लेकर सबसे बुद्धिमान तक कोई भी चरित्र किसी भी समाज, यहाँ तक कि विशाल संसार को भी दिया जा सकता है। इसके लिए कतिपय साधनों के प्रयोग की आवश्यकता है और वे ऐसे साधन हैं, जो बहुत हद तक उन लोगों के हाथों में हैं, जिनके हाथों में राष्ट्रों की सरकारें हैं।"

लघु समाज-निर्माता

इसकी प्राप्ति के लिए प्रथम पूर्वआवश्यकता यह है कि अनियमित प्रतिस्पर्द्धा का परित्याग किया जाय। साहचर्यपूर्ण श्रम इसका सर्वोत्तम हल है। ओवेन के समाधान अनुभूति के आधार पर निश्चित किये गये थे, उन्हें भावात्मक दृष्टि से सूत्रबद्ध नहीं किया गया था।

रुई की कमी के कारण अपने कर्मचारियों को बेकारी से बचाने के लिए ओवेन ने कुछ लोगों को कुछ दिनों के लिए अन्न आदि के उत्पादन

के लिए खेती में लगाया। १८१५ के बाद आम तौर से बेकारी फैलने पर ओवेन ने इसी विचार को विकसित रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने सिफारिश की कि बेकारों को काम के लिए 'एकता और सहयोग के गाँवों में' भेजा जाय—जहाँ लोग सहयोग से काम करें और शान्तिपूर्वक रहें। ओवेन ने बहुत पहले ऐसे समाजों में नयी सामाजिक और नैतिक व्यवस्था का बीज देखा। अपनी 'न्यू हार्मनी' (नव सामंजस्य) बस्ती में प्रयोग करने के लिए वे १८२४ में इंग्लैण्ड से जाकर अमेरिका में बसे।

फोरियर की तरह ओवेन सघन खेती के पक्षपाती थे, किन्तु इसके साथ ही वे उद्योग का सन्तुलित विकास भी चाहते थे। सेण्ट साइमन को यदि उद्योग का नशा था और फोरियर सघन खेती और घरेलू दस्तकारी से सन्तुष्ट थे, तो ओवेन सहयोग पर आधृत ऐसी बस्तियों का निर्माण करना चाहते थे, जिनमें कृषि और औद्योगिक दोनों कार्य अद्यतन (अप-टु-डेट) ढंग से किये जायँ। उन्होंने १८३७ में लिखा: "भूमि की जोताई-बोआई को ऐसी सुन्दर रासायनिक और यान्त्रिक प्रक्रिया का जामा पहनाया जा सकता है, जिसका संचालन बड़े विज्ञानविद् और उच्च शिक्षाप्राप्त व्यक्ति करें।"

अमेरिका में उन्होंने जो प्रयास किया था, वह विफल हो गया और वे १८३० में इंग्लैण्ड वापस आ गये। यद्यपि वे उतोपीय समाज का निर्माण करने में विफल रहे तथापि वे दृढ़ विश्वास लेकर लौटे कि नया समाज पुराने समाज की भित्ति पर ही बन सकता है। औद्योगिक कर्मचारी अपने को ट्रेड-यूनियनों के रूप में संगठित करने लगे थे। वे आगे बढ़कर सहकारिता के प्रयास से अपनी ही उत्पादन और वितरण-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास क्यों न करते? ओवेन सबसे पहले मकान बनाने का काम करनेवाले लोगों से मिले, जो यान्त्रिक आविष्कार से ज्यादा लोभी ठेकेदारों से त्रस्त थे। उन्होंने उन लोगों को समझाया कि आप लोग मिलकर ठेकेदारों के स्थान पर 'राष्ट्रीय भवन-निर्माता शिल्पी-संघ'

की स्थापना करें। सहकारिता के आधार पर उत्पादन और व्यापार की व्यापक परियोजना भी साथ-साथ बन रही थी।

विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए शिल्पी और साझेदारी में काम करनेवाले विभिन्न उत्पादक बाजार और मध्यवर्ती को बीच में लाये बिना अपनी वस्तुओं का सीधा विनिमय क्यों नहीं कर लेते ? ओवेन ने इसके लिए राष्ट्रीय निष्पक्ष श्रमकेन्द्र (नेशनल इक्वीटेबल लेबर एक्सचेंज) की स्थापना की, जहाँ उत्पादकों की सहकारी समितियाँ वस्तुओं का विनिमय उनके तैयार करने में लगे हुए समय को आधार बनाकर कर सकती थीं। विभिन्न महत्त्वपूर्ण नगरों में ऐसे केन्द्र बन गये और सहकारी आन्दोलन को प्रश्रय देने के लिए वितरण में लिये जानेवाले लाभ में कटौती करने तथा 'भाज्य लाभांश' जमा करने के लिए कई स्थानों पर उपभोक्ता सहकारी भण्डार खुल गये। इस प्रकार ओवेन एक नये ढंग के समाज के निर्माता बन गये। उनके उतोपिया को 'न्यू एटलांटिस' की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं थी। इसे व्यस्त नगरों और व्यस्त गाँवों में आरम्भ किया गया। सहयोग के गूढ़ तत्त्व को रोगग्रस्त संसार के बीच में ही खोजा और विकसित किया जा सकता है।

सन् १८३४ तक ओवेन के नेतृत्व में ट्रेड-यूनियनें एक साथ हो गयीं और 'ग्रैण्ड नेशनल कन्सलीडेटेड यूनियन' के नाम से अपना एक संयुक्त और शक्तिशाली संगठन बनाया। क्या यह विशाल संगठन एक झोंके में सहकारी स्वराज (कोआपरेटिव कामनवेल्थ) नहीं स्थापित कर सकता था ? सहकारी स्वराज (कोआपरेटिव कामनवेल्थ) क्या मधुमक्खी की तरह समाज-निर्माण का फल नहीं है, या उसे संगठित मजदूर वर्ग की लड़ाकू शक्ति के बल पर स्थापित किया जा सकता है ? शक्ति का स्वभावतः प्रयोग किया गया और वह शक्ति सरकार तथा मालिकों की संयुक्त शक्ति के आगे टूट गयी। आक्रमण की चाल भले ही विफल हो गयी, किन्तु ट्रेड-यूनियनों और सहकारी समितियों के द्वारा समाज-निर्माण का कौशल उत्तरी यूरोप के सफल सामाजिक लोकतंत्र के रूप में पुष्पित हुआ।

विलियम टामसन (१७८३-१८३३) ने ट्रेड-यूनियनों की कल्पना सहकारिता के कार्यकलापों के लिए बनाये गये संगठनों के रूप में की, जब कि टामस हाजस्किन (१७८३-१८६९) ने उन्हें वर्ग-संघर्ष के संगठनों के रूप में देखा। समय की गति और उद्योग के विकास तथा जटिलता ने इस प्रकार स्वर को बदल दिया। उद्योग की प्रगति स्वभावतः सामाजिक प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण में परिवर्तन करती है। जब औद्योगीकरण शुरू हो रहा था, उसी समय इंगलैंड में चार्ल्स हॉल (१७४०-१८२०) ने 'एफेक्टस् आफ सिविलाइजेशन' अर्थात् 'सभ्यता का प्रभाव' नामक एक किताब लिखी, जिसमें उन्होंने कृषि पर सीधे-सादे जीवन-निर्वाह को श्रेष्ठ सिद्ध किया। उत्पादन-प्रणाली के विकास को उन्होंने नापसन्द किया और यह विचार प्रकट किया कि 'सभ्यता' के फलस्वरूप सम्पत्ति और शक्ति थोड़े से श्रीमन्तों के हाथ में जमा होगी और लाखों सम्पत्तिहीनों का और भी शोषण होगा। बुराई की जड़ भूमि के निजी स्वामित्व में है। इसका उपचार यही है कि भूमि को सार्वजनिक सम्पत्ति बना दिया जाय और औद्योगिक उत्पादन थोड़ी-सी सीमा में उतना ही हो, जिससे खेती करनेवालों की अल्पव्ययी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। हाजस्किन पूँजीवाद के विरुद्ध विद्रोह के बाद के चरण का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने उद्योग की दृष्टि से अधिक विचार किया। वे उद्योग का विस्तार चाहते थे, लेकिन इस पक्ष में थे कि श्रम का सारा उत्पादन सम्पत्ति अर्थात् उत्पादन के साधनों के मालिकों को नहीं, बल्कि मजदूरों को मिले और जो कुछ अतिरिक्त रूप में बचे, वे उससे अपनी जीविका के निर्वाह की आवश्यकताएँ पूरी करें। यह परिवर्तन ट्रेड-यूनियनों के संघर्ष करने से ही हो सकता था; राजनीतिक कार्रवाई इसके लिए बेकार थी।

समाजवाद में लड़ाकू परम्परा के जनक 'ग्रेशस' बावेफ (१७६०-९७) थे। उनका आगमन उन लोगों के हितार्थ हुआ, जो १७८९ की क्रान्ति हो जाने के बाद अपने को निर्भ्रम समझते थे। सामन्तवादी जमींदारियों के टूट जाने से खेती करनेवालों को भूमि मिल गयी, किन्तु

शहर के गरीबों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ; बेकारी और भूख उनके लिए अब भी बनी रही। बाबेफ ने क्रान्ति को लड़ाकू परम्परा आगे बढ़ाने और साम्यवाद की स्थापना न हो जाने तक परिवर्तन-चक्र को पूरा करने की बात सोची। 'स्वतन्त्रता' की पुकार में उन्होंने अपनी पुस्तक 'कान्स्पिराशियों दे एगो' के माध्यम से समानता की दृष्टि भी जोड़ी : "समाज का लक्ष्य खुशहाली है और खुशहाली समानता में ही है।" ऊँची उड़ान की दृष्टि सामाजिक आन्दोलन में परिवर्तित हुई, जो निश्चित रूप से असमानता की व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का षड्यन्त्र था। आन्दोलन का लक्ष्य भूमि और उद्योग का स्वामित्व छीन लेना, अर्थनीति को सार्वजनिक वस्तु बना देना, शिक्षा को निःशुल्क और सब लोगों के लिए सुलभ कर देना, आय समान रखना और आर्थिक तथा राजनीतिक, सभी प्रशासनों को लोकतान्त्रिक बनाना था। इन परिवर्तनों का तकाजा था कि वर्तमान समाज को तत्काल उलट दिया जाय और यही इस षड्यन्त्र का लक्ष्य था। षड्यन्त्र विफल हो गया। उसके कर्णधार बाबेफ और डार्थे को फाँसी पर चढ़ा दिया गया, किन्तु इससे 'सामाजिक प्रश्नों' पर जोर देने की एक नयी विधि का प्रादुर्भाव हुआ।

लड़ाकू भावना और क्रान्तिकारी उत्साह को एक नीति का रूप लुई आगस्ट ब्लांकी (१८०५-८१) ने दिया। उनके जीवन के ७६ वर्षों में पूरे ३४ वर्ष जेल में बीते। उनके लिए विद्रोह साधारण राजनीतिक अस्त्र जैसा बन गया था। वे 'थोड़े से लोगों में चेतना' के सर्वोत्तम व्याख्याकार थे। आम जनता में उनका विश्वास नहीं था और वे समझते थे कि बहुत दिनों तक प्रतिक्रियावादी शक्तियों के बन्धन में रहने से लोग स्वतन्त्रता को न समझ सकेंगे, उसके लिए वे बहुत कम लड़ेंगे। थोड़े-से दृढ़निश्चयी लोग ही शक्ति पर अधिकार कर और उसके बाद शिक्षा तथा सामनीति द्वारा बहुमत को मुक्त कर सकते हैं। उनकी प्रिय चाल यदि बलात् सत्तापहरण थी, तो उनका प्रिय अस्त्र था, चुने हुए क्रान्ति-

कारियों की पार्टी। थोड़े-से जागरूक और सुसंगठित लोग केवल सशस्त्र विद्रोह और कुछ समय तक राजनीतिक नियन्त्रण रखकर कम्युनिज्म की स्थापना कर सकते हैं। इस विश्वास का मुख्य आधार यह था कि फोरियर और ओवेन के वाद सामुदायिक निर्माण और रचनात्मक कार्य समाज को नहीं वदल सके, क्योंकि राजनीतिक शक्ति उनके हाथों में नहीं थी और उनकी विरोधी थी। १९ वीं शताब्दी के मध्य तक राजनीतिक शक्ति के प्रति अविश्वास और घृणा कुछ समाजवादियों के मन से हटने लगी। ब्लांकी ने यदि सोचा कि राजनीतिक शक्ति छीनी जा सकती है, तो दूसरे लोगों ने सोचा कि उसे शान्तिपूर्ण तरीके से प्राप्त किया जा सकता है।

ब्रिटेन में १८३८ से १८४८ के वीच जो चार्टिस्ट आन्दोलन हुआ, वह १८३२-३४ के सहकारिता तथा ट्रेड-यूनियन आन्दोलन की विफलता के विरुद्ध होनेवाली प्रतिक्रिया था। लोगों का ध्यान संसद की ओर मुड़ा और उन्होंने सोचा कि व्यापक मताधिकार ओर राजनीतिक सुधारों के द्वारा आर्थिक त्रुटियाँ दूर की जा सकती हैं। ६ सूत्रीय जनवादी घोषणा-पत्र ने पुरुषों के मताधिकार, गुप्त मतदानप्रणाली, संसद की सदस्यता के लिए सम्पत्ति को योग्यता का आधार न रखने, संसद सदस्यों के लिए वेतन, समान निर्वाचन-क्षेत्रों तथा हर वर्ष संसद की वैठक करने की माँग की। सभी माँगें वैधानिक थीं, किन्तु आन्दोलन के पीछे काम करने-वाली भावनाएँ आर्थिक थीं और आन्दोलन को शक्ति मजदूरों की आर्थिक कठिनाई से प्राप्त हुई थी, जैसा कि एक नेता ने घोषणा की थी। चार्टिस्ट आन्दोलन कोई साधारण राजनीतिक आन्दोलन नहीं था, वल्कि छूरी और काँटे का प्रश्न था।

चार्टिस्ट आन्दोलन के नेताओं में विश्वासों के सम्बन्ध में एक-दूसरे से वहुत अन्तर था। लोवेट (१८००–७७) और हेथरिंटन (१७९२–१८४९) वस्तुतः ओवेनवादी थे और सामाजिक व्यवस्था को शान्तिपूर्वक सहकारी व्यवस्था में वदलना चाहते थे। इसके विपरीत जे० व्रेण्टियर ओ'

ब्रियेन (१८०५–६४) ओ'कोनोर (१७९४–१८५५) वावेफ का मत माननेवाले थे। ओ' ब्रियेन ने वोनोरोती (Buonarrotti) लिखित वावेफ की क्रान्ति के वर्णन का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। वे मौलिक सुधारक के बजाय क्रान्तिकारी थे। वे मध्यम वर्ग की राजनीति को हेय समझते थे और उनका ढंग ओवेनवादी न होकर सर्वहारावादी था। चार्टिस्टों का जो गुट शक्तिप्रयोग में विश्वास करता था, वह वस्तुतः और भी भयानक था। उनका मतभेद समाजवाद सम्बन्धी परस्पर विरोधी विचारों से सम्बन्धित था।

विशेषता यह थी कि ओ' ब्रियेन और ओ'कोनोर के बीच इससे भी अधिक और गहरे मतभेद थे। अपने बाद के अर्नेस्ट जोन्स (१८१९-६९) की ही तरह ओ'कोनोर औद्योगिक के बजाय कृषि-व्यवस्था पर आधृत समाजवाद की दृष्टि से सोचते थे। वे खेती करनेवाले के स्वामित्व के समर्थक थे और फोरियर की तरह सघन खेती से बहुत बड़ी आशा रखते थे। वे सामूहिक खेती के विरुद्ध थे और इसका कारण उन्होंने अपनी पुस्तक 'मैनेजमेंट ऑफ स्माल फार्म्स' में बताया था। उनकी भूमि-व्यवस्था में भूमि की सामूहिक खरीद का विधान और जो लोग किश्तों में दाम दे सकें उनके हाथ जमीन के हिस्से बेचने का नियम था। इसी ढंग पर उन्होंने चार्टरविले और ओ'कोनारविले जैसी बस्तियाँ स्थापित कीं। १८४२ से १८४८ तक ओ'कोनोर चार्टिस्ट आन्दोलन के असाधारण नेता थे और उनके नेतृत्व में इस आन्दोलन ने आर्थिक संकट और औद्योगिक मजदूरों की बेकारी का हल खेती करनेवाली बस्तियों के जरिये करने का प्रयास किया।

ओ'ब्रियेन सर्वहारा समाजवादी थे। वे ओ'कोनोर की भूमि-योजनाओं के पूर्णरूप से विरोधी थे और उन्होंने 'सूदखोरों का फन्दा' कहकर उनकी निन्दा की थी। उन्होंने 'श्रम करनेवाले वर्गों' को 'सभ्य देशों के गुलाम निवासी' कहा और उनकी मुक्ति के लिए समाज को उथल-पुथल कर देने की आवाज बुलंद की। १८५० में उन्होंने राष्ट्रीय-

सुधार संघ (नेशनल रिफार्म लीग) का संगठन किया। उसके 'साध्यों' में ओवेन और ओ'कोनोर की अनुयायी बस्तियों के लिए राज्य द्वारा भूमि की खरीद, खानों, मत्स्य-उद्योग और खनिज पदार्थों के क्रमिक राष्ट्रीकरण आदि थे तथा सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था पर जोर दिया गया था। उन्होंने श्रम-केन्द्रों का समर्थन किया और जनोपयोगी उद्योगों के राष्ट्रीकरण की माँग की। यद्यपि यह कुछ बहुत बड़ा कार्यक्रम था और संघ के विरोधी तत्त्वों तथा सुधारवादी पक्षों को साथ रखने के लिए बनाया गया था; तथापि सत्य यह है कि इसने विकासोन्मुख समाजवाद के कार्यक्रमों की रूपरेखा खींची, जिसके लिए राज्य का नियंत्रण जरूरी हो जाता है। व्यक्ति के प्रयासों के फलस्वरूप ध्यानबिन्दु के रूप में एक नये आदर्श 'राजनीतिक शक्ति हमारा साधन, सामाजिक समृद्धि हमारा लक्ष्य' का जन्म हुआ।

नयी प्रवृत्ति, समाजवाद के नये रूप को सबसे अच्छे रूप में लुई ब्लांक (१८११--८२) ने प्रस्तुत किया। वे विकासवादी समाजवाद की आवाज उठानेवाले शुरू के व्यक्ति थे, फिर भी उनकी

विकासवादी और राज्यवादी

इस आवाज में विशुद्धता थी। अपने विचार का केन्द्र-विन्दु उन्होंने राज्य को बनाया, आर्थिक विकास और कल्याणकारी सेवाओं की योजना बनाना राज्य का काम था। राज्य को प्रगति और कल्याण के साधन के रूप में बदल देने के लिए उन्होंने वयस्क मताधिकार की ओर देखा। उन्होंने अपने सुधारों की अन्तिम स्वीकृति के लिए समाज की सर्वोपरि एकस्वार्थता की ओर ध्यान खींचा, जिसके प्रति सभी की निष्ठा होती है। पूरे समाज में विश्वास होने के कारण उन्होंने सभी वर्गों के अच्छे आदमियों का ध्यान इधर आकृष्ट किया। उन्हें विचार की प्रगति में विश्वास था और वे आशा करते थे कि ज्ञान के साथ सुधार निश्चित है। उनका सिद्धान्त था 'निर्बलता से बल प्राप्त होता है, अज्ञान से ज्ञान। व्यक्ति जितना ही अधिक कर सकता है, उतना ही वह अधिक करना चाहता है।'

उन्होंने बुराइयों की जड़ पूँजीवादी स्वामित्व तथा प्रतिस्पर्द्धा के 'भीरुतापूर्ण एवं निर्मम सिद्धान्त' को माना, जिसने 'हरएक आदमी को अपने को बर्बाद करने के लिए स्वतंत्र कर दिया है, ताकि वह फिर दूसरों को बर्बाद कर सके।' इसका उन्मूलन करके ही सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती है। लोकतांत्रिक राज्य का कर्तव्य है कि वह इस जिम्मेदारी को पूरा करे। उनका विश्वास था कि राज्य द्वारा स्थापित और मजदूरों द्वारा संचालित राष्ट्रीय कारखाने शीघ्र परिवर्तन ला देंगे।

सन् १७८९ की क्रान्ति से लोकतन्त्र के जिन विचारों की विजय हुई, सफलता के लिए उनका प्रसार आर्थिक क्षेत्र में भी करना था। नागरिकता तभी सार्थक है, जब स्वाभाविक अधिकारों (नेचुरल राइट्स) के साथ ही मूलभूत सामाजिक अधिकार अर्थात् 'काम का अधिकार' भी हो। राज्य से वे केवल सहायता चाहते थे, जो राष्ट्रीय कारखाने स्थापित करने और उन्हें चलाने के लिए कर्मचारियों के संघों को दे देने के लिए मुख्यतः ऋण के रूप में थीं। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि एक निश्चित निम्नतम वेतन के साथ काम का अधिकार, काम की अच्छी शर्तें और औद्योगिक स्वायत्तता होने से अच्छे कर्मचारी राष्ट्रीय कारखानों में आयेंगे और इस प्रकार धीरे-धीरे पूँजीपतियों की प्रतिस्पर्द्धा-शक्ति को अन्ततः नष्ट कर देंगे। इस आदर्श और सहमति द्वारा क्रान्ति होगी। लोग अधिक श्रम करें, इसके लिए उन्होंने कारखानों पर मजदूरों का स्वामित्व माना। ब्लांक का हमेशा आग्रह था कि राष्ट्रीय कारखाने आधुनिकतम विधि काम में लायें।

बाद में ब्लांक ने अपने विचारों का और विस्तार किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कृषि-व्यवस्था का इन कारखानों के जरिये पुनर्गठन किया जाय। पहले यह कार्य एक खण्ड में हो और फिर उसकी सफलता के साथ-साथ इसका और भी विस्तार हो, जिससे देहाती कारखाने सामूहिक कृषि फार्म और देहाती उद्योग के केन्द्र बन जायँ। शहरी क्षेत्रों में उन्होंने राष्ट्रीय कारखानों को ऐसे सामुदायिक संस्थानों के रूप

में विस्तृत करने की योजना सोची, जहाँ मजदूर एक साथ रह सकें, सामुदायिक सुविधाओं का लाभ उठायें और सामान्य ढंग से जीवन बिताते हुए संस्थानों में सामुदायिक कार्य करें। उनका स्वप्न था कि 'औद्योगिक कार्य को कृषि के साथ परिणय-सूत्र में आबद्ध' कर दिया जाय।

ब्लांक चाहते थे कि राज्य कारखानों के लिए आवश्यक कानून बनाये और उनको जरूरी सुविधाएँ दे। और सब बातें उन्होंने मजदूरों के संयुक्त प्रयास से किये जाने के लिए छोड़ दीं। उन्हें विशेषकर लक्जमबर्ग आयोग (जो स्पष्टतः विभिन्न साधारण प्रश्नों का हल करने के लिए गठित हुआ था) और सामान्य तौर पर क्रान्तिकारी सरकार (१८४८) से जो निराशापूर्ण अनुभव हुआ, उसके बाद उन्होंने अधिक श्रम के सिद्धान्त की पुष्टि और श्रमिकों द्वारा संचालित व्यवस्था को सुलभ करने के लिए सहकारितामूलक प्रयासों का सहारा लिया। इंग्लैण्ड में अपने निर्वासनकाल में वे विकसित हो रहे ट्रेड-यूनियन आन्दोलन और उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों की सहकारी समितियों के बढ़ते हुए आन्दोलनों को आशाभरी दृष्टि से देखते थे। इस आन्दोलन में उन्हें अपने 'सबके लिए काम' के अभियान के साहसी सैनिकों के दर्शन होते थे।

राजनीतिक और आर्थिक विकास जर्मनी में पीछे थे। फ्रांस में विचार की जो रूपरेखा खिंची, उसे ब्रिटेन ने १८४८ तक व्यवहार रूप में उतारा,

जर्मनी का पदार्पण

जर्मनी में इसकी पुनरावृत्ति १८५०-६५ में हुई। इन वर्षों (१८४८-५०) की उथल-पुथल और उफानों से समाजवाद जन-आकांक्षा के नये लक्ष्य के रूप में सामने आया। यह समाजवाद ही था जो भूकम्प के बाद बचा रह गया, आग और तूफान गुजर चुके थे।*

जर्मनी में समाजवाद की वाणी 'सच्चे समाजवादियों' की शिक्षा के रूप में फूटी। 'सच्चे समाजवादियों' के इस समूह की त्रिमूर्ति ब्रूनो बौअर (१८०९-८२), मोसेस हेस (१८१२-७५) और कार्ल ग्रन

* डब्यू० एच० डासन : जर्मन डेमॉक्रेसी एण्ड फर्डीनेण्ड लासेल, पृष्ठ ३३।

(१८१३-८७) थे। उनके समाजवादी विचारों का सामाजिक और आर्थिक यथार्थताओं से कोई सम्बन्ध नहीं था—वे कड़ाही में उबलती हुई किसी चीज के पहले फेन की तरह अपरिपक्व थे।

उन्होंने स्वभावतः अपने समाजवाद को शुद्ध रखने में गौरव समझा। उनका महत्त्व यही है कि उन्होंने समझौता करना नहीं स्वीकार किया। जिन चार तत्त्वों पर उन्होंने समझौता नहीं किया, वे निम्नलिखित हैं—

१. उन्होंने आंशिक सुधारों और इधर-उधर के छोटे-छोटे हेरफेरों का विरोध किया; क्योंकि उनके स्वीकार करने का अर्थ वस्तुतः पहले से चली आ रही औचित्यहीन व्यवस्था को स्वीकार करना था। ऐसी व्यवस्था का उन्मूलन होना चाहिए, इसमें थोड़ा-थोड़ा करके या खण्डों में सुधार नहीं किया जा सकता।

२. 'स्वार्थ' द्वारा प्रोत्साहित कार्यों को वे सन्देह की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि कोई भी सच्चा सुधार व्यक्तियों के आत्म-स्वार्थ या समूह-स्वार्थ को आकृष्ट करके नहीं आ सकता। कोई भी अच्छा कार्य 'स्वार्थ' की लिप्सा से परे होता है, उसका मूल केवल बुद्धि होती है।

३. मानव में सुधार का एकमात्र सच्चा साधन व्यक्तियों का ज्ञान एवं विवेकपूर्ण सद्भावना है। श्रेष्ठ उद्देश्यों के लिए भद्दे तरीके उन्हें नापसन्द थे और उनका उन तरीकों में विश्वास नहीं था, क्योंकि ये साधन स्वभावतः साध्य का सत्यानाश कर देनेवाले हैं। उन्हें नैतिक मूल्यों का एकान्तिक सिद्धान्त स्वीकार था, क्योंकि उन्हें आशंका थी कि शक्ति के बल पर प्राप्त किया गया समाजवाद दमनकारी और अहंवादी अधिकारवाद का रूप ले लेगा।

४. उनकी चौथी मान्यता राजनीति में पड़ने के विरुद्ध थी। उनके मतानुसार समाजवादियों का पहला काम जनता को शिक्षित करना है, समाजवादी यदि राजनीति में पड़ेंगे भी, तो तभी जब सत्ता की चिन्ता करने के लिए समय उपयुक्त होगा। समाजवादी विचार का जब भी किसी देश में जन्म होता है, पैदा होते ही उसकी पहली आवाज शुद्धता

और दोषहीनता होती है। नैतिक आदर्श जब यथार्थ होने की दिशा में अग्रसर होता है, तभी उस पर समझौता हो जाता है और उसमें दोष घुस आते हैं; वह फलता-फूलता है, तो उसे जमीन मिल जाती है। जैसा कि चार्ल्स पेगी (१८७३-१९१४) ने अपनी पुस्तक 'कैहियर्स' में लिखा है : अपार्थिव सिद्धान्तों को राजनीतिक रूप देना औद्योगिक समाज का साधारण नियम हो गया है।

सन् १८४८ में राजनीतिक अधिकार से वंचित और अपने क्रान्तिकारी प्रयास में विफल होकर जर्मनी के रेडिकलों ने अपना ध्यान सहकारिता आन्दोलन की ओर मोड़ा और 'राज्य की सहायता' के बजाय 'आत्म-सहायता' के सिद्धान्त का प्रचार शुरू किया। इस आन्दोलन के नेता शुल्ज-देलित्श (१८०८-८३) थे, जिनके नेतृत्व में दो लाख सदस्य बनाये गये और लगभग एक करोड़ पौण्ड का व्यापार हुआ।

श्रमजीवियों के आन्दोलन और विचार को एक नया मोड़ १८६२ में फर्डिनेण्ड लासेल (१८२५-६४) ने दिया। कारखाना प्रणाली के विस्तार ने मजदूरों को शक्ति की दृष्टि से राज्य की सबसे बलशाली शक्ति बना दिया। लासेल पूर्ण लोकतंत्र की प्रतिष्ठा करके मजदूरों को वैधानिक दृष्टि से भी सर्वाधिक शक्तिशाली बना देना चाहते थे। वे समझते थे कि ऐसा होने पर सर्वहारा सत्ता के मार्ग पर आ जायगा, जिसके छोर पर मानव-जाति की अन्तिम रूप से मुक्ति विद्यमान है। लासेल में प्रारम्भ के समाज-वादियों की तरह राज्य के प्रति उपेक्षा और शत्रुता की भावना नहीं थी। इसके विपरीत उन्होंने कल्पना की कि राज्य का सच्चा कार्य 'स्वतंत्रता की दिशा में बढ़ने में मानव-जाति की सहायता करना' है। सहकारिता का जहाँ तक वितरण के व्यवसाय में प्रयोग से सम्बन्ध था, श्रमजीवियों के लिए उसका नाममात्र को महत्त्व था, क्योंकि 'सभी व्यक्ति जिस प्रकार कवचधारी सैनिक के सामने समान हैं, उसी प्रकार बिक्री करनेवाले के सामने समान हैं—बशर्ते कि वे मूल्य अदा कर सकें।' श्रमजीवियों के पीड़ित होने का कारण यह है कि उत्पादक के

रूप में उनकी आत्म-सहायता सफल नहीं हो सकती। लासेल चाहते थे कि मजदूर जो उत्पादन करें उसपर उन्हींका स्वामित्व हो, ताकि वे अपने श्रम के पूरे मूल्य का उपयोग कर सकें। इसके लिए राज्य से ऋण मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए। 'गरीबों के बैंकर के रूप में' राज्य का लासेल के सिद्धान्त में एक प्रमुख स्थान हो गया।

श्रमजीवी अपने श्रम का पूरा मूल्य पा सकें इसके लिए उन्हें अपनी उत्पादन समितियाँ बनानी चाहिए। वे ऐसा तभी कर सकते हैं, जब राज्य उन्हें इसके लिए आवश्यक ऋण सुलभ करे। राज्य ऐसा तभी कर सकता है, जब उस पर मजदूरों का नियंत्रण और प्रभाव हो। इस दृष्टि से 'मजदूर वर्ग को अपने को स्वतंत्र राजनीतिक दल के रूप में गठित करना चाहिए और व्यापक, समान तथा प्रत्यक्ष मताधिकार को अपना सिद्धान्त बनाना चाहिए।' लासेल ने अपने अल्प और क्रान्तिकारी जीवन के अन्तिम वर्ष इस प्रकार की पार्टी के निर्माण में लगाये। इस पार्टी और इससे संलग्न मजदूर-आन्दोलन का तात्कालिक लक्ष्य व्यापक मताधिकार का प्रचलन था। 'इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापक मताधिकार हमारी सामाजिक माँगों से उसी प्रकार सम्बन्धित है, जिस प्रकार कुल्हाड़ी से बेंट।'

ब्रिटेन के चार्टिस्टों ने पुरुषों के मताधिकार तथा अन्य राजनीतिक माँगों को आर्थिक असन्तोष के अस्त्र के रूप में रखा था। २० वर्ष बाद लासेल ने इसी प्रकार की राजनीतिक माँगें या सामाजिक माँग रूपी 'कुल्हाड़ी' का 'बेंट' सामने रखा। सामाजिक प्रश्न को राजनीतिक रूप देने का क्रम ऐसा है, जिसे समाजवादी आन्दोलन एक के बाद एक देश में अपना रहा है।

वितरणवादी

अपने पूर्ववर्ती लुई ब्लांक की तरह लासेल ने न केवल राज्य की ओर अपना ध्यान मोड़ा, अपितु श्रमजीवी-वर्ग से भी अपील की कि वह सामाजिक परिवर्तन करे। यह अपील एक वर्ग से थी, किन्तु लोकतांत्रिक सीमा के भीतर थी।

लेकिन समाज में प्रधानता रखनेवाले वर्ग अर्थात् खेतिहर का क्या हाल था ? एशिया में सामन्तवाद का बोलबाला होने के कारण खेतिहर एक शक्ति का रूप नहीं ले सके। किन्तु फ्रांस में, जहाँ क्रान्ति ने सामन्तवादी सम्बन्धों को तहस-नहस कर दिया था, किसानों की अपनी 'स्वयं की इच्छा' का विकास हुआ। लुई ब्लांक तथा दूसरे फ्रान्सीसी समाजवादी पेरिस और उसके आसपास दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण करते रहे। १८६४ में लासेल का विजय-मार्च और (श्रमजीवी वर्ग की) 'सेना का शानदार निरीक्षण' कोलेन जैसे औद्योगिक नगरों तक ही सीमित रहा। इन नगरों के बाहर देहात थे, जहाँ खेतिहर अपना परम्परागत जीवन बिताते और वही पुराने स्वप्न देखते चले आ रहे थे। उन्हींके समाज के प्रूधों (Proudhon) उनके मार्गदर्शक बने और उनकी दबी हुई भावनाओं तथा आशाओं को प्रकट किया।

मार्क्स ने सिसमोंडी और प्रूधों को 'पेटी बुर्जुवा' समाजवादी कहा है। यह सत्य हो सकता है कि उनकी शिक्षा में 'दर्शन की कमी' है, किन्तु इस बात को गलत नहीं कहा जा सकता कि उनका दर्शन किसान का दर्शन था।

सिसमोण्डे द सिसमोण्डी (१७७३-१८४२) केवल अर्थशास्त्री ही नहीं थे, उनके पास विश्वकोश जैसा ज्ञान था। उन्होंने अर्थशास्त्र के इस पूर्व-पक्ष पर सन्देह प्रकट किया कि यथासम्भव अधिक-से-अधिक उत्पादन और जनता की यथासम्भव अधिक-से-अधिक खुशहाली एक ही स्थिति है। उत्पादन के तरीके और वितरण के ढंग का खुशहाली से उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि उत्पादन का सारे परिमाण से। वे सभी प्रकार के एकाधिकार के विरुद्ध थे, जिसमें भूमि के स्वामित्व का एकाधिकार भी है। इसी तरह उन्होंने बन्धनमुक्त पूँजीवाद का भी विरोध किया और उसे व्यापक बेकारी तथा दयनीय स्थिति का कारण माना। निश्चित वेतन और सामाजिक सुरक्षा के लिए उन्होंने श्रमजीवियों के पक्ष में राज्य के हस्तक्षेप पर जोर दिया।

जो मूलभूत सुधार वे चाहते थे, वे यह थे कि उत्पादन के साधनों में सम्पत्ति का स्वामित्व उन साधनों का वास्तविक उपयोग करनेवालों में व्यापक रूप से बाँट दिया जाय। यह आदर्श उन्हें छोटे किसान से मिला जो अपनी भूमि का मालिक होता है, उसमें बन्धनमुक्त होकर खेती करता है और इस प्रकार स्वतंत्र और सुरक्षित है। नगरों के लिए भी उन्होंने ऐसी ही स्थिति चाही। वे चाहते थे कि नगर के लोग पास की पारिवारिक खेती-बाड़ी में सहायता करें। यदि यह सन्तुलन बिगड़ा, तो आवश्यकता से अधिक उत्पादन का संकट उपस्थित हो जायगा। सिसमोण्डी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने पूँजीवाद में निहित जरूरत से कम उपभोग की बात कही। उनकी दृष्टि से समस्या का हल यह था कि राज्य छोटे उत्पादकों के हित में आर्थिक नियमन करे। श्रमजीवी अपना पूरा अंश तभी पा सकता है, जब अर्थ-व्यवस्था का आधार कृषि पर स्वामित्व का अधिकार पाये हुए खेतिहर हों। उनकी दृष्टि की उपयोगिता उनके देश स्विटजरलैण्ड के सामाजिक और आर्थिक विकास से समझी जा सकती है।

राबर्ट द लेमनेस (१७८२-१८५४) व्यापक मताधिकार में विश्वास रखते थे; क्योंकि व्यापक मताधिकार होने पर ही उत्पादन करनेवाले अपनी निर्बाध प्रगति के लिए उपयुक्त स्थिति तैयार कर सकते हैं। वे सम्पत्ति के बँटवारे और राज्य द्वारा ऋण दिये जाने के पक्ष में थे। इसके बाद प्रगति के लिए उनकी दृष्टि सहकारी समितियां, ट्रेड-यूनियनों जैसे 'संघों' पर थी। उनके मत से सम्पत्ति का राज्य के अन्तर्गत केन्द्रित होना उतना ही बुरा होगा, जितना थोड़े-से लोगों के हाथों में केन्द्रित होना। सर्वहारा को निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करके नहीं, बल्कि सबके लिए सम्पत्ति की व्यवस्था करके ही मुक्त किया जा सकता है। कोई भी दूसरी व्यवस्था, यहाँ तक कि राज्य समाजवाद भी स्वतंत्रता और भ्रातृत्व न ला सकेगा, बल्कि 'फिर से जातियों की प्रतिष्ठा' करेगा—गुलामों के ऊपर एक शासक जाति होगी। लेमनेस के स्पष्ट शब्दों में समाज के लिए

सबसे बड़ा खतरा केन्द्र में रक्ताधिक्य और किनारे में रक्ताल्पता है।

पियरे जोसेफ प्रूधों (१८०९-६५) व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धान्त के पक्के समर्थक थे। समाजवाद का मापदण्ड वे न्याय को मानते थे। स्वतन्त्रता और न्याय का समाधान करने के लिए उन्होंने 'सीमित स्वतंत्रता' के बजाय 'पारस्परिक स्वतंत्रता' की बात सोची; क्योंकि उनके शब्दों में 'स्वतन्त्रता व्यवस्था की पुत्री नहीं, बल्कि माँ' है। उन्होंने अनुभव किया कि शोषण केवल पूँजी और स्वामित्व कुछ व्यक्तियों के हाथ में जमा होने में ही नहीं, बल्कि उत्पादन की पूँजीवादी प्रक्रिया में निहित श्रम-विभाजन में है। प्रूधों का विचार था कि भारी पैमाने पर उत्पादन में—विकसित औद्योगीकरण में—स्वतन्त्रता के लिए खतरा है। इसी प्रकार बन्धनमुक्त और एकसूत्रतावाले संघों को छोड़कर शेष सभी संघों से उनकी किनाराकशी थी, क्योंकि इन सब में एक छोर पर सारी शक्ति ले लेने की ऐसी प्रबल प्रवृत्ति होती है कि व्यक्ति इन संघों में खो जाता है। यही कारण है कि उन्होंने सीमित दायित्व की कम्पनी—प्रच्छन्न रूप में समाज—को ही अस्वीकार नहीं किया, बल्कि ट्रेड-यूनियनों, निगमों जैसे दूसरे संघों को भी नापसन्द किया। जीवन की ही तरह श्रमिक की स्वाभाविक इकाई, उनकी दृष्टि में, परिवार है।

प्रूधों के विचार से व्यापक मताधिकार समाज को शक्ति प्रदान करने के लिए था। लोकतन्त्र वहाँ सार्थक है, जहाँ उसका निर्माण स्थानिकता या संघवाद जैसे 'संगठनात्मक सिद्धान्तों' के आधार पर होता है।

एक दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी प्रूधों के विचार इतने ही जोरदार थे। उन्होंने कहा : "इस समय हम जो चाहते हैं वह यह श्रम-संगठन (अर्थात् लुई ब्लांक की कल्पना के राजकीय कारखाने) नहीं है। श्रमिकों का संगठन वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उपयुक्त साधन है। जो कठिन श्रम करता है, वह अधिक पाता है। इस मामले में राज्य को श्रमजीवी से इससे अधिक कुछ नहीं कहना है। हम जो चाहते हैं, मैं सभी श्रमजीवियों के

होने से उत्पादन बढ़ सकता है, लेकिन सामाजिक हित नहीं हो सकता। पुराने बन्धनों के स्थान पर साहचर्य के नये रूपों, न्यायपूर्ण और उचित सामाजिक सम्बन्धों की प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता थी। सामन्तवाद के स्थान पर पूँजीवाद नहीं, बल्कि सहयोगात्मक जीवन का कोई रूप चाहिए था। पूँजीवाद ने जो उलट-फेर किया था, वह समाजवाद की ओर ले जानेवाला नहीं, वल्कि व्यक्ति को अकेला कर देने और राज्य को सर्वशक्तिमान् बना देनेवाला था। पूँजीवाद को पीछे ढकेलकर और स्वतन्त्र व्यक्ति को साहचर्यमूलक समाज में संग्रथित करके ही समाजवाद की ओर बढ़ा जा सकता था। विपरीतता बराबर स्पष्ट और तीव्र नहीं थी, किन्तु दोनों विचारों का अलग-अलग दिशा में बढ़ना स्पष्ट था। दो धाराओं में आज भी समाजवाद का यह विभाजन बना हुआ है और इसे समझ न पाने से और भी भ्रान्ति होती है। परिवर्तन के प्रारम्भिक चरण में, परम्परा से चले आ रहे सामन्तवादी जीवन में परिवर्तन के प्रथम वेग में, अन्तर स्वभावतः अधिक तीखा रूप ग्रहण करता है। यहां पर आज के एशिया की उलझन की अनुरूपता है।

ओवेन, फोरियर और प्रूधों का आदर्श निर्बाध साहचर्य था, जिसमें मानव के व्यक्तित्व के विकास की पूरी सम्भावना हो। वे 'व्यक्ति प्रधा-नतावाद' की धारा प्रवाहित करनेवाले थे। स्वायत्तता, स्थानिकता, संघीयता ये शुरू के समाजवादियों की खास विशेषताएँ थीं। इसके अलावा दूसरे समाजवादी पथ-दर्शक भी थे जो पद्धति-निर्माता थे, जिनके उतोपिया 'बन्द समाज' की चीज थे। वाब्रेफ और एंटाइन कैबेट की दृष्टि राजनीतिक व्यवहार की दृष्टि से इतनी भिन्न थी, फिर भी चरि-तार्थता के तरीके आश्चर्यजनक रूप से समान थे। अर्थव्यवस्था, शिक्षा, परिधान, जीवन के सभी पक्षों और सारी गतिविधि को नियोजित करना था। बाब्रेफ ने यदि तानाशाही के लिए काम किया, तो कैबेट में उसके लिए उत्कण्ठा थी। उनकी कल्पना के राज्य में समाचारपत्र या जनमत के दूसरे साधन का कोई स्थान नहीं था; क्योंकि सामूहिक रूप से सिद्धान्त

की शिक्षा को जनमत तैयार करने के लोकतान्त्रिक तरीकों से बेहतर विकल्प समझा गया था।

सेण्ट साइमन को किसी उतोपिया की सूक्ष्मता से कोई मतलब नहीं था, किन्तु उनकी शिक्षाओं में वेग था और विज्ञान की, १९ वीं शताब्दी के भौतिक विज्ञान की, निष्ठुरता थी। उनकी कल्पना ऐसी थी, जिसकी समूह के साथ चरितार्थता हो सकती थी। इस प्रकार व्यक्ति या तो कैबेट की कल्पना जैसे समाज में बन्दी हो जाता या 'कठोर मार्ग से' सामाजिक न्याय की ओर ले जाये जाने के लिए एक समूह में शामिल होता। शुरू के समाजवादियों के दोनों समूह अर्थात् फोरियरवादी और सेण्ट साइमनवादी राजनीति और राजनीतिज्ञों से यदि घृणा नहीं करते थे, तो कम-से-कम उनके प्रति उदासीन अवश्य थे। फोरियर के अनुयायी स्थानीय समुदायों, स्वायत्तता और उदार संघवाद पर जोर देकर प्रत्यक्ष लोकतन्त्र चाहते थे, जिसमें राजनीति के 'दलालों' और उसी प्रकार के दूसरे लोगों से मुक्ति मिल सके। सेण्ट साइमनवादी, कैबेट के अनुयायी आदि लोकतन्त्र के गड़बड़झाले से कोई सहानुभूति नहीं रखते थे, वे प्रशिक्षितों, शिल्पियों और श्रमजीवियों का शासन चाहते थे। भिन्न-भिन्न कारणों से समाजवादी पथ-दर्शक राजनीति के विरुद्ध थे।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर सामाजिक परिवर्तन के प्रति नीति के सम्बन्ध में था। कुछ लोग ऐसा समझते थे कि यह परिवर्तन अदृश्य रूप से आ रहा है जिस प्रकार डाल में फूल आते हैं। वे मानते थे कि बस्ती, सहकारी समिति, ट्रेड-यूनियन जैसे सामुदायिक निर्माण के प्रयास से यह परिवर्तन वैसे ही बढ़ रहा है, जिस प्रकार धुआँ धीरे-धीरे दीपक का रूप बदल देता है। ओवेन ने कहा था कि सामाजिक क्रान्ति 'समाज में उसी प्रकार आयेगी, जिस प्रकार रात में चोर आता है।' अन्य लोगों ने परिवर्तन के मार्ग को अवरुद्ध करनेवाली बाधाओं में परिवर्तन का बीज देखा। इस अन्तर ने पहले के अन्तरों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक काट दिया। उदाहरणार्थ कैबेट ने कहा था : "यदि क्रान्ति मेरी मुट्ठी में हो, तो मैं

अपनी मुट्ठी को बन्द रखूँगा, भले ही इसका फल यही हो कि मैं उड़ जाऊँ।" ये सभी मतभेद इस मतभेद के आगे समाप्त हो गये कि "राज्य से छुटकारा लिया जाय।"

मार्क्स ने फ्यूअरबाच के सम्बन्ध में अपने एक निबन्ध में कहा था : "यह भौतिकतावादी सिद्धान्त कि व्यक्ति परिस्थितियों और जिस वातावरण में पल-पोसकर बड़ा हुआ है उसकी कृति है, और तदनुसार परिवर्तित व्यक्ति परिवर्तित परिस्थितियों और वातावरण की कृति है, यह बात भूल जाता है कि व्यक्ति परिस्थितियों को बदलता है। शिक्षा देनेवाले को स्वयं शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।" इस भौतिकवादी गलती के लिए बहुत थोड़े-से समाजवादी दोषी थे। ढीठ और विज्ञान के नशे में चुत सेण्ट साइमन ने भी साथ-साथ ही अपने नये समाज और नव क्रिश्चियनवाद का स्वप्न देखा था और कहा था कि "धर्म को समाज के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में, जिसका अर्थ गरीबों की स्थिति में तीव्र गति से सुधार करना है, सहायक होना पड़ेगा।" समाजवादियों ने, जब उन्हें मुख्यतः नये सामाजिक वातावरण की चिन्ता थी, शिक्षा की समस्या की उपेक्षा नहीं की। शिक्षा सम्बन्धी नीति में हरएक अपने विचार के अनुसार एक-दूसरे से भिन्न था। ओवेन की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य मानव स्वभाव में गम्भीरतापूर्वक सुधार करना है। फोरियर का विश्वास बच्चों और उसी तरह वयस्कों के पथप्रदर्शन तथा जिसमें समाज का हित हो, उसे स्वेच्छानुसार करने में था। उनके शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों में उनके स्वतंत्रतावादी विचारों का प्रभाव था। कृषि और दस्तकारी को आधार माननेवाले फोरियर ने अपने काम की शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण को बहुत आवश्यक माना, जब कि सूती वस्त्रोद्योग के वातावरण में पले हुए ओवेन की व्यावसायिक प्रशिक्षण में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

स्वभावतः सभी समाजवादी सामाजिक एकस्वार्थता में विश्वास करते थे। प्रारम्भ के अधिकांश समाजवादी मानव एकता पर जोर देनेवाले थे। वे 'न्यायपरायण संघ' के प्रवेश द्वार पर यही लिखवाते कि

'सभी व्यक्ति भाई-भाई' हैं। वे जो नया वातावरण अर्थात् सुधरी हुई समाज-व्यवस्था चाहते थे, उसका उद्देश्य व्यक्ति में छिपी हुई, किन्तु अक्षय सामाजिकता को सामने लाना तथा प्रोत्साहित करना था। उद्योग की प्रगति के साथ-साथ कम-से-कम पेरिस और लन्दन जैसे स्थानों में सर्वहारा की संख्या और शक्ति बढ़ी और कुछ समाजवादी सभी व्यक्तियों के बजाय श्रमजीवियों से अपील करने लगे। उन्होंने मानव एकता से ऊपर वर्गीय एकता पर जोर दिया। वर्ग-संघर्ष के पैगम्बर कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) थे, जिन्होंने अपने प्रसिद्ध घोषणापत्र (१८४८) रूपी संगीत की समाप्ति प्रतिध्वनियुक्त शब्द 'विश्व के मजदूरो, एक हो' में की। मजदूरों का उनके मानव के रूप में नहीं, मजदूर रूप में आह्वान किया था।

इस परिवर्तन के दो भाव होते हैं, जिन पर और भी विचार करने की जरूरत है। एक है व्यावहारिक और दूसरा सैद्धान्तिक, फिर भी काफी महत्त्वपूर्ण।

श्रमजीवियों में जैसे ही उनकी वर्ग-शक्ति की, आर्थिक दृष्टि से समाज में महत्त्वपूर्ण स्थिति की चेतना फूँकी गयी, वे आम हड़ताल की दृष्टि से विचार करने लगे। १८३४ में ही एक ट्रेड-यूनियन गजट ने लिखा था : "कोई सशस्त्र विद्रोह न होगा, यह केवल शान्तिपूर्ण प्रतिरोध होगा। लोग आराम से पड़े रहेंगे। न कोई ऐसा कानून है और न हो सकता है, जो लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करने के लिए बाध्य करे। वे सड़कों पर और मैदानों में हाथ-पर-हाथ धरे घूम सकते हैं, वे अपने साथ तलवार न रखेंगे, बन्दूक लेकर न चलेंगे, दंगा कानून के अन्तर्गत तितर-बितर किये जाने के लिए वे झुण्ड-के-झुण्ड बनाकर जमा न होंगे। जब उनके पास पर्याप्त पैसा हो जायगा, तो वे एक सप्ताह या एक मास के लिए काम पर न जायेंगे। तब फल क्या होगा? धनिकों के विरुद्ध निर्धनों के काम न करने के इस षड्यन्त्र के फलस्वरूप हुण्डियाँ अस्वीकार हो जायँगी, अखबारों में दिवाले की खबरें छपेंगी, पूँजी बर्बाद हो जायगी,

राजस्व-व्यवस्था विफल हो जायगी, सरकार की व्यवस्था गड़बड़ा जायगी और समाज को बाँधनेवाली शृंखला की हर कड़ी टूट जायगी।"

व्यावहारिक प्रभाव शान्तिपूर्ण असहयोग से लेकर ऐसे हिंसात्मक विरोध तक था, जो औद्योगिक सभ्यता की जटिलताओं में वृद्धि से उत्तरोत्तर अधिक विनाशकारी रूप ले सकता है। समाजवाद, संघवाद या स्वायत्तता की बात सोचनेवाले फोरियर या प्रूधों के सामने इन सम्भावनाओं पर विचार करने का कोई अवसर नहीं आया। कृषि-प्रधान और उद्योग-प्रधान समाजों के बीच की बात सोचनेवाले ओवेन की दृष्टि में शिक्षा तथा सामुदायिक निर्माण की ओर उसी तरह विभिन्न प्रकार के वर्ग-संघर्षों की सम्भावना थी। उद्योग के विकास और सेण्ट साइमनवादी दृष्टिकोण के विकास से वर्ग-संघर्ष (जैसी कि मार्क्स की भी दृष्टि थी) केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि दिशा का संकेत हो गया।

सैद्धान्तिक प्रभाव और भी दूरगामी हैं। व्यक्ति को प्रधानता देना बदल चुका था। प्रोफेसर कोल के शब्दों में : "महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक श्रेणी व्यक्ति नहीं, बल्कि वर्ग बन गया।" एक वर्ग के अनुभव के अंश के आगे व्यक्तियों के मत के अंश की कोई गणना नहीं थी। एक श्रेणी या कोटि के रूप में वर्ग ने अस्थिर स्थिति में पड़े हुए अगणित व्यक्तियों को उठाया और अन्ततः अपनाया। व्यक्ति की निश्चय-शक्ति या प्रतिरोध-शक्ति, व्यक्तिगत श्रेष्ठता और दोष पर आधृत जो दर्शन था, वह इतिहास के आधार पर श्रेष्ठता और दोष अर्थात् इतिहास की गति और प्रक्रिया के दर्शन के सामने फीका पड़ गया। अनुभव और घटनाओं की एक शताब्दी ने प्रभावों को स्पष्ट नहीं किया था। कठोर उतोपिया (जैसे कैबेट का आइकेरिया) में भी व्यापार-रत लोकतन्त्र है, किन्तु वर्ग में जकड़े हुए संसार में वैयक्तिकता का एक स्वर भी नहीं निकल सकता।

समाजवाद के अग्रगामियों ने व्यक्ति को, सामाजिक समुदायों के अलावा, राष्ट्र या वर्ग की तरह समझा। अपने शक्तिशाली बुद्धिवाद के कारण वे विश्वास करते थे कि वह दिन दूर नहीं है, जब सारी मानव

जाति हमारा विचार स्वीकार करेगी और उसके द्वारा अपने को नया रूप देगी।

बाद में समाजवाद की मुख्य शक्ति के रूप में सर्वहारा का उदय होने से वर्गगत एकता ने अन्य समूहगत भक्तियों को दबा दिया। राष्ट्रवाद का समाजवाद के प्रायः साथ-साथ ही जन्म और विकास हुआ और उसने अभिव्यक्ति की उतनी ही उर्वरता दिखायी। बिस्मार्क (१८१५-१८९८) का राष्ट्रवाद मैजिनी (१८०५-१८७२) के राष्ट्रवाद से उतना ही भिन्न है जितना सेण्ट साइमन या बाबेफ का समाजवाद फोरियर या प्रूधों के समाजवाद से भिन्न है।

विभिन्न समूहगत भक्तियों को समझने के प्रति उदासीनता और उनमें लाभप्रद सामंजस्य स्थापित करने की उपेक्षा का दोहरा फल हुआ। ऐसी लापरवाही प्रतिशोध की आदी हो जाती है।

वर्गगत एकता को छोड़कर अन्य समुदायगत भावनाओं की चिन्ता न करके समाजवाद ने अपने विरुद्ध उतावले राष्ट्रवाद को उभाड़ा। अन्य आवेगों की ही तरह इन दोनों आवेगों में तभी सामंजस्य हो सकता है, जब दोनों अनन्यता की जिद छोड़ दें (अर्थात् यह भावना त्याग दें कि केवल हम ही सम्पूर्ण हैं)। समाजवाद और राष्ट्रवाद के बीच सही सम्बन्ध की समस्या बहुत हद तक अनिर्णीत ही पड़ी हुई है। यदि एशिया को उस विपत्ति से बचाना है, जिसने यूरोप को तहस-नहस कर दिया, तो इस स्थिति को ठीक करना पड़ेगा।

उतावला राष्ट्रवाद अपने उद्देश्य के लिए समाजवाद को अपने पंजे में जकड़ और वशीभूत कर सकता है। जहाँ तक समाजवाद का अर्थ केन्द्रीकरण की क्रमोन्नति, सरकार के अधिकारों में वृद्धि, कार्य सम्पादन की प्रेरणा और दूसरे समूहों की स्वायत्तता में कटौती है, उसका उतावले राष्ट्रवाद का शिकार बन जाना निश्चित है। सूक्ष्मदर्शी हरबर्ट स्पेन्सर ने कहा था : "राजकुमार बिस्मार्क राज्य-समाजवाद की प्रवृत्ति प्रदर्शित कर

सकते हैं।" इसी तरह उतावला समाजवाद राष्ट्रवाद का अपने हित के लिए उपयोग कर सकता है, जैसा कि रूस में हो रहा है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि समाजवादी विचारों के विस्तार ने उत्पादन की समस्याओं को विस्मृत कर दिया। जार्ज बर्नर्ड शॉ (१८५६-१९५०) ने 'बुद्धिमान स्त्री' को अपनी 'गाइड' की शुरू की पंक्तियों में जो उपदेश दिया, उससे किसीको आश्चर्य नहीं हुआ। उनकी पुस्तक के शब्द हैं :

"श्रीमतीजी, आपको समाजवाद सम्बन्धी अनेक पुस्तकों का नाम बतलाना आसान है, लेकिन मेरी आपको पक्की सलाह है कि आप और आपके मित्र जब तक इस बात पर विचार न कर लें कि किसी प्रतिष्ठित सभ्य देश में सम्पत्ति का कैसे बँटवारा हो और अपनी समझ के अनुसार सर्वोत्तम निर्णय न कर लें, तब तक उन पुस्तकों की एक पंक्ति भी न पढ़ें; क्योंकि समाजवाद इस प्रश्न पर कुछ व्यक्तियों के दृष्टिकोण के अलावा और कुछ नहीं है।"*

उद्योग की प्रगति से ऐसा समझा गया कि उत्पादन की समस्याएँ हल हो गयीं! जो भी कठिनाइयाँ हैं, उनका वितरण-क्षेत्र से सम्बन्ध है और वहीं उन्हें दूर किया जा सकता है। यहाँ शॉ फिर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

"याद रखिये, मैं नहीं कहता कि ये सुविधाएँ इस समय मिल ही जाती हैं। हममें से अधिकतर सस्ती और खराब चीजों का उपयोग कर रहे हैं और सस्ता एवं खराब जीवन व्यतीत कर रहे हैं, किन्तु यह मशीनों और बड़े कारखानों की गलती नहीं है और न उनके निर्माण में ही लगायी गयी अतिरिक्त पूँजी का दुरुपयोग है। यह उत्पादन

* जार्ज बर्नर्ड शॉ : दि इण्टेलीजेण्ट वूमेन्स गाइड टु सोशलिज्म एण्ड कैपिटलिज्म, पृष्ठ १।

के असमान वितरण तथा श्रम कम करके प्राप्त किये गये आराम का फल है।"†

औद्योगिक सभ्यता का अधकचरापन और त्रुटियाँ उद्योगों की ओर प्रगति तथा वितरण का समीकरण (रेशनलाइजेशन) करके ही दूर की जा सकती हैं। १९ वीं शताब्दी तक यूरोप में मशीन का विरोध और मशीन-निर्माण का आतंक उतोपिया में ही सीमित रह गया। इस तरह के उतोपिया का उदाहरण सैमुअल बटलर का 'एरह्वोन' है, जिसमें मशीन रखने पर भी दण्ड दिया जाता है। 'आइकेरिया' से लेकर 'एरह्वोन' तक पूरा परिवर्तन युग फैला हुआ था, जिसके घनिष्ठतम पैगम्बर सेण्ट साइमन थे।

कई हिस्सों का भवन

हमने समाजवादी विचार के उस प्रारम्भिक इतिहास की समीक्षा की है, जिसमें समाजवाद एक प्रणाली नहीं बना था, जब सामाजिक और आर्थिक विकास के रूप में विभिन्न सम्भावनाएँ साथ-साथ सुलभ होने से विचार विभिन्न मार्गों, विभिन्न दृष्टिकोणों के रूप में फैल रहा था। विकास के पहले क्रम में समाजवादी विचार बहुत कम बढ़े। अपनी इस समीक्षा में यह मत हमने बर्गसां के इन पाण्डित्यपूर्ण शब्दों के प्रकाश में स्थिर किया है: "मैं समझता हूँ कि दर्शन में खण्डन करने में जो समय लगाया गया है, वह बेकार गया है। अनेक विचारकों द्वारा एक-दूसरे की की गयी आलोचना में आज क्या बचा है? कुछ भी नहीं या बहुत ही थोड़ा। जिसका महत्त्व है और जो टिकता है, वही वास्तविक सत्य का छोटा-सा अंश है, जिसमें हरएक का योगदान है। सत्य कथन स्वयं भ्रांतिपूर्ण विचार को दूर करने की शक्ति रखता है और बिना किसीका खण्डन किये हुए सर्वोत्तम खण्डन करनेवाला बन जाता है।"

विभिन्न समाजवादी विचार और सिद्धान्त भिन्न-भिन्न परिस्थितियों

---

† वही पृष्ठ १३९-४०।

में सत्य और उपयुक्त हैं। विचारों का एक प्रकार से स्थितियों से सम्बन्ध है और उनमें विचारक के स्वभाव और चरित्र की भी छाया रहती है। जिस प्रकार विभिन्न रेखांशों के प्रकाश में आने पर उसीके अनुसार प्रातः, दोपहर तथा सूर्यास्त होता है, उसी प्रकार आर्थिक विकास के विभिन्न चरणों से गुजर रहे भिन्न-भिन्न देशों के लिए भिन्न-भिन्न समाजवादी विचार उपयुक्त बन जाते हैं। शुरू के समाजवादी विचार के अभिलेख में आर्थिक विकास और औद्योगीकरण में प्रायः एक शताब्दी पिछड़े हुए एशियाई देशों के हित की बहुत-सी बातें और सुपरिचित विचार हैं। सतर्कतापूर्वक हो या जल्दबाजी में, हरएक देश को, हरएक विकासोन्मुख समुदाय को समाजवाद को आगे बढ़ाना पड़ेगा।

पश्चिमी देशों में शुरू के समाजवादियों ने जो रास्ते ढूँढ़े, बाद के विस्तार से वे रास्ते बन्द हो गये। फोरियर जैसों की दूरदर्शिता या प्रूधों जैसों की सूक्ष्म दृष्टि की, तेजी से औद्योगीकरण के आगे कोई उपयुक्तता नहीं रह गयी। आर्थिक विकास की दिशा में अग्रसर एशियाई देशों के लिए औद्योगीकरण की अनेक आशाएँ और विश्वास अनुभव की वस्तु बन चुके हैं, वे नशे में बुत करनेवाले ऐसे स्वप्न नहीं रह गये हैं, जिन्होंने सेण्ट साइमन जैसों को प्रेरणा दी, बल्कि ऐसी ठोस वास्तविकता बन चुके हैं, जिसके विभिन्न विधि तथा निषेध-पक्षों पर विचार किया जा सकता है। एक शताब्दी के अनुभव से लाभान्वित एशियाई समाजवादियों को नये और अधिक महत्त्वपूर्ण निर्णय करने का अवसर है। जिन्हें पश्चिम ने उन्माद की अवस्था में छोड़ दिया, ऐसे बहुत-से मार्गों पर चलकर अनुसन्धान किया जा सकता है, बहुत-से गलत मोड़ों से बचा जा सकता है।

शुरू के समाजवादियों के कुछ विचारों में बहुत बड़ी शक्ति है, वे बराबर नये-नये रूपों में फिरसे उपस्थित हो जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शिल्प संघीय समाजवाद के रूप में प्रकट, बाद में औद्योगिक लोकतंत्र के रूप में उपस्थित और आज के हमारे युग में यूगोस्लाव

कम्युनिज्म के रूप में प्रस्तुत फोरियर का 'उद्योग में स्वायत्तता' का स्वप्न इसका एक उदाहरण है।

एशियाई समाजवादियों को शुरू के समाजवादियों के कुछ विचारों को उनके नवीन और बिलकुल असली रूप में ग्रहण करने का अवसर प्राप्त है। यह केवल अवसर ही नहीं, ऐतिहासिक जिम्मेदारी है। एशिया का समाजवाद पश्चिम के समाजवाद की हूबहू नकल नहीं हो सकता। इसे पुराने रचनात्मक विचारों को फिरसे ग्रहण करना है, लुप्त अनुभवों को आधार नहीं बनाना है। समाजवाद को कई हिस्सों का मकान जैसा समझने की जरूरत है। हो सकता है कि लोग अपनी-अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न हिस्से चुनें, हो सकता है कि एक राष्ट्र भी किसी एक हिस्से के बजाय दूसरा हिस्सा पसन्द करे। सारे मानव-समाज को स्थान देने के लिए मकान को बड़ा होना चाहिए।

शुरू के समाजवादियों को मार्क्सरूपी क्राइस्ट के आने की केवल तैयारी करनेवाला जॉन बैपटिस्ट समझना बुद्धि का दिवालियापन होगा। उनका इस दृष्टि से अपना महत्त्व है कि उनके प्रकाश में मार्क्स कटे-छँटे समाजवाद के विस्तृत रूप में प्रतिबिम्बित हुए। समाजवाद में विचारों में एकरूपता की आशा करना, विचारों को जकड़ा हुआ समझना मूर्खता है। बढ़ने के क्रम में इसमें बाहुल्यता थी और जब यह फूटा, तो इसके बहुरूप हो गये। समाजवाद मानव की नयी दृष्टि है, निरन्तर और दुर्निवार 'सामाजिक प्रश्न' का उत्तर है। निश्चय ही उत्तरों की एक विशाल श्रेणी हो सकती है। बलपूर्वक समता स्थापित करनेवाली मूर्खता ही तरह-तरह की पसन्दों और बदलती हुई रुचियों में निश्चिन्तता और एकरूपता ला सकती है।

अपने जीवन के सन्ध्याकाल में जान स्टुअर्ट मिल (१८०६-७३) ने अपनी आत्मकथा में लिखा था : "हमने भविष्य की सामाजिक समस्या यह समझी कि संसार के कच्चे माल के सामान्य स्वामित्व और सम्मिलित श्रम के लाभों में सबके समान रूप से योगदान के साथ, व्यक्ति

की सबसे बड़ी कार्यगत स्वतंत्रता के साथ, कैसे एकता स्थापित की जाय। आज भी यही 'भविष्य का सामाजिक प्रश्न है'।" इस दुस्साध्यता और जटिलता के कारण ही समाजवाद ने बहुत-से सामाजिक सुसमाचार देने-वालों या उपदेशकों को भी अपने में खपाया। जिनका समाजवाद स्वतंत्रतावादी है, जिनके लिए अब भी खोज की जरूरत बनी हुई है, जिनका समाजवाद प्रभुत्ववादी है, उनकी यात्रा पूरी हो चुकी है। स्वतंत्रतावादी समाजवादी समाजवाद के तत्त्व की, विभिन्न समुदायों के साथ व्यक्ति और व्यक्ति के साथ विभिन्न समुदायों के सामंजस्य के रहस्य की बराबर खोज की जरूरत समझता है; क्योंकि यह नित्य की क्रिया का अंग और जीवन का चिरन्तन आश्चर्य है।

● ● ●

उतोपियावाद का उफान : २ :

एक सुयोग्य समाजशास्त्री डेविड रेजमैन ने हाल में ही कहा है : "सारे संसार में इस बात को गलत सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि राजनीति के दो स्तर हैं—एक उदासीन उतोपियावादी या कल्पना-वादी और दूसरा वर्तमान राजनीतिक शोरगुल में सक्रिय रूप से भाग लेनेवाला या व्यवहारवादी। ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करनेवाले बुरी तरह विफल होते हैं। केवल उतोपीय राजनीति नहीं, बल्कि सारे जीवन में ही विचार और व्यवहार ये दोनों प्रवृत्तियाँ हैं।"*

समाजवादी विचार के दो स्तर रहे हैं : वैज्ञानिक समाजवाद की प्रधानता ने अस्वाभाविक रूप से उतोपीय प्रवृत्ति को आवृत कर लिया है। समाजवाद को खूब अच्छी तरह से समझने के लिए और कल्याण के तमाम तरीके ढूँढने की दृष्टि से आवश्यक है कि दोनों प्रवृत्तियों में सन्तु-लन लाया जाय, उतोपियावाद के उफान का स्वागत किया जाय।

समाजवाद में उतोपीय विचार को कभी दबाया नहीं जा सका। उतोपियावादी अधिक सफल 'मतों' के साथ-साथ अपने विचारों की सत्यता का ज्ञान कराते रहे। निश्चय ही उनके द्वारा सामाजिक स्थितियों की आलोचना उनके व्यावहारिक सुझावों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। मानव जीवन और सामाजिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में उनकी सूक्ष्म दृष्टि की ओर आम तौर पर ध्यान नहीं दिया गया। जॉन रस्किन (१८१९-१९००) के सम्बन्ध में एक आधुनिक लेखक ने लिखा है : "जिस समय रस्किन के विचार सामने आये, उस समय उनमें से अधिकांश की कटु आलोचना हुई और उन पर क्षोभ

---

* डेविड रेजमैन : फेसेज इन दि क्राउड।

प्रकट किया गया। बाद में उनमें से अधिकांश को स्वीकार कर लिया गया। उन विचारों में कला-कौशल, मजदूरों को विश्वविद्यालय-शिक्षा और बेकारों के लिए सरकारी काम जैसी बातों पर जोर दिया गया है।"† प्रासंगिक बातों पर जोर दिया जाता है, मूलभूत बातें रह जाती हैं। चारों ओर की सामाजिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में रस्किन की दिव्य अन्तर्दृष्टि की—जैसे उस समय की राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के प्रति विरोध-प्रकाश, कारीगर का कलाकार के स्तर पर उत्थान, मजदूर को बहादुर बनाने पर जोर—बिलकुल उपेक्षा की जाती है। उतोपियावाद के इस प्रकार प्रभावहीन किये जाने के बावजूद उतोपीय विचार उर्वर बना हुआ है। हमारे इस युग में भी पश्चिम तक में उतोपीय विचार की लहर प्रवाहित हो रही है।

यद्यपि एंगेल्स ने उतोपियावाद को उपहास और तिरस्कार के रूप में प्रयुक्त होनेवाला शब्द बना दिया है, किन्तु एंगेल्स और मार्क्स दोनों में भविष्यवक्ता का बीज था। उतोपियाई रक्त उनमें बहुत गहराई तक था। उनकी दृष्टि व्यक्ति के भाग्य का बहुत आशावान चित्र देखती थी। मार्क्स ने लिखा : "कम्युनिस्ट समाज की उन्नत अवस्था में, जब श्रम-विभाजन के अन्तर्गत व्यक्ति को दास बनाना समाप्त हो जायगा और उसीके साथ ही बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम करनेवालों का अन्तर मिट जायगा, जब श्रम जीवन का साधन ही नहीं, बल्कि सबसे बड़ी आवश्यकता बन जायगा, जब व्यक्ति की सभी क्षमताएँ, उत्पादन करनेवाली शक्तियाँ बढ़ जायँगी, केवल तभी पूँजीवाद की सीमित परिधि से मुक्ति मिलेगी और समाज अपने झण्डे पर अपना सिद्धान्त 'हरएक से उसकी क्षमता के अनुसार, हरएक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' लिखेगा। सामाजिक क्रान्ति अर्थात् इतिहास में सामंजस्य के अन्तिम चरण का चरम परिणाम मानवता की मुक्ति और उसका व्यक्ति में पूर्ण रूप से विकास होगा। ईसाइयों की तरह निर्णायक दिन में विश्वास करनेवाले

† न्यूमैन : डेवलपमेण्ट ऑफ इकानामिक थॉट, पृष्ठ ३२०।

इन नये लोगों के मुकाबले साधारण उतोपियावादी का यही कहना है कि हमें तत्काल उस चीज के लिए स्थान बनाना चाहिए जिसके लिए हम प्रयास कर रहे हैं, ताकि हमारा वह लक्ष्य पूरा हो सके। वह क्रान्ति के बाद की छलाँग में—विवशता के क्षेत्र से स्वतन्त्रता के क्षेत्र में—विश्वास नहीं करता, बल्कि क्रान्ति की सततता में आस्था रखता है। वह सोचता है कि यदि भारी अव्यवस्था को रोकना है, तो यह जरूरी है कि जीवन और विचार की 'दो धाराओं' को एक में मिलाया जाय। उसके विचार से क्रान्ति के पश्चात् के उतोपिया का जन्म क्रान्ति के पूर्व के उतोपियावाद से ही हो सकता है।

उतोपीय विचार पिछले एक सौ वर्ष और उससे अधिक समय तक जारी रहा, किन्तु औद्योगीकरण तथा समाज पर उसके प्रभाव से धीरे-धीरे उसकी अनुरूपता समाप्त हो गयी। जिन बुराइयों को वह (उतोपिया) बचाना चाहता था, वही बुराइयाँ घुस आयीं। समाज का सुव्यवस्थित विकास और सुदृढ़ आधार, जिन्हें वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता था, विकसित समाज में वस्तुतः खो गये। जहाँ सामाजिक और आर्थिक जीवन सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे कृषि और दस्तकारी के आधार पर आगे बढ़ रहा हो, वहाँ उतोपियावाद तुरंत अनुरूपता प्राप्त कर लेता है। एशिया के अधिकतर देशों में उतोपीय विचार फल-फूल रहे हैं और यदि उन्हें ठीक दृष्टि से देखा जाय, तो वे उपयोगी हो सकते हैं।

'कैपिटल' के प्रथम खण्ड की भूमिका में कार्ल मार्क्स ने लिखा है : "औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश कम विकसित देश को केवल भविष्य का चित्र दिखाता है।" पश्चिमी देशों के साथ बहुत हद तक यही बात हुई। फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, इटली ने अपना रूप वस्तुतः औद्योगिक दृष्टि से विकसित ब्रिटेन का चित्र देखकर बनाया। केवल समय की सीमा कम हो गयी। एशियाई देश यदि चाहें, तो उनका अनुसरण कर सकते हैं और बराबरी करने के लिए पश्चिम की नकल कर सकते हैं।

आधी शताब्दी पूर्व डू ब्वायस। (Du Bois) ने कहा था और

अब गुन्नार मिर्डल (Gunnar Myrdal) ने भी पुष्टि की है कि अमेरिका में गोरों के जो तौर-तरीके पुराने पड़ गये हैं और समाप्त हो रहे हैं, हब्शी उन्हींकी नकल करते हैं। आर्थिक सुधार के क्षेत्र में देर से पदार्पण करनेवाले एशिया के सामने तनाव की कुछ स्थितियाँ वैसी ही हैं, जैसी पहले यूरोप में थीं। उन्हें इस तरह से एक किनारे किया जा सकता है, जिस तरह उस समय यूरोप ने किया या जैसा अमेरिका का हब्शी बराबर करता आ रहा है। उन पर व्यापक दृष्टि से इस तरह भी विचार किया जा सकता है कि यूरोप में एक शताब्दी की विकास प्रक्रिया से न केवल यूरोप, बल्कि विश्व को भी क्या शिक्षा मिली है। अमेरिका के हब्शी के सामने शायद और कोई विकल्प नहीं है; क्योंकि उसे गोरों के संसार में रहने से उन्हींकी तरह अपने को बनाना पड़ता है। एशिया को यूरोप की तरह बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। पुरातन संस्कृतियों का महाद्वीप यदि चाहे, तो अपना जीवन अपनी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और ज्ञान के अनुसार निर्धारित कर सकता है।

भारत का विश्वास के क्षेत्र में ऐसा करना अनिवार्य है। काफी समय से और निरन्तर उसके दरवाजे पर थपथपाहट हो रही है। गांधी और विनोबा सामाजिक क्षेत्र में कोई चरम चमत्कार, विचित्र वस्तु और वहमी व्यक्ति नहीं, बल्कि उसके आधुनिक इतिहास के प्राणतत्त्व हैं। इन दो महान् भारतीयों में उतोपीय समाजवादी विचार ऊँचाई की चरम सीमा पर पहुँच गया है। इन दो स्वप्नदर्शी विद्रोहियों की अगुवाई में एशियाई देशों के लिए पिछली शताब्दी के मध्य के यूरोप के मार्ग से भिन्न मार्ग सम्भव हो गया है। जो भी विकल्प स्वीकार किया जाय, वह अच्छी तरह जान-बूझकर स्वीकार किया जाय। इस प्रकार एशिया के लिए उतोपियावाद की अनुरूपता स्पष्ट है।

मार्क्स के पूर्व का समाजवादी अनिवार्यतः उतोपियावादी ही रहा हो, सो बात नहीं; सेण्ट साइमन (१७६०-१८२५) इसके उदाहरण हैं। उनकी दृष्टि में उद्योग 'स्वतंत्रता' और साथ ही सामंजस्य का

'मूलाधार' है । उन्होंने लिखा : "समाजवाद का लक्ष्य कारखाने को नमूने का आधार बनाकर नयी सामाजिक व्यवस्था की पूरी सहकारिता स्थापना करना है । समाज के अधिकार कारखाने के व्यावहारिक अधिकार होंगे । पूँजी और विज्ञान द्वारा निर्मित उद्योग-व्यवस्था से समाजवाद न केवल लाभान्वित होगा; बल्कि उस सहयोग की भावना से और भी फायदा उठायेगा, जो फैक्टरी-जीवन की विशेषता है, जो काम करनेवालों की दक्षता और शक्ति का उत्तम रूप है ।" आधुनिक भावना की सर्वप्रथम विशुद्ध प्रतिमूर्ति सेण्ट साइमन थे । उनका ऐसे समय में और ऐसे देश में आविर्भाव होना, जहाँ उद्योग का विकास शुरू ही हो रहा था, उनमें सिद्ध जैसी शक्ति होने का द्योतक है ।

रावर्ट ओवेन (१७७१-१८५८) जो सेण्ट साइमन की तरह उद्योग के गुणगायक नहीं, बल्कि ब्रिटेन के औद्योगिक उत्थान के युग में स्वयं काफी सफल उद्योगपति थे, उतोपीय समाजवाद के सच्चे स्रोत थे ।

ओवेन की न्यू लेनार्क मिल में दो हजार कर्मचारी थे, जिनमें से पाँच सौ ५ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक के निराश्रित बच्चे थे । ये कर्मचारी १२ घण्टे काम करते थे । ओवेन ने एक आदर्श कारखाना और आदर्श समुदाय तैयार करने का प्रयास किया । उन्होंने कंगाल बच्चों को भरती करना बन्द कर दिया, नौकरी के लिए कम-से-कम उम्र १० वर्ष निश्चित कर दी और काम के घण्टे १२ से घटाकर पौने ११ कर दिये । "उन्होंने अपने कर्मचारियों को अधिक वेतन दिया, काम न करने के समय का भी पैसा दिया, बीमारी और वृद्धावस्था के बीमे की व्यवस्था की । अच्छे मकान दिये, लागत मूल्य पर खाद्यान्न दिया और शिक्षा तथा मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान कीं । ओवेन को विश्व-प्रसिद्धि और अच्छा मुनाफा, दोनों मिले ।"

उत्पादक कम्पनियों के अधीक्षकों के समक्ष पेश करने के लिए तैयार किये गये एक भाषण में उन्होंने लिखा : "आपकी तरह मैं भी आर्थिक लाभ के लिए निर्माता हूँ ।" उन्होंने कहा : "हरएक उत्पादक सर्वोत्तम

मशीनें लगाने और उनकी हिफाजत करने की आवश्यकता समझता है। जब निर्जीव मशीनों का खयाल रखने का इतना लाभ हो सकता है, तब आप यदि उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और अधिक आश्चर्यजनक रूप में निर्मित अपनी मशीनों की चिन्ता करें, तो क्या लाभ नहीं हो सकता?"

कारखानों में स्थिति के सुधार से निस्सन्देह अधिक लाभ हुआ, लेकिन उनसे बेहतर लघु समाजों की स्थापना नहीं हुई। अच्छा वातावरण और शिक्षा ही समुदाय को स्वस्थ चरित्र प्रदान कर सकती है। ओवेन ने जल्द ही अनुभव किया कि शिक्षा के एक पक्ष के रूप में चारों ओर सुधरे हुए वातावरण की भी जरूरत है। इस रूप में शिक्षा उनके 'रचनात्मक कार्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी।'*

जिस समय ओवेन क्रान्तिकारी ट्रेड-यूनियन आन्दोलन का सूत्र-संचालन कर रहे थे, उन्होंने अपने दो मुख्य सहायकों मौरिसन और जे० ई० स्मिथ को आन्दोलन के मुखपत्र 'पायनियर' और 'क्राइसिस' में ऐसे लेख लिखने के काम में लगाया, जो वर्ग-विद्वेष को बढ़ावा दें। ओवेन ने चेतावनी दी : "ये सभी व्यक्ति, जो पीड़ित हैं, अभिशाप-पूर्ण व्यवस्था के शिकार हुए हैं और सभी करुणा के पात्र हैं, इसलिए आप यह महान् और शानदार क्रान्ति, सम्भव हो तो किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाये बिना, हिंसा, रक्तपात और किसी प्रकार की बुराई किये बिना, केवल ऐसे व्यापक नैतिक ढंग से करें जो व्यक्तियों को प्रभावित करे। राष्ट्र जल्दी समझ जायेंगे कि प्रतिरोध करना मूर्खतापूर्ण होगा।"

ऐसे दुर्निवार विलक्षण व्यक्ति का स्थान उन्होंने अपने सहयोग व्यवस्था पर आधृत गाँवों में रखा, जिनकी 'स्थापना संयुक्त श्रम, व्यय और सम्पत्ति तथा समान सुविधा' के सिद्धान्त के अनुसार हुई थी। उन गाँवों के लिए ऐसी कृषि की व्यवस्था थी, जिसके साथ उत्पादन का काम भी जुड़ा हुआ हो, ऐसी कृषि जिसका आधार 'हल' के बजाय 'फावड़ा' हो। इन गाँवों के लिए ऐसी व्यवस्था थी, जिसमें श्रमगत भिन्नता और

* जी० डी० एच० कोल : राबर्ट ओवेन।

हितगत भिन्नता न हो। 'एक पिन की नोक बनानेवाला, कील का सिर बनानेवाला, धागे के टुकड़े करनेवाला या व्यर्थ की बातें करनेवाला, बेमतलब और बिना कुछ समझे खेत की ओर या इधर देखता रहे, ऐसा इस समाज में न होगा; बल्कि इससे ऐसा श्रमजीवी वर्ग तैयार होगा जो सक्रिय और ज्ञानवान् होगा।' इन गाँवों में किसी प्रकार के चुनाव या प्रतिनिधि संस्थाओं की व्यवस्था नहीं थी, जो गुटबन्दी और कटुता की जड़ होती हैं, बल्कि हर व्यक्ति पर सीधी जिम्मेदारी थी। उन्हें ही विभिन्न कामों को आपस में बाँटकर करना था।

सहकारी आन्दोलन के सम्बन्ध में ओवेन की धारणा के तीन स्तर थे। राकडेल के अग्रगामियों ने १८४४ में 'अपने सदस्यों के बीच वस्तुओं के विक्रय के लिए ही नहीं, बल्कि समाज के निश्चय के अनुसार चीजों के निर्माण के लिए, बेकारों को काम देने के लिए भी' अपना संगठन बनाया। उन्होंने यह भी व्यवस्था की कि 'जितनी भी जल्दी सम्भव होगा समाज उत्पादन, वितरण, शिक्षा और प्रशासन का अधिकार सँभाल लेगा या दूसरे शब्दों में आत्म-निर्भर और संयुक्त हित मे विश्वास करनेवाली बस्तियों की स्थापना करेगा अथवा अन्य समाजों को ऐसी बस्तियाँ स्थापित करने में सहायता देगा।'

ओवेन की बस्तियों, आर्थिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सहकार और नयी चेतना फूँकनेवाले संगठनों के आधार पर स्थापित कृषि-व्यवस्था के द्वारा लोग नये जीवन का गोपनीय तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं। व्यवसाय-गत नव-चेतना की नीति 'ग्रैण्ड नेशनल गिल्ड ऑफ बिल्डर्स' (भवन निर्माण करनेवालों का प्रधान राष्ट्रीय शिल्पी संघ) नामक संस्था के स्थापना-सम्बन्धी प्रस्तावों में घोषित की गयी थी। इस संघ में वास्तुकला विशेषज्ञ, सर्वेक्षण करनेवाले, राज, बढ़ई, जोड़ाई का काम करनेवाले, ईंट बैठानेवाले, प्लास्टर करनेवाले, पटिया का काम करनेवाले, पाइप लगानेवाले, खिड़कियों में शीशे लगानेवाले, घर सजाने का काम करनेवाले, सफेदी करनेवाले, टाइल का काम करनेवाले तथा ईंट तैयार करनेवाले सदस्य थे।

संघ के 'प्रस्ताव' जो १८३३ में तैयार हुए, इस प्रकार थे :

१. भवन निर्माण के काम में लगे हुए सभी व्यक्तियों की स्थिति में सुधार, सबके लिए नियमित काम की व्यवस्था करना।

संघ के उद्देश्य

२. उनकी सेवाओं के लिए उचित पारिश्रमिक की व्यवस्था।

३. काम के लिए उचित समय निश्चित करना।

४. अल्पवयस्कों और वयस्कों, दोनों को शिक्षित करना।

५. अच्छी डाक्टरी सलाह और सहायता दिलवाना तथा वृद्धों और अक्षम लोगों के स्वतन्त्रतापूर्वक और आराम से सेवा-निवृत्त होने की व्यवस्था करना।

६. सारे कार्यों का सामंजस्यपूर्वक नियमन करना और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धन एकत्र करना।

७. उचित मूल्य में जनता के लिए अच्छे मकान की व्यवस्था करना।

८. संघ के सभी सदस्यों के रहने के लिए आरामदायक स्थान प्राप्त करना, सुव्यवस्थित और बड़े वर्कशाप, भवन निर्माण के काम में आनेवाली चीजों के गोदाम के लिए स्थान, दफ्तर, सभाओं और बैठकों के लिए हाल प्राप्त करना, वयस्कों तथा बच्चों को नीति तथा उपयोगी विज्ञानों की शिक्षा देने के लिए स्कूलों और अकादमियों की व्यवस्था करना; और

९. जिन क्षेत्रों में प्रधान जिला कार्यालय स्थापित हों, उनमें भवन-निर्माता बैंकों (बिल्डर्स बैंक) की स्थापना करना।

प्रत्येक सदस्य के हाथ १५ पौण्ड का एक या अधिक शेयर बेचकर कम-से-कम १५ हजार पौण्ड की पूँजी इन उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए जमा की जायगी।

संघ के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के साधन

१. निर्माताओं का हर वर्ग ऐसे व्यक्तियों का होगा, जिन्होंने पाँच वर्ष काम की शिक्षा पायी हो और १८ वर्ष से अधिक उम्र के हों।

२. प्रत्येक लॉज (संघ) की देखभाल के लिए एक सभापति, उप-

सभापति, कोषाध्यक्ष, मन्त्री और सहायक होंगे, जिनका चुनाव संघ द्वारा ही होगा। प्रत्येक लॉज १० व्यक्तियों पर एक फोरमैन, एक जनरल सुपरिण्टेण्डेण्ट या जहाँ जरूरी होगा काम की देखभाल करने वाले क्लर्क रखेगा। बैठकें साप्ताहिक हुआ करेंगी।

३. स्थानिक लॉज या संघ स्थानीय कार्यों की देखरेख के लिए अपनी केन्द्रीय समितियाँ चुनेंगे। प्रत्येक स्थानीय समिति में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, मंत्री तथा सहायक होंगे, जिनका चुनाव स्थानीय संघ ही करेगा। केन्द्रीय स्थानिक समिति अपने क्षेत्र में भवन-निर्माण के कार्यों की देखरेख करेगी और उसकी बैठक नित्य हुआ करेगी।

४. केन्द्रीय समिति अपना एक जिला बनायेगी। सभी केन्द्रीय समितियों के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक जिला समिति बनेगी।

जिला-समितियों की बैठक हर तीसरे मास हुआ करेगी, वह स्थानिक केन्द्रीय समिति की रिपोर्ट पर विचार करेगी, कार्रवाइयों का नियमन करेगी और जिलों के हिसाब-किताब का निरीक्षण करेगी।

५. प्रत्येक जिला समिति लन्दन स्थित प्रधान राष्ट्रीय समिति के लिए अपना एक प्रतिनिधि चुनेगी।

प्रधान राष्ट्रीय समिति की बैठक वार्षिक हुआ करेगी और वह संघ के सामान्य हितों पर विचार तथा तत्सम्बन्धी निर्णय करेगी।

६. प्रधान राष्ट्रीय समिति का अध्यक्ष तीन वर्ष के लिए चुना जायगा (किन्तु कारण होने पर वह हटाया जा सकेगा)। उसे अपने सहायकों की नियुक्ति का अधिकार होगा। उन सभी सहायकों को मिलाकर एक स्थायी परिषद् होगी, जिसका काम, जिला तथा केन्द्रीय समितियों की रिपोर्ट पर विचार करना, भवन निर्माताओं के अपने गजट में हर सप्ताह सारी बातों को सामने रखना तथा राज्य में भवन निर्माण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकट करना होगा।

७. सभी चुनावों में मतदान गुप्त प्रणाली से होगा।

ठोस उतोपियावाद की तरह ओवेनवाद का तत्त्व भी मानु-

दायिक निर्माण है। यह सबसे अच्छा कृषि में, कृषि बस्तियों में और सामुदायिक गाँवों में 'पल्लवित' हो सकता है। किन्तु सहकारिता और दस्तकारी में भी विकास की गुंजाइश थी, बशर्ते कि स्वायत्तता, विकेन्द्रीकरण और सहयोग का मजबूती से पालन किया जाता।

जर्मनी में एफ० डब्ल्यू० रेफीसन (१८१८-८८) और एच० शुल्ज देलित्श (१८०८-८३) या इटली में लुगी लुजाती (१८४१-१९२७) द्वारा विकसित ढंग की केवल सहकारी समितियाँ और उपभोक्ता सहकारी समितियाँ भी सामुदायिक निर्माण नहीं कर सकीं, क्योंकि संघ के बन्धन बहुत नाजुक थे। ऐसे सीमित और आंशिक सहयोग में साथ-साथ बढ़ने की कोई बात नहीं थी, इसके बिना किसी समाज का उत्थान नहीं होता।

पी० जे० वी० बुशेस (१७९६-१८६५) ने अपने पत्रों 'ल यूरोपीयन' और 'ल अतेलिये' के माध्यम से उत्पादकों की सहकारी समितियों के लिए प्रचार किया। कुछ बातों को छोड़ दिया जाय, तो उपर्युक्त सहकारी समितियों की तरह सामुदायिक निर्माण की दिशा में वह एक बड़ी प्रगति थी। फिर भी आदर्श नमूना ऐसा पूर्ण सहकार ही है, जिसमें उत्पादन और उपभोग दोनों पक्षों को मिलाया जा सके। उतोपियावादियों का कहना था कि ऐसे वातावरण में ही व्यक्ति की विभिन्न अस्मिताएँ (पर्सनालिटीज) एक दूसरे के निकट आ सकती हैं और उनमें सामंजस्य हो सकता है।

ब्रिटेन में आर्थिक परिवर्तनों की लहर आयी थी और १८५० तक वहाँ की स्थिति में भारी परिवर्तन हो चुका था। कृषि में पूँजीवाद की विजय हो रही थी। १७६० से १८२० के बीच भूमि के घेरों की सख्या सबसे अधिक हो गयी और साढ़े बासठ लाख एकड़ भूमि घेरे में आ गयी। नगरों में बड़े कारखाने बन जाने से गृह-उद्योगों का ह्रास हुआ, तो छोटे किसानों के लिए अपनी थोड़ी भूमि के बल पर गाड़ी खींचना असम्भव हो गया। छोटे किसान बड़े, साधनसम्पन्न और भारी पूँजी से चलाये जा रहे फार्मों से प्रतिस्पर्धा भी नहीं कर सकते थे। १८३० के आसपास किये गये

आकलन के अनुसार अच्छे कारखाने काफी बढ़ गये थे। हर सूती मिल में काम करनेवाले मजदूरों की अनुपातिक संख्या १७५, रेशम मिल में ९३, और ऊनी मिल में ४५ थी। लोहे और इस्पात के कुछ बड़े कारखानों में डेढ़ हजार से दो हजार तक कर्मचारी थे। १८२० से १८६० के बीच सूती धागा उद्योग का उत्पादन प्रायः ९ गुना अर्थात् १० करोड़ ६५ लाख पौण्ड से बढ़कर ९१ करोड़ पौण्ड हो गया था; किन्तु काम करनेवालों की संख्या केवल दूनी अर्थात् एक लाख १० हजार से बढ़कर २ लाख ४८ हजार ही हुई, जब कि श्रमगत व्यय प्रति पौण्ड ६.४ पेंस से घटकर २.१ पेंस अर्थात् दो तिहाई कम हो गया। उद्योग के पूँजीवादीकरण का यह विस्तार था, हाथ से निर्माण को मशीनों से निर्माण में बदल देने की यह स्थिति थी।

होलिओक ने लिखा है: "१८२० से १८३० तक विचारक वर्ग सहकार और लघु समाजों (कम्युनिटीज) को 'उद्योग का धर्म' समझते थे। लघु समाजों (उद्योग के धर्म को जिनका रूप लेना था) की घोषणा १८२५ से १८३० तक ऐसी ही साधारण-सी बात थी, जैसी आज के युग में ज्वायंट स्टाक कम्पनियों की स्थापना की घोषणा।"† चौथे दशक के मध्य तक अर्थ-व्यवस्था में ज्वायंट स्टाक कम्पनियों का बोलबाला हो गया। १८४४ से १८४६ तक तीन वर्षों के भीतर जब ब्रिटेन की वार्षिक आय २० करोड़ पौण्ड आँकी जाती थी, संसद ने २१ करोड़ पौण्ड की लागत से ८ हजार मील लम्बी सड़कों के निर्माण की स्वीकृति दी। इंग्लैण्ड में ओवेन की सूक्ष्म दृष्टि और दूरदर्शिता विलम्ब से आयी। यह कोई अनहोनी बात नहीं थी कि अपने जीवन के अन्तिम १५ वर्षों में ओवेन का अपने देश और उसके प्रगति-क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं था। स्वयं ओवेन ने भूमि, कृषि और उतोपियावाद के महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध को अच्छी तरह नहीं समझा। उनके मन की यह एक अवस्था थी, जो होलिओक के शब्दों में उनके विचारों और उतोपिया को 'उद्योग के धर्म' के रूप में

† जी० जे० होलिओक: हिस्ट्री ऑफ कोआपरेशन, पृष्ठ, ७१

देखती थी। १९ वीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटेन के प्रतिनिधि प्रवक्ता ओवेन नहीं, बल्कि टामस ब्रैसी (१८०५–७०) बन चुके थे, जिनकी औद्योगिक सेना में रेलवे लाइन, लोहे के कारखाने, रोलिंग मिलें और बैंक बनाने के लिए ७५ हजार व्यक्ति काम करते थे।

फ्रांस में परिवर्तन के प्रवाह का रूप भिन्न था। वहाँ क्रान्ति के फलस्वरूप सामन्तवाद समाप्त हो गया और भूमि अनेक छोटे-छोटे मालिकों में बाँट दी गयी। फ्रांस क्रान्ति की उथल-पुथल के बाद कृषिप्रधान लोकतन्त्र बना। इंग्लैण्ड की तुलना में वहाँ औद्योगीकरण पर बहुत कम जोर दिया गया। भारी उत्पादन के बजाय वस्तु की श्रेष्ठता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि धातु उद्योग (जिसमें प्रशिक्षण के लिए ब्रिटेन के शिल्पी तथा उनके कामों की देख-रेख करनेवाले फ्रांस आते थे) नहीं, बल्कि सूती वस्त्रोद्योग के दक्ष फ्रांसीसी शिल्पी अंग्रेजों को प्रशिक्षित करने के लिए छिपाकर ब्रिटेन ले जाये जाते थे। कृषि और उद्योग दोनों क्षेत्रों में १९ वीं शताब्दी के मध्य तक छोटे-छोटे फार्म तथा कारखाने, जो दस्तकारी उद्योग से बहुत अधिक भिन्न नहीं थे, सारे देश में फैल चुके थे। प्रूधों की जीवनी के लेखक के शब्दों में फ्रांस में ही 'स्थिति प्रूधों के विचारों के अनुकूल मोड़ ले रही थी।'*

प्रूधों का जन्म एक किसान परिवार में बारगण्डी में हुआ था, जहाँ स्थानिक स्मृतियों और वफादारी की जड़ें बहुत गहरी थीं। वे निर्धनता की स्थिति में बड़े हुए और जीवन में उन्होंने वे सारी परेशानियाँ झेलीं, जो एक छोटे किसान को झेलनी पड़ती हैं। अधिकतर शिक्षा उन्होंने उन पुस्तकों से प्राप्त की, जो उन्हें प्रूफ-रीडर के रूप में पढ़नी पड़ीं। इन्हीं पुस्तकों में चार्ल्स फोरियर की भी एक पुस्तक थी। उनकी कोई अपनी पद्धति नहीं बनी थी। उनके विचार मार्क्स के बनकर तैयार विचार रूपी महल की तरह नहीं, बल्कि सम्पन्न खान के रूप में थे।

* डी० डब्ल्यू ब्रोगन : प्रूधों, पृष्ठ ८८।

प्रूधों के विचार से मानव का सबसे बड़ा मानवीय गुण उसमें विभिन्नताओं और विपरीतताओं का होना है। उनको नियम और प्रणाली के रूप में समान करना मानव के महत्त्वपूर्ण और शरीर धर्म पर आधृत तत्व को नष्ट करना होगा। इसकी रक्षा करना और ऐसी स्थिति तैयार करना जिसमें इसे शक्ति प्राप्त हो, यही प्रूधों की कामना थी। उन्होंने अपने दर्शन और जीवन में 'तत्त्वों की विपरीतता और विपरीतता का संघर्ष' स्वीकार किया और व्यक्ति में 'असामाजिक सामाजिकता' की व्याख्या की। वे प्रायः कहते थे: "एक चीज जिसे मैं अत्याचारियों से भी ज्यादा नापसन्द करता हूँ, वह शहीद हैं।" इसी तरह राजनीति, राजनीतिज्ञों और एकरूपता के लोकतन्त्र के प्रति विरोध, फिर भी संसद के लिए चुना जाना, उनकी विशेषता थी।

अपने समय में जो सबसे बड़ी विशेषता उन्होंने देखी वह 'विघटन' था। उन्होंने अनुभव किया कि यह 'समाज की कठोरतम स्थिति' है। सामाजिक जीवन अपने उत्तम और विविधतापूर्ण गुणों, सहयोग भावनाओं और परम्पराओं से रहित होता जा रहा था। नयी प्रणाली का कारण और कार्य, केन्द्रीकरण का विस्तार व्यक्ति को बिलकुल अकेला बनाये दे रहा था। अतः समाधान सामाजिक पुनर्निर्माण को नये ढाँचे में बदल देना, समाज के सारे अंगों में नवजीवन भर देना था। उन्होंने समाज का आधार बदल देने के दो तरीके सोचे: पहला यह कि कर्म-समूहों के संघ 'खेतिहर औद्योगिक संघ' को आर्थिक आधार बनाया जाय और दूसरा था सत्ता का विकेन्द्रीकरण, अधिकार का विभाजन और सामुदायिक तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता पर आधृत राजनीतिक ढाँचा। दोनों में संघवाद, विकेन्द्रीकरण और 'प्रभुता पुंज' मुख्य अंग थे।

अलंकारहीन राज्य और अलंकारहीन व्यक्ति का सान्निध्य राज्य और व्यक्ति दोनों को दयनीय बनाता है। लाभदायक साहचर्य उस व्यक्ति का है, जिसका अपने विभिन्न समूहों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। यही कारण है कि व्यापक मताधिकार जैसे प्रभावशाली राजनीतिक विचारों

के प्रति प्रूधों की अरुचि थी। उन्होंने अनुभव किया कि इन तरीकों से "आणवीकरण (Atomisation) किया जा रहा है, जिसके द्वारा विधायक, यह समझकर कि वह लोगों को एक स्वर में बोलते नहीं देख सकता, व्यक्तियों को एक-एक करके अपने मत प्रकट करने के लिए निमन्त्रित करता है। इसमें 'संगठनात्मक सिद्धान्त' का अभाव है। यदि राष्ट्र को कणों का समूह नहीं बनाना है, तो जरूरत इस बात की है कि स्वाभाविक समूह बनाये और विकसित किये जायँ। बिना उनके कोई मौलिकता, स्पष्टवादिता और आवाजों में स्पष्ट अर्थ नहीं हो सकता। चुनावों में स्वाभाविक समूहों के नष्ट होने का मतलब स्वयं राष्ट्र का नैतिक विनाश, नगरों, कम्यूनों और जिलों में राजनीतिक जीवन का उन्मूलन तथा सारी म्युनिसिपल और क्षेत्रीय स्वायत्तता की समाप्ति होगा।"

उन्होंने केन्द्रीकरण को समुदाय के विघटन और समाज के विकीर्णीकरण के कारणों में से माना, क्योंकि इसमें कायिक नहीं, यान्त्रिक सिद्धान्त निहित है। अपने जीवन के अन्त में उन्होंने लिखा कि यथार्थ 'एकता आकार के उलटे अनुपात में है, इसलिए प्रत्येक समूह को लोगों के दूर-दूर रहने पर और सहयोग होने से जो शक्ति प्राप्त होती है, वह उन्हें सघन रूप में एक-जैसा कर देने से नहीं प्राप्त हो सकती।' उन्होंने यह नियम राजनीति पर भी लागू किया और अनुभव किया कि फ्रांस में ३० राष्ट्रीयताएँ राज्य में विलीन कर दी गयी हैं, जो स्वायत्तता या संघ की स्थिति में ही फल-फूल सकती हैं। उन्होंने पेरिस के नागवार लगनेवाले प्रभाव का विरोध किया, क्योंकि प्रशासनिक, वित्तीय और शैक्षणिक सारा जीवन खिंचकर पेरिस में केन्द्रित होता जा रहा था। उनका खयाल था कि यदि राजधानी हावी हो गयी, तो फ्रांस स्वतन्त्र नहीं रह सकता।

प्रूधों ने फ्रांसीसी क्रान्ति में निहित एकरूपता और केन्द्रीकरण करनेवाली प्रवृत्तियों का विरोध किया। निश्चय ही बेंजामिन द कान्स्टैण्ट (१७६७-१८३०) के निम्नलिखित मत से उनकी सहमति होती : "यह उल्लेखनीय है कि कहीं पर भी एकरूपता की उतनी गुंजाइश नहीं है

जितनी व्यक्तियों के अधिकार और स्वतन्त्रता के लिए की गयी क्रान्ति में। नियमबद्ध भावना पहले एकरूपता के ध्यान में मग्न हुई। अधिकार के मोह ने तुरन्त सोचा कि इस एकरूपता से मुझे किस सीमा तक लाभ है। यद्यपि राष्ट्रभक्ति केवल हितों और तरीकों तथा स्थानीय परम्पराओं के प्रति लगाव के रूप में विद्यमान है, तथापि हमारे स्वघोषित राष्ट्रभक्तों ने इन सबके विरुद्ध युद्ध घोषित किया। उन्होंने राष्ट्रभक्ति के इस प्राकृतिक स्रोत को सुखा दिया। स्थानीय आदतों से उत्पन्न हितों और स्मृतियों में प्रतिरोध के जीवाणु होते हैं, जिन्हें सत्ता बहुत अन्यमनस्क होकर ही बर्दाश्त करती है और जल्दी खत्म कर देना चाहती है। व्यक्ति जल्दी इसके फन्दे में आ जाते हैं और उन पर यह ऐसे ही फैल जाती है जैसे बालू पर।"

आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त 'सम्पत्ति चोरी है' के द्वारा संसार को चेतावनी दी। वही सम्पत्ति न्यायसंगत है, जिस पर सबका सामूहिक या निर्वैयक्तिक रूप से नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष एवं व्यक्तिगत अधिकार हो। मजदूरों को उतना ही एक साथ होने की जरूरत है, जितना 'वस्तुओं की माँगों, वस्तुओं के सस्तेपन, उपभोग की आवश्यकता और उत्पादकों की सुरक्षा की दृष्टि से जरूरी हो।' यदि ऐसी सहकारी समितियाँ अपनी वित्तीय व्यवस्था कर सकें अर्थात् उन्हें अनुग्रहणपूर्ण ऋण मिल सके, तो वे उत्पादन का महत्त्वपूर्ण दृष्टिपथ बन सकती हैं। इस उद्देश्य के लिए प्रूधों ने ऐसे जनवादी बैंक की योजना बनायी, जो वस्तुओं को आधार मानकर विनिमय नोट जारी करे और कोई ब्याज न ले। उन्होंने ऐसे गोदामों की स्थापना पर भी जोर दिया, जो जमा की गयी वस्तुओं के आधार पर जमानत जारी कर सकें। मजदूर पूँजीपति की दासता से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह स्वामित्व और धन लगाने का काम स्वयं कर सके। इस दृष्टि से ऋण, खासकर सस्ती दर पर ऋण की व्यवस्था महत्त्वपूर्ण सामाजिक आर्थिक आवश्यकता हो जाती है।

लुई ब्लांक और लासेल ने जिस प्रकार के राष्ट्रीय कारखानों के लिए बहुत जोर दिया था, उनका प्रूधों की दृष्टि में कोई उपयोग नहीं था।

उनका मत था कि ऐसे कारखानों में राज्य श्रमजीवियों पर हावी हो जायगा। प्रूधों ने १८४९ में राज्य द्वारा राष्ट्रीय कारखानों का विघटन किये जाते हुए और उनके एक लाख बीस हजार कर्मचारियों को यह आदेश दिये जाते हुए देखा था कि या तो तुम लोग सेना में भरती हो या पेरिस से निकल जाओ। बाद में प्रूधों के विचारों को ही ओटावोन जायर्क (१८४१-१९२१) ने अपनी कृति का आधार बनाया। उन्होंने कहा : "केवल बन्धनमुक्त साहचर्य ही ऐसे लघु समाजों का निर्माण कर सकता है, जिनमें आर्थिक स्वतन्त्रता हो।" सहकारिता के आधार पर स्वामित्व और संचालनवाले कारखानों को एकसाथ संघबद्ध करना जरूरी है। 'संघवाद के लिए हल की जाने की समस्या राजनीतिक नहीं, बल्कि आर्थिक है।' उनका खयाल था कि रेलवे, जिनका उस समय निर्माण हो रहा था, केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति रोकेंगी और आर्थिक विकेन्द्रीकरण में सहायक होंगी।

स्थानिक स्वायत्तता के सिद्धान्त और संघवाद के सिद्धान्त को मिलाकर उन्होंने स्वतन्त्रता और न्याय के आदर्श को वास्तविक बनाने की कोशिश की। केवल इसी मार्ग से एकता का बलिदान किये बिना प्रगति हो सकती है। उनकी दृष्टि से आन्तरिक उत्साह या स्वायत्तता ही रचनात्मक समाज का हृदय है। 'उन्होंने कभी भी श्रमजीवियों को ऐसा सम-प्रकृतिवर्ग नहीं माना, जिसके कुछ हजार लोग दूसरे कुछ हजार लोगों की तरह हों। उनकी मुक्ति का साधन उन्हींमें होना चाहिए। बाहरी लोगों का उनका नेता होना उनपर जुल्म ही होगा, भले ही वे बाहरी लोग कितने ही योग्य और अनासक्त क्यों न हों। सम्पत्ति के आधार पर शोषण के जो साधन बने हैं, अन्य आधारों पर उनके उससे भी कहीं अधिक रूप हैं।'*

राजनीतिक जीवन और आर्थिक संगठन में छोटे-छोटे और प्रत्यक्ष लोकतान्त्रिक नियन्त्रण प्रूधों के मत से स्वतन्त्रता और न्याय के द्योतक हैं।

* वही, पृष्ठ १४।

राजनीति और पार्टियों का उनके लिए कोई उपयोग नहीं था, दोनों व्यक्तियों को उनकी नजदीकी चीजों से दूर करनेवाली थीं। जो चीज (अधिकारवादी राज्य) हानिकर है, उसे हानिरहित बनाने से किसी उद्देश्य की सिद्धि न होगी। इसलिए उन्हें मूल हेतु (Raison d'etat) के दैत्य से गहरा सन्देह था। 'प्रत्येक राज्य स्वभाव से कब्जा बढ़ानेवाला है' और बराबर समाज के क्षेत्र का अतिक्रमण करता जाता है। केवल संघीय राज्य ही ऐसा हो सकता है, जिसके अधिकारों पर जनता का नियन्त्रण रहे। ऐसे राज्य में, जो प्रदेशों का गणतन्त्र हो, आज की पार्टियाँ और राजनीति निरर्थक बन जायगी।

ट्रेड-यूनियन जैसे दूसरे संगठनों में भी केन्द्रीकरण की बुराई छिपी हुई है। ट्रेड-यूनियनों का जन्म वहीं होता है, जहाँ उत्पादन भारी पैमाने पर होता है और श्रमजीवी तथा उत्पादन के साधन समाज से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार ट्रेड-यूनियनों का जन्म अनेक सामाजिक बुराइयों के समूह से हुआ।

ऐसे व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित छोटे राज्य या कम्यून, जो स्वतन्त्र तथा आर्थिक दृष्टि से समान हों, हरएक अपने व्यवसाय, अपने खेत और अपने परिवार के स्वामी हों—यही प्रूधों का आदर्श था। सब मिलाकर जरूरत यह थी कि स्वायत शासित सामाजिक व्यवस्थाएँ एक-दूसरे के साथ संघ-सिद्धान्त (Principe Federatif) से जुड़ी हों।

केन्द्रीकरण तथा चर्च, राज्य, राजनीतिक दलों आदि शोषण के सभी संगठित रूपों के विरोध को साथ लेकर पूँजीवाद तथा विशेषाधिकार के प्रति उनका गहरा विरोध और भी सम्पन्न हुआ। जैसा कि ब्रोगेन ने कहा है, वे सम्भवतः 'खेतिहरों के लिए समाजवाद' के उपदेष्टा बन गये। निस्सन्देह उन्होंने उन छोटे लोगों, अभागे लोगों की भावनाएँ व्यक्त कीं, जिनकी पूँजीवाद की चक्की के नीचे दबने से हो रही छटपटाहट का, जैसा कि मार्क्स ने प्रूधों की आलोचना करते हुए कहा है, कोई स्थायी ऐतिहासिक प्रभाव नहीं था, और जो समाज की गति रोकने में असमर्थ

थे। किन्तु घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया कि मजदूरों ने भी उनके विचारों को स्वीकार किया। क्रान्तिकारी फ्रांस में प्रकाशित चार घोषणा-पत्रों में से केवल एक 'साठ का घोषणा-पत्र' (मैनिफेस्टो आफ सिक्स्टी)* जिसे स्वयं श्रमजीवियों ने प्रकाशित किया था, प्रूधों के आस्थासूत्रों के बहुत निकट था। सर्वहारा वर्ग ने १८६१ के घोषणापत्र में जो घोषणा की थी, उसका १८७१ की घटना के इतिहास में भारी प्रभाव है। पेरिस कम्यून के नाम तक में प्रूधों के विचारों की ध्वनि थी। पेरिस के श्रमजीवियों के राष्ट्रवादी और सामाजिक क्षोभ को संघवादी रूप देने में उनके विचारों की बहुत बड़ी शक्ति थी। 'संघवादियों की दीवार' के रूप में शहीदों के स्मारक का निर्माण प्रूधों की शिक्षा के एक पक्ष की सराहना है। इस प्रकार प्रूधों के विचारों में खेतिहर, साधारण मध्यमवर्गी, श्रमजीवी आदि जनता के विभिन्न वर्गों के स्वप्न प्रतिबिम्बित थे। 'सभी एक साथ और सभी स्वतन्त्र' के आशावान रूप में वे जनता के पैगम्बर थे।

मार्क्स (१८१८-१८८२) को लघु समाजों के निर्माण से सन्तोष नहीं था। उनका विचार था कि 'संगठनात्मक क्रियाकलाप' अर्थात्

शुरूआत में ही अन्त

समाज का निर्माण राज्य को पूर्ण रूप से उखाड़ फेंकने के बाद ही शुरू होगा। जो कुछ भी 'संगठनात्मक क्रियाकलाप' क्रान्ति के पहले होते हैं, वे संघर्ष की तैयारी के लिए ही होते हैं। ओवेन और फोरियर के प्रयास 'लघु प्रयोग थे और उनकी विफलता निश्चित थी।' यथार्थवाद से परे 'सिद्धान्तवादी प्रयोगों, विनिमय बैंकों और श्रमजीवियों के संघों' के समर्थक प्रूधों और ब्लांक पर उन्होंने दोषारोपण किया और फ्रांसीसी सर्वहारा को ऐसे आन्दोलन का समर्थन करने के लिए धिक्कारा, जो 'अपने पास सारे साधन रहते हुए पुरानी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का

* तीन अन्य घोषणापत्र ये थे: कान्स्टैण्ट (१८०८-९३) का बार्नेफ का मैनिफेस्टो देस-एजो, फोरियरवादी घोषणापत्र मैनिफेस्टो 'द ल' एको ले सोसायतरे, (१८४१) और मार्क्स तथा एंगेल्स का कम्युनिस्ट घोषणापत्र (१८४८)।

संघर्ष न करके समाज के पीठ पीछे और गुप्त रूप से उसके संकीर्ण ढाँचे में अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करना पसन्द करता है। यह आन्दोलन निश्चित रूप से संकट में पड़ेगा।'

क्रान्तिकारी के रूप में पेरिस कम्यून को मार्क्स का पूरा समर्थन मिला। कम्यून की उल्लेखनीय बात या 'इसका सच्चा रहस्य' यह था कि यह 'वस्तुतः श्रमजीवी वर्ग की सरकार थी' और यह वास्तव में श्रमजीवियों द्वारा संचालित सरकार थी, उत्पादकों की स्वायत्त सरकार थी। व्यापक मताधिकार से उत्पन्न, प्रत्याह्वयन (रिकाल) और शासनादेश (मैण्डेण्ट) से नियंत्रित यह कम्यून संसद के रूप में नहीं था, बल्कि काम चलानेवाली संस्था था और कार्यपालिका के साथ ही विधानपालिका भी था। यदि सारे फ्रांस में ऐसे कम्यून बन जाते, तो केन्द्रीय सरकार के लिए थोड़े से ही काम रह जाते। 'कम्यून-विधान समाज को वे सभी शक्तियाँ देता, जो अब तक राज्य की परान्नभोजी रूपी उस ग्रन्थि में भरती रहीं, जो ग्रन्थि समाज की कीमत पर मोटी होती है और समाज की मुक्त गतिविधि को रोकती है। इस एक कार्य से ही वह फ्रांस में नयी चेतना ला सकता था।'

इस प्रकार मार्क्स क्रान्ति के बाद ही नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी कारवाई के भीतर भी सत्ता का विकेन्द्रीकरण और अधिकारवृद्धि में कटौती चाहते थे। फिर भी क्रान्ति के पूर्व उन्होंने ऐसे प्रयासों, साहचर्यमूलक चेष्टाओं की आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने स्वाभाविक प्रवाह की जरूरत नहीं मानी। वस्तुतः उन्हें बराबर यह भय बना हुआ था कि कहीं रचनात्मक कार्य क्रान्तिकारी शक्ति को खींच न ले। इसी भय के कारण उन्होंने जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के गोथा कार्यक्रम में उपभोक्ता सहकारी समिति विषयक सिद्धान्त का विरोध किया। उन्होंने इस सिद्धान्त की खिल्ली यह कहकर उड़ायी कि यह 'असाधारण दैवी चिकित्सा' है, यह 'संकीर्ण विचारों का आन्दोलन' है। १८८६ में एंगेल्स ने बेबेल (१८४०-१९१३) को सलाह दी कि वे रचनात्मक कार्यों के लिए नहीं,

बल्कि चालबाजी की दृष्टि से श्रमजीवियों की सहकारी समितियों को पट्टे पर कृषि योग्य भूमि देने की माँग करें। १८९२ में जर्मन पार्टी कांग्रेस ने निर्णय किया कि 'पार्टी उसी स्थिति में सहकारी समितियों की स्थापना के लिए स्वीकृति दे सकती है, जब उनके द्वारा राजनीतिक या ट्रेड-यूनियन संघर्ष में अनुशासन के मामलों में दण्डित कामरेडों के लिए सम्मानपूर्ण सामाजिक जीवन बिताने की व्यवस्था हो या उन समितियों से आन्दोलन में सहायता मिल सके।' शेष लोगों के लिए 'पार्टी सहकारी समितियों की स्थापना के विरुद्ध थी।'

विपद्ग्रस्त कामरेडों के लिए सहकारी समितियाँ 'सम्मानपूर्ण सामाजिक जीवन' का साधन बनें, इसका मतलब यह हुआ कि उनमें समाज को सुव्यवस्थित करने की शक्ति थी; किन्तु उन समितियों का व्यापक हित के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता था—ऐसा था जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी का जान-बूझकर किया हुआ निर्णय। मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य हुई। उन्होंने फ्रांस-प्रशिया युद्ध शुरू होने पर जुलाई १८७० में एंगेल्स को लिखा था : 'फ्रांसीसियों की पिटाई की जरूरत है। यदि प्रशियन जीते, तो राज्य-शक्ति का केन्द्रीकरण जर्मन श्रमजीवी वर्ग के केन्द्रीकरण में सहायता करेगा। इसके अलावा जर्मनी का आधिपत्य होने से पश्चिमी यूरोप के मजदूर-आन्दोलन की दृष्टि फ्रांस के बजाय जर्मनी की ओर केन्द्रित होगी। जर्मनी का श्रमजीवी वर्ग सिद्धान्त और संगठन दोनों दृष्टियों से फ्रांस के श्रमजीवी वर्ग से श्रेष्ठ है; इसे समझने के लिए आपको दोनों देशों के मजदूर आन्दोलन की १८६६ से अब तक केवल तुलना करनी होगी। फ्रांसीसी श्रमजीवी वर्ग की तुलना में जर्मन श्रमजीवी वर्ग की श्रेष्ठता का अर्थ यही होगा कि हमारा सिद्धान्त प्रूधों के सिद्धान्त से श्रेष्ठ है।'

जर्मनों की विजय हुई, क्योंकि वहाँ औद्योगिक विकास में अधिक प्रगति की शक्ति थी। जैसा कि मार्क्स ने निष्कर्ष रूप में कहा था—'सर्वोत्तम संसार' जिसकी प्रूधों रचना कर रहे हैं 'आगे बढ़ते हुए

औद्योगिक विकास द्वारा प्रारम्भ ही कुचल दिया गया।' और मार्क्स ने उस 'मार्च' का स्वागत किया।

उतोपियावाद मूलतः, जैसा कि रावर्ट ए० निस्वेट ने हाल ही में कहा है, 'समाज के लिए खोज' है।

समाज के लिए खोज

हॉब्स (१५८८-१६७९) के बाद से विभिन्न समूहों के प्रति वफादारी से मुक्त होने की चेष्टा होती रही, चाहे यह समूह परिवार और कवीला हो अथवा व्यावसायिक संघ, चाहे गाँव हो अथवा चर्च, और इसकी जगह सारी निष्ठा राज्य के प्रति रखने का प्रयास हुआ। रूसो (१७१२-७८) के समय यह प्रयास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 'आधुनिक दार्शनिकों में रूसो पहले दार्शनिक हैं, जिन्होंने समझा कि राज्य द्वन्द्व का—संस्थाओं के द्वन्द्व ही नहीं, वल्कि व्यक्ति के द्वन्द्व को भी—निपटाने का साधन है।'* रूसो के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ समाज के भ्रष्टाचार और दमन से मुक्त होना है। परम्परागत सामाजिक बन्धनों को उन्होंने जीवन की जंजीर के रूप में देखा। व्यक्ति को जंजीर से छुड़ाने के लिए, भारी असमानता में जकड़े हुए व्यक्ति को उसकी स्वाभाविक स्थिति प्रदान करने के लिए रूसो ने कहा : "प्रत्येक नागरिक तव दूसरे लोगों से विल्कुल स्वतंत्र हो जायगा और पूर्ण रूप से राज्य पर निर्भर वन जायगा और यह कार्य हमेशा उन्हीं साधनों से होता है, क्योंकि राज्य की शक्ति से ही उसके सदस्यों की स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है।" हॉब्स से रूसो तक सामाजिक अनुवंध का अर्थ, सभी समूहों के विरुद्ध अनुवंध और केवल राज्य का एकाधिपत्य, था।

स्वतंत्रता का अर्थ राज्य की इच्छा को स्वीकार करना था। रूसो ने लिखा : "अच्छा है कि यह जाना जाय कि व्यक्तियों के साथ, वे जिस रूप में हैं, किस प्रकार व्यवहार किया जाय, यह अधिक वेहतर है कि उन्हें वह वनाया जाय, जो होने की उन्हें आवश्यकता है। सवसे वड़ी एकान्तिक

* रावर्ट ए० निस्वेट : दि क्वेस्ट फॉर कम्युनिटी, पृष्ठ १४०।

शक्ति वह है, जो व्यक्ति के अन्तरतम में प्रवेश कर जाय और उसके कार्यकलापों की अपेक्षा उसकी इच्छा की उससे कम चिन्ता न करे। यदि आप व्यक्तियों पर आज्ञा देने का अधिकार चाहते हैं, तो व्यक्तियों को बनाइये, यदि आप चाहते हैं कि वे कानून के प्रति वफादार हों, तो उनमें कानून के लिए प्रेम पैदा कीजिये। और तब उन्हें केवल यह जानने की आवश्यकता रहेगी कि उनका कर्तव्य क्या है। यदि आप सामान्य इच्छा (जनरल विल) की पूर्ति चाहते हैं, तो सभी विशेष इच्छाओं को इस व्यापक इच्छा के अनुरूप बनाइये। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि चूँकि नैतिक कार्य विशेष इच्छाओं को व्यापक इच्छा के अनुरूप करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए नैतिक कार्य का राज स्थापित कीजिये !"

इस प्रकार सामान्य इच्छा का सिद्धान्त तत्काल स्वतंत्रता और उसी तरह अधिकारवाद की व्याख्या बन गया, जो १७८९ और उसके बाद सन् १७९३ की फ्रांसीसी क्रान्तियों का आधार बना। इसका तकाजा था (और क्रान्ति में वैसा ही हुआ भी) उन सभी संघगत वफादारियों की समाप्ति, जो राज्य के प्रति नहीं थीं; सामाजिक महत्त्व का बड़ी चतुरता से राजनीतिक महत्त्व में रूपान्तर करना और मानव के उद्देश्यों एवं निष्ठाओं को मिलाकर उन्हें जनवादी राज्य के केवल एक ढाँचे का रूप देना।

राज्यवाद और पूँजीवाद दोनों को शक्ति प्रदान करनेवाली एक ही प्रवृत्ति थी और वह थी, पृथक् और अकेला करनेवाली प्रक्रिया, जिससे इतिहास के साथ-साथ बनी हुई परम्परा और समुदाय समाप्त हो गये और उनके स्थान पर केवल एक स्तर पर किये गये व्यक्ति रह गये। पुराने आधार पर कायम सम्बन्ध समाप्त हो गये, नये सम्बन्ध हमेशा राज्य के अधीन थे। लोकतन्त्र में निष्ठा के बावजूद नये समाज की विशेषता यह थी कि वह संगठनात्मक दृष्टि से कमजोर था। इस परिवर्तन के सम्बन्ध में एक जर्मन समाजशास्त्री टोनीज ने कहा कि यह वंश-परम्परा से व्यवसाय-विशेष में लगे हुए लोगों और गाँव के बीच सामुदायिक सम्बन्ध बराबर

कमजोर करने तथा व्यक्तित्वहीन, आंशिक और यन्त्रवत् सम्बन्धों को प्रश्रय देनेवाला है। (टोनीज ने इन दोनों सम्बन्धों को 'जेमाइन शैफ्ट' और 'जेसेल शैफ्ट' सम्बन्ध कहा है)। यही बात एक फ्रांसीसी समाजशास्त्री दुर्कहीम (१८५८-१९२५) ने भी कही, जो समैक्य दर्शन (फिलॉसफी ऑफ सालिडरिज्म) के व्याख्याता थे। उन्होंने कहा : "हमारे विकास की वास्तव में जो विशेषता है, वह यह कि इसने पहले से स्थापित सामाजिक सम्बन्धों को समाप्त कर दिया, एक-एक करके ये सभी समय की मन्द गति के साथ बह गये या प्रबल क्रान्ति ने उन्हें उखाड़ फेंका और वे इस प्रकार बह या उखड़ गये कि उनका स्थान लेने के लिए कोई चीज तैयार नहीं हो सकी।"

इन परिणतियों को स्वतन्त्रता, प्रगति और व्यक्ति के व्यक्तिकरण की प्रक्रिया माना गया। व्यक्ति को आत्म-निर्भर, स्थिर और पृथक् प्राणी समझा गया, जिसे परम्परा के जाल और समुदाय से इसलिए छुड़ाने की आवश्यकता थी कि वह अपना हित पहचान सके और इस तरह सामाजिक न्याय को समझ सके। व्यक्ति की सच्ची सम्पत्ति उसकी नागरिकता अर्थात् राज्य के साथ उसका मूलभूत सम्बन्ध था। राजनीतिक व्यक्ति सामाजिक उद्विकास को सूत्रबद्ध करनेवाला बन गया। शिल्प का अद्भुत विकास स्वाभाविक जीवन (आर्गेनिक लाइफ) से संगठित जीवन में संक्रमण को आसान बना देता है।

उदारवाद और बहुत अंशों में समाजवाद में यही आकांक्षा और विचार था। उतोपियावाद ने उन्हींका विरोध किया था। ल्योन दुगुई (Leon Duguit) ने लिखा : "व्यक्ति अधिक मनुष्योचित प्रवृत्तिवाला है, वह अधिक सामाजिक प्रवृत्तिवाला है। अनेक समूहों में रहकर ही वह सामाजिक प्रवृत्तियों का विकास कर सकता है।"

उतोपियावाद का सिद्धान्त धीरे-धीरे कई व्यक्तियों के प्रयास से विकसित हुआ, जिनमें अधिक प्रमुख डाक्टर विलियम किंग (१७८६-१८६५) फिलिबुशेज, प्रूधों, क्रोपाटकिन (१८४२-१९२१), लैण्डावर

और बबेर (जन्म १८७८) हैं। इनमें से हरएक ने अपने पूर्ववर्त्ती के विचारों को और समृद्ध बनाया। उतोपियावाद का तत्त्व किसी काल्पनिक खाके या सामाजिक रचना में नहीं, बल्कि स्वाभाविक सम्बन्ध और उसके विकास में है। उतोपियावादियों का तरीका अनुमान से कहीं अधिक अनुभूतिवादी है, वस्तुतः यह सांसारिक, समूल और सुसम्बद्ध विचार है।

उतोपियावादियों के अनुसार स्वतन्त्रता और पूर्ण जीवन के लिए मानव की पिपासा की तभी तृप्ति हो सकती है, जब वह ऐसे समाज में रहे और उसका अंग बन जाय जिसका आधार सुदृढ़ हो। कोई समाज अपने आधार की दृष्टि से उसी सीमा तक सुदृढ़ कहा जा सकता है, जिस सीमा तक वह सहजीवन और एक-दूसरे-के लिए जीवन अर्पण, व्यक्तियों के स्वायत्त संगठन, समाज के प्राणभूत तत्त्वों के किसी बाहरी शक्ति के बजाय स्वयं समाज द्वारा रूप निर्धारण जैसे शुद्ध साहचर्य पर आधृत है। स्वभावतः समाज असमान व्यक्तियों को मिलाकर नहीं, बल्कि सहयोग-मूलक इकाइयों और उनके बीच साहचर्य से बना है। ऐसे साहचर्यमूलक सम्बन्धों के जाले में ही व्यक्ति पोषित और आनन्दित रह सकता है।

"पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और उससे अपरिचित राज्य में समाज का गठन बराबर खोखला होता जा रहा था, इस प्रकार व्यक्तिकरण की आधुनिक प्रक्रिया आणवीकरण की प्रक्रिया के रूप में समाप्त हुई।"* सामन्तवाद के बन्धनों, गला घोंटनेवाली 'मेनर' व्यवस्था† तथा व्यक्ति के ऊपर व्यावसायिक संस्था की जकड़ को निश्चय ही तोड़ना था, किन्तु सामन्तवाद के जाले को तोड़ फेंकने में बड़े-बड़े खतरे और बड़ी-बड़ी परेशानियाँ थीं और उसके बाद अकेले पड़ जाना था। यदि ऐसा

---

* मार्टिन बबेर : पाथ्स इन उटोपिया। मैं इस मौलिक और प्रेरणादायक लेखक का आभारी हूँ।

† मध्यकाल में जागीरदार अपनी जागीर का कुछ हिस्सा लोगों को खेती के लिए दे देते थे। लगान देने के बजाय इन लोगों को जागीरदार की सेना में काम करना पड़ता था। इस व्यवस्था को 'मेनर' कहते थे। —अनुवादक

अकेलापन बढ़ने दिया जाय, तो वह जीवन को बहुत ही भयानक और सभी लोगों को अकेलेपन की दिशा में ले जायगा।

एक महान् फ्रांसीसी रायर कोलार्ड (१७६३-१८४५) ने बहुत सूक्ष्मतापूर्वक सारी स्थिति का सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया है : "हमने पुराने समाज को नष्ट होते हुए देखा और उसीके साथ अनेक स्थानिक संस्थाओं और स्वतंत्र न्याय-संघों की, जो उसके अंग थे, बर्बादी भी देखी। ये व्यक्तिगत अधिकारों के शक्तिशाली प्रतीक और राजतंत्र के ढाँचे में सच्चे गणतंत्र थे। यह सत्य है कि इन संस्थाओं, इन न्याय-संघों को प्रभुसत्ता के परमाधिकार में कोई हिस्सा नहीं प्राप्त था, तथापि इन्होंने उसकी सीमा बाँधी। उनमें से कोई भी नहीं बचा और न उनके स्थान पर किसीका निर्माण हुआ। क्रांति ने व्यक्तियों के अलावा किसीको खड़ा नहीं छोड़ा।......सचमुच जहाँ व्यक्तियों के अलावा और कुछ नहीं है, वहाँ वे सभी मामले जो उनके नहीं हैं, सार्वजनिक मामले हैं, राज्य के मामले हैं......यह बताता है कि हम किस प्रकार तिरस्कृत राष्ट्र बन गये हैं।"

इस स्थिति में सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि समाज का फिर-से ढाँचा बनाया जाय, उसके अंगों को बनानेवाले तत्त्वों का ऐसा पुनर्निर्माण किया जाय, जो 'एकाकी व्यक्ति रूपी अणुओं का योग नहीं, बल्कि ऐसी स्वाभाविक अनुरूपता हो जिसमें बराबर बढ़ने का गुण हो और जो अनेक समूहों को मिलाकर एक-दूसरे का सुख-दुख अनुभव करनेवाला लघु समाज' हो (लैण्डावर)। यह राजनीतिक कार्य नहीं, बल्कि सामाजिक विकास है। अब प्रश्न यह नहीं रह गया है कि एक राजनीतिक शासन के स्थान पर दूसरा शासन कायम किया जाय, बल्कि यह है कि समाज से अनुचित रूप से धन लेनेवाली राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर ऐसे शासन को प्रश्रय दिया जाय, जो स्वयं समाज का भाव व्यक्त करनेवाला हो।

सामन्तवाद से मुक्ति के लिए किये जानेवाला आन्दोलन केवल

एक संघ अर्थात् राज्य की सर्वशक्ति की ओर ले जा रहा था और दूसरे संघों तथा सम्बन्धों को खोखला और बर्बाद कर रहा था। सचमुच एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी, जिसमें हॉब्स के शब्दों में 'छोटे-छोटे व्यक्तियों को आत्मसात करके एक बड़ा मगरमच्छ' बन रहा था। आत्मसात किये जा रहे वे छोटे-छोटे और एकाकी व्यक्ति थे। हॉब्स का सारा दर्शन वस्तुतः खोखला था। उनके समाज के चित्र में ऐसे व्यक्ति हैं, जो पृथक्, असुरक्षित और केवल लाभ तथा अधिकार की चिन्ता करनेवाले हैं। उसमें एकान्तिक राज्य का एकान्तिक व्यक्ति से मुकाबला होता है। ओटो जायर्क ने लिखा : "सार्वभौम राज्य और सार्वभौम व्यक्ति अपने अस्तित्व के स्वाभाविक और विधिसम्मत क्षेत्रों की व्याख्या के लिए लड़ते रहे, बीच के सभी संघटन पहले नीचे गिराये गये और बाद में खतम कर दिये गये।" बाद में और कुछ नहीं, केवल राज्य बच जाता है जो हर जानदार चीज के लिए संकट उत्पन्न करता है।

राज्य का एकमात्र विकल्प लघु समाज हैं, जिनका आकार छोटा और ढाँचा घना हो। वे समाज के शक्ति-वर्धन की शुरुआत हैं, क्योंकि वे मौलिक मानवीय आवश्यकताओं का, जिनका मतलब एक साथ रहना, एक साथ काम करना और एक साथ अनुभव प्राप्त करना है, ध्यान रखते हैं। इन लघु समाजों का साधारण आकांक्षा से ही स्वाभाविक विकास हो सकता है और इनके लिए किसी बहुत बड़े संगठन की जरूरत नहीं है। हमें इस मार्ग पर पुनः चरण बढ़ाना चाहिए।*

व्यक्ति में समाज के ऐसे सजीव गुण सामाजिक सम्बन्धों से बनते हैं, निर्बाध मेलजोल उन्नत लघु समाज के कोशाणु होते हैं। दो शक्तियाँ साहचर्य के तत्त्व को खतम करती जा रही हैं, एक है केन्द्रीकरण का सिद्धान्त और दूसरा है सर्वोच्चता का सिद्धान्त। केन्द्रीकरण सदस्यों की प्रेरणाशक्ति, अधिकार और ओज को चूस लेता है, नींव को कमजोर करके चोटी को शक्ति पहुँचाता है। केवल राज्य में ही नहीं, सभी संघों में यह

* ई० ए० गटकिण्ड : कम्युनिटी एण्ड इनवायरनमेण्ट।

सिद्धान्त घुसा हुआ है, उनका सारा ढाँचा, सारा आन्तरिक जीवन परिवर्तित कर रहा है और इस प्रकार उनको भी राजनीतिक रूप दे रहा है। सर्वोच्चता का सिद्धान्त एक संघ को ऊँचा उठाता है। यह संघ राष्ट्र या धर्म अथवा पार्टी, बल्कि यों कहना चाहिए कि राज्य ही होता है, जिसे सर्वोच्चता का सिद्धान्त इस कदर ऊँचा बना देता है कि अन्य सभी संघ उसके इर्द-गिर्द चक्कर लगानेवाले खुशामदी अनुचर हो जाते हैं और इस प्रकार समाज 'निष्प्राण' और 'निस्सार' बन जाता है। ऐसी स्थिति में विकेन्द्रीकरण और अनेकवाद स्वतंत्रता के पूर्वानियोग (पहले पूरी की जानेवाली शर्त) बन जाते हैं।

फिर से समाज के सुदृढ़ आधार का निर्माण समाज के सदस्य अपने रहन-सहन के ढंग, अपनी भावनाओं और विश्वास के बल पर ही कर सकते हैं। अतः उतोपियावाद विचारों का एक समूह नहीं, बल्कि जीवन का एक जाल है। बवेर के शब्दों में यह सामयिक और सब स्थानों के लिए है, इसके आरोपण और फलने-फूलने के लिए सभी समय और सभी स्थान उपयुक्त हैं। अनातोले फ्रांस ने बहुत सोच-विचारकर लिखा है : "जिन्होंने जनता की खुशहाली की सबसे अधिक चिन्ता की, उन्होंने अपने पड़ोसियों की हालत बहुत दयनीय बना दी।" इसीलिए उतोपियावादी पड़ोसियों के साथ सहयोग से जीवन बिताने में विश्वास करते हैं—यही 'लोगों की खुशहाली' का अथ और इति है।

साहचर्य का स्वभाव और आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है, जब व्यक्ति अपने को अपने स्थानीय और क्षेत्रीय कम्यून, अपने काम और व्यावसायिक कम्यून, और दूसरे स्वेच्छाप्रेरित सहयोगों में लीन कर दे। इन सभी में प्रतिनिधित्व की बात कम और स्वायत्तता की बात अधिक हो। जोसेफ पाल बोनकोवर द्वारा अपनी पुस्तक 'एकॉनामिक फेडरलिज्म' में प्रकट किये गये इन विचारों में काफी सत्य है कि 'एक ही पेशे के व्यक्तियों में उसी कम्यून के अन्य निवासियों की अपेक्षा अधिक समैक्य होता है।'

शक्ति प्रदान करनेवाले संघों में सहकारिता का रूप सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु

खरीद-बिक्री या ऋण जैसे निश्चित या सीमित कार्य करने से केवल क्षमतागत लाभ होता है। सहयोग का हार्दिक आनन्द नहीं अनुभव होता। उपभोक्ताओं की सहकारिता में साहचर्य का स्पर्श मात्र है। उत्पादकों की सहकारिता अधिक सुख और सुविधा देनेवाली होती है और उसमें अधिक रचनात्मक गुण होते हैं। किन्तु सन्तोषदायक और लाभप्रद सहयोग पूरे सहकार से ही प्राप्त होता है, जिसमें उत्पादन और उपभोग के कृत्य एक-दूसरे के साथ जुड़े हों! क्रोपाटकिन के शब्दों में "ऐसे सहकार के लिए 'क्षेत्र' चाहिए, अर्थात् इसका पूर्ण विकसित रूप ग्राम-कम्यून है जहाँ कम्यून जीवन उत्पादन और उपभोग के समन्वय पर आधृत हैं, जहाँ उत्पादन का मतलब केवल कृषिगत उत्पादन ही नहीं समझा जाता, बल्कि उसे कृषि उद्योग और दस्तकारी के सहयोग का फल माना जाता है" (बबेर)।

समाजवाद मामूली दिखावे के रूप में नहीं, बल्कि ठोस एवं व्यापक रूप में ही स्थापित किया जा सकता है और वह भी, जैसा कि लैण्डावर ने कहा है, 'धरती पर स्वामित्व की स्थिति में।' 'समाजवाद का संघर्ष धरती के लिए संघर्ष है।' व्यक्ति अपने आसपास के व्यक्तियों के घनिष्ठ साहचर्य और धरती के साथ घनिष्ठता से ही अपने को परिपूर्ण करता है।

धरती और व्यक्तियों से यह दोहरा सम्बन्ध स्थापित करने का मतलब पूँजीवाद द्वारा समाज के आधार को कंगाल बनाये जाने से बचाना और राज्य के मोटापे को बढ़ाने से रोकना है। यह व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष समाजवाद है, जिसमें सभी व्यक्ति शामिल हो सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार किसी व्यक्ति को एकाकी न रहना चाहिए, उसी प्रकार किसी समूह को भी एकाकी न रहना चाहिए। पुनर्निर्माण का मूल सिद्धान्त संघवाद है। 'संघवाद का सिद्धान्त उसी विचार से स्वाभाविक रूप में निकला है, जो सहकारिता प्रणाली का आधार है। जिस प्रकार सहकारितामूलक समाज कतिपय आवश्यकताओं की मिल-जुलकर पूर्त्ति के लिए व्यक्तियों को

एकताबद्ध करता है, उसी प्रकार विभिन्न कोषाणु (सेल्स) एक-दूसरे के साथ एकताबद्ध होते हैं।*

सहकारिता और ग्राम-कम्यून भी प्राणहीन सूखे शरीर जैसे हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, क्रोपॉटकिन ने संकेत किया है कि आधुनिक सहकारी आन्दोलन, जो मूलतः और प्रधानतः 'पारस्परिक सहायता' के रूप में था, प्रायः 'पूँजी में हिस्से की व्यक्तिवादिता' के रूप में विकृत हुआ है और उसने 'सहकारितागत स्वार्थवाद' को प्रश्रय दिया है। एक-दूसरे से पृथक्करण और समाज से पृथक्करण रोकने की जरूरत है। कोई समूह, कोई कम्यून तभी स्वतंत्र, स्वस्थ और परिपक्व बना रह सकता है, जब वह अपने जन्मदाता किंग और बुशेज द्वारा बतायी गयी सतर्कताओं को ध्यान में रखे। सहकारी समिति को 'मजदूर-मालिकों' का ही संघ रहना चाहिए और दोनों कार्यों को कभी पृथक् न होने देना चाहिए। जब एक सहकारी समिति बड़ी हो जाय, तो उसके हिस्से कर दिये जायँ; किन्तु उसकी आंगिक एकता बनी रहनी चाहिए अर्थात् उसे अपने सामान्य सदस्य की 'परिधि' में ही रहना चाहिए। ऐसे ही संगठनों में अपनी ओर व्यक्तियों को ही आकृष्ट करने की नहीं, बल्कि दूसरे लोगों में भी अपना संघ बनाने की प्रेरणा फूँकनेवाली 'दूरगामी प्रभावशक्ति' होगी। संगठन जब बड़े हो जाते हैं या पुराने पड़ जाते हैं, तब उनमें बोदापन आ जाता है। "संगठन जब पूर्णतः या अंशतः 'महन्तवाद' के रूप में कड़ा हो जाता है, तब यह बोदापन ही काम करता है, और मानव जीवन की कोई भी गति रुक जाती है।"†

बोदापन को केवल स्फूर्तिदायक प्रवृत्ति ही दूर कर सकती है। उतोपीय समाजवाद में ऐसी भावना का संकल्प होता है। जैसा कि लैण्डावर ने कहा है : "समाजवाद सभी कालों में सम्भव और असम्भव है,

---

* म्लादेनात्स : हिस्ट्री ऑफ दि कोआपरेटिव थ्योरी।

† होरेस कालेन : दि लिबरल स्पिरिट, पृष्ठ ४८।

जहाँ इसका संकल्प और इसके लिए प्रयास करनेवाले उपयुक्त लोग हैं वहाँ यह सम्भव है, जहाँ लोग इसके लिए संकल्प नहीं करते या यों ही संकल्प तो कर लेते हैं' किन्तु इस दिशा में कुछ करने में असमर्थ हैं, वहाँ यह असम्भव है।" इस प्रकार उतोपियावाद अपनी चरितार्थता के लिए किसी एक वर्ग या किसी एक राष्ट्र की ओर नहीं देखता—यह सभी व्यक्तियों की ओर और खासकर उनकी ओर देखता है, जिन्हें नयी दृष्टि का नशा है। निश्चय ही यह 'कुछ लोगों का समाजवाद' है, जहाँ अगुआदार अपने साहचर्यमूलक कार्यों से लक्ष्य और वास्तविक के बीच का भेद दूर करते हैं। जीवन और भावना में परिवर्तन करनेवाले सभी बड़े आन्दोलनों को हमेशा अगुआदारों (Mujaddid, Chaluzim) की आवश्यकता हुई है। उतोपियावादियों के अन्तर में अनुभव होनेवाले सत्य को 'व्यक्तियों के हृदय में व्याप्त शक्तिशाली तनावों को' शान्त करना है, 'उखड़ी और धूल की तरह उड़ती हुई जनता' के हृदय में नया अंकुर उत्पन्न करना है।

उतोपियावाद में निश्चय ही रहस्यवाद की एक रेखा है। 'समाज में (सच्चा) परिवर्तन प्रेम, श्रम और शान्ति से ही हो सकता है।' लैण्डावर ने अपनी पुस्तक 'दि रिवोल्यूशन' में लिखा है कि इन शक्तिशाली आन्दोलनों की आग, आह्लाद और भ्रातृभावना में संयम और प्रेम से निरन्तर भावात्मक संयोग की कल्पना और बोध का आविर्भाव होता है। इस आध्यात्मिक शक्ति के बिना हम जी नहीं सकते, इसके बिना हम बर्बाद हो जायेंगे। लैण्डावर का जीवन-विचार एक महत्त्वपूर्ण वाक्य में यह था कि 'समाजवाद मानव के सामान्य जीवन को स्वतन्त्र सामान्य भावना में, अर्थात् धर्म में आबद्ध करने का प्रयास है।' उनके इस धर्म में कोई पोंगा-पन्थी नहीं हैं। गुरुदेव टैगोर (१८६१-१९४१) के शब्दों में यह 'मानव-धर्म' है।

प्रेम और उत्साह पहले मानव के हृदय की कठोरता को पिघलाते हैं। 'ऐसी है समाजवादियों और उनके द्वारा जनता के बीच शुरू किये गये आन्दोलन की जिम्मेदारी। उनका काम कड़े हृदयों को पिघलाना

है, ताकि उनमें जो तत्त्व दवा हुआ है वह ऊपर आ जाय, ताकि जो गुण वस्तुतः हैं किन्तु मृत प्रतीत होते हैं वे उमड़ आयें और विकसित हो सकें।' तव मानव ही अपने चारों ओर के कठोर और नीरस जीवन में जीवन-स्रोत और सामुदायिक भावना के चिह्न ढूँढ़ता है। ऐसा करने पर यह उसका कर्तव्य वन जाता है कि वह जहाँ भी हो, वहाँ सामुदायिक भावना के स्रोतों का पता लगाये और उन्हें प्रश्रय दे और अपने जीवन, अपने कार्य द्वारा पीड़ित समाज को स्वस्थ जीवन-तत्त्व प्रदान करे। मूल और अराजनीतिक अर्थ में उतोपियावाद संरक्षणवादी है।

आधुनिक समाज का भयानक खतरा यह है कि व्यक्ति एक सामाजिक शून्यता में विना किसी आधार के वढ़ा जा रहा है। भयानक सरलीकरण की स्थिति से तभी वचा जा सकता है, जव व्यक्ति जागरूक होने के साथ ही महत्त्वपूर्ण सम्वन्धों को स्वीकार करे और अपने चारों ओर संघों का व्यापक और मकड़ी के जैसा जाल वना ले। संगठन लादे जाते हैं, संघों का निर्माण किया जाता है, संगठन में व्यक्ति उद्देश्य (Object) और संघ में विधेय (Subject) होता है। वर्दयाएव के शब्दों में कहा जाय, तो 'व्यक्ति के लिए समाज उद्देश्य है, जो व्यक्ति को वाह्यतः सीमावद्ध करता है। उसे समाज को विधेय के रूप में वदलना पड़ेगा जो स्वयं अपना समुदायगत और समाजगत रूप स्थिर करे।'*

प्रूधों ने १८६० में ही अनुभव किया था : "यूरोप को अव विचार और व्यवस्था की वीमारी है। वह क्रूर शक्ति और सिद्धान्तों के प्रति घृणा के युग में प्रवेश कर रहा है।" अगले वर्ष उन्होंने इस दुखद तथ्य की ओर संकेत किया कि लोग स्वतन्त्रता के उन अवशेषों से भी ऊव गये हैं, जो उनके पास वच रहे हैं और उनसे भी मुक्ति चाहते हैं। 'इस स्वतन्त्रता से भय' का क्या कारण था? प्रूधों ने अनुभव किया कि स्वशासनाधिकार से पीछे कदम हटने के पीछे अधिकार की वढ़ती हुई

---

* निकोलस दर्दयाएव : दि रीम ऑफ स्पिरिट एण्ड दि रीम ऑफ सीजर, पृष्ठ ५८।

भूख छिपी हुई है। इसका साफ इलाज जीवन की सुसम्बद्धता ही था, जो स्वशासनाधिकार को मजबूत कर सके। केवल साहचर्यमूलक जीवन ही स्वतन्त्रता का जीवन हो सकता था। ऐसे जीवन के लिए धरती से सम्बन्ध की आवश्यकता है। धरती में जड़ होने से ही विकास की खुराक प्राप्त हो सकती है।

उतोपियावादी ऐसे गाँव कम्यून की कल्पना करते हैं, जो कृषि-दस्तकारी-उद्योग के क्रियाकलापों में लगे हों; इस कृषि, दस्तकारी और उद्योग का स्वामित्व और संचालन सहकारिता के आधार पर हो और ऐसे कम्यूनों की बराबर वृद्धि होती रहे तथा संघ-आधार पर इनमें सहयोग हो। 'समाजों का समाज' बनाने के लिए परस्पर सहयोग करनेवाली स्वतन्त्र इकाइयों की पूर्णता और सभी इकाइयों को स्वशासनाधिकार हो, यही स्वस्थ व्यक्तियों और स्वस्थ लघु समाज की मान्यता हो सकती है। व्यक्ति आकारहीन और तत्त्वहीन संसार में स्वतन्त्र नहीं है, उसकी स्वतन्त्रता, अभिलाषा और सम्पत्ति उस आकार, आदर्श और स्थिरता में निहित है जिसे वह अपने प्रयासों से बनाता है। सामाजिक प्रयासों और आध्यात्मिक अवबोध से व्यक्ति सीमाओं को समझता है और उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

औद्योगिक क्रान्ति की सफलता के बाद भी पश्चिमी यूरोप में उतोपीय समाजवाद के विभिन्न पक्षों की ओर लोग आकृष्ट हो रहे थे और

उतोपीय उफान

उनमें अपनी शक्ति लगा रहे थे। स्वभावतः सबसे बड़ी सफलताएँ स्वीडेन, डेनमार्क, फिनलैण्ड और स्विटजरलैण्ड जैसे छोटे देशों में हुईं। दूसरे देशों में भी यह भावना गतिमान रही।

सन् १९३६ तक उत्तरी और पश्चिमी यूरोप के विभिन्न देशों में चौथाई से लेकर तिहाई तक जनता उपभोक्ता सहकारी समितियों के अन्तर्गत थी। सहकारी समितियाँ सामान्यतः १० प्रतिशत और कहीं-कहीं ४० प्रतिशत तक भी खुदरा व्यापार करती थीं। बासेल (स्विटजरलैण्ड) में

८० प्रतिशत नागरिक सहकारी समितियों के सदस्य थे और नगर में तथा उसके बाहर २५० केन्द्र उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे थे।

रोचडेल के २८ अगुआदारों ने, जो सभी कारीगर और अधिकतर बुनकर थे, ऐसा पौधा लगाया जिसने बढ़कर अपना विस्तार एक वन के रूप में कर लिया। इंग्लैण्ड में सहकारी समितियों के ७५ लाख सदस्य थे और ये समितियाँ १० खरब पौण्ड से अधिक का लेनदेन करती थीं। १८७३ में सहकारिता ने उत्पादन के क्षेत्र में अपना पैर बढ़ाया और पचास वर्षों में उसका वार्षिक उत्पादन तीन करोड़ ४६ लाख पौण्ड का हुआ।

फ्रांस में दो प्रसिद्ध प्रयोग हुए। गाइज में जाँ वैपटिस्ट गोद्रिन (१८१७-८८) द्वारा स्थापित मजदूरों का उत्पादक संघ 'ला फामिलि-स्तेरे' दो विश्वयुद्धों के बावजूद ढलाई के कारखाने के रूप में फलफूल रहा है ! शारेन्ते में एक क्षेत्रीय सहकारी संघ का विकास हुआ है। १८७२ में शारेन्ते (Charente) क्षेत्र ने १८ करोड़ गैलन शराब तैयार की। ७ वर्ष बाद, पत्तियों की बीमारी के कारण अंगूर की खेती की भारी क्षति होने से यह उत्पादन घटकर २० लाख गैलन तक आ गया। डेयरी फार्मिंग, कागनाक (एक प्रकार की फ्रेंच शराब) शराब की चुआई और बिक्री, आटा मिलों, क्रीम बनाने के कारखानों और सहकारिता के आधार पर ऋण देने की व्यवस्था करके इस संकट पर विजय पा ली गयी।*

स्वीडेन ने सहकारिता के कई नये मार्ग और नये तरीके निकाले। उसने एकाधिकार के विरुद्ध संघर्ष किया और उसे समाप्त करने में सफलता प्राप्त की। यह एकाधिकार आटे की पिसाई, रबड़ के खोलों और इले-

---

* युद्धोत्तर फ्रांस में कई लघुसमाज संगठित किये गये हैं, जहाँ उत्पादक और उपभोक्ता सहकारी समितियों का पूर्ण विकास हुआ है। मध्य बीसवीं शताब्दी के उतोपियावाद के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए क्लेयर एच० बिशपलिखित 'आल थिंग्ज कामन' में देखिये।

क्ट्रिक लैम्पों में था। कंज्यूमर-फोरबण्ड (थोक काम करनेवाली सहकारी समिति) ने काफी समय लेनेवाले और जटिल प्रक्रिया के न्यायालयों या प्रशासनिक कार्यवाहियों का सहारा न लेकर प्रत्यक्ष और उत्पादन की कार्यवाही के माध्यम से एकाधिकार के विरुद्ध एक निराला कदम उठाया। 'लूमा' लैम्प आज एक नये पथ को प्रकाशित कर रहा है।

ग्रामीण विद्युत् सहकारिता स्वीडेन में विकसित सहकारी उद्योग का एक नया रूप है। सबसे महत्त्वपूर्ण उन्नति छोटेसे कृषिप्रधान देश डेनमार्क में हुई। उसका आर्थिक व्यापार खाद्यान्न-निर्यात था। बराबर खेती होने से उसकी धरती की उर्वरता घटती जा रही थी और निर्यात का बाजार बन्द होता जा रहा था। डेनमार्क ने दुग्ध-व्यवसाय (डेयरी फार्मिंग) को अपनी अर्थ-व्यवस्था का आधार बनाया और सहकारिता के ढंग पर उसका संचालन किया। ४० लाख से कम आबादी के इस देश में लगभग आठ हजार सहकारी समितियाँ हैं। इनमें उपभोक्ता सहकारी समितियों की संख्या दो हजार, दुग्ध व्यवसाय समितियों की १४००, चारे की खरीद करनेवाली समितियों की १४००, रासायनिक खाद की समितियों की १५०० और सूअर के मांस का कारबार करनेवाली समितियों की संख्या ६१ है। खरीद, माल की सुरक्षा और बिक्री करनेवाले सहकारी संगठनों ने २५ से ९० प्रतिशत तक विभिन्न कृषिगत कार्य किये। सहकारिता का जाल क्रय-विक्रय, पैकिंग, बैंकिंग, बीमा, बिजली, मशीन के औजार, पशु वंश-वृद्धि-संघ और क्रीम के कारबार तक में फैला हुआ है।

यह महान् सफलता इसलिए सम्भव हुई कि डेनमार्क के किसान अपनी भूमि के ही नहीं, अपने राज्य के भी मालिक थे। डेनमार्क स्वतंत्र और खेती करनेवालों का लोकराज्य था। लोगों में सामुदायिक भावना थी। एन० एन० एफ० ग्रण्डविग (१७८३–१८७२) द्वारा जन-साधारण के लिए शुरू किये गये स्कूलों से इसकी शुरूआत हुई। ग्रण्डविग पादरी, कवि, इतिहासकार और शिक्षाविद् थे। उनके प्रौढ़ स्कूलों में श्रम और

साहित्य में दिलचस्पी, इतिहास और सामुदायिक जीवन की प्रशिक्षा का समन्वय होता था । अनुमान लगाया गया था कि प्रौढ़ जनसंख्या का तृतीयांश इन्हीं स्कूलों में शिक्षित हुआ और उसके बाद उसने जनसाधारण में पायी जानेवाली सहयोग भावना को सहकारिता की दिशा में मोड़ा । डेनमार्क उतोपियावाद का चमकता हुआ ऐसा श्रेष्ठ रत्न है, जो 'विज्ञान-वादी' पश्चिम में अभी भी बचा हुआ है ।

जिस प्रकार सफलता के क्षेत्र में, उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में भी उतोपियावाद अपना प्रभाव डाल रहा है ।

इटालियन समाजवाद ने उतोपियावाद को देर से समझा और वह भी १९२४ के बाद अपने पुनरुत्थान के भयपूर्ण 'ग्रीष्म' काल में । इसकी कल्पना की झलक जियाकोमो मैतिओती (१९८५–१९२४), पियरो गोवेती (१९०१–२६) और कार्लो रोजेती (मृत्यु १९३७) के जीवन में मिली । गोवेती की आकांक्षा 'लघु समाजों की उदार चेतना' लानी थी । रोजेती की शिक्षा थी उदार :समाजवाद । गोवेती की उत्साहभरी ओजपूर्ण तरुणाई पुरातनवादी विचारों और असाधारण विवेक से दीप्तिमान थी, जो उतोपियावादियों की विशेषता होती है । कारखानों और कम्यूनों में उन्होंने समाजवाद का वास्तविक प्रकाश देखा । रोजेती ने अपने निष्कासित देशवासियों को सलाह दी कि आप अपनी पार्टियों की सदस्यता को ताक पर रखिये और अपना ध्यान 'न्याय तथा स्वतंत्रता' पर केन्द्रित कीजिये । प्रूधों की आवाज की प्रतिध्वनि बराबर गूँजती रहती है ।

सन् १८७० के बाद पश्चिमी यूरोप के देशों ने निश्चित रूप से नया मोड़ लिया और उतोपीय आधार पर विकास की सम्भावना केवल पूर्वी यूरोप के देशों और वह भी खासकर विशाल देश रूस में रह गयी ।

रूस में उतोपियावाद और पाश्चात्यवाद के बीच बराबर झगड़ा चलता रहा, किन्तु यह झगड़ा कभी बहुत स्पष्ट रूप में नहीं हुआ । रूस का गाँव-समाज क्या सहकारिता पर आधृत राज्य का बीज बन सकता है या पूँजीवाद के हथौड़े की चोट के सामने छिन्न-भिन्न और विलुप्त हो

जायगा ? यह महत्त्वपूर्ण और भाग्यपूर्ण प्रश्न १८८१ में वेरा जासुलित्स ने कार्ल मार्क्स से पूछा था। मार्क्स ने अपने विभिन्न उत्तरों में कहा कि पूँजीवादी विकास की 'ऐतिहासिक विपत्ति' को मैंने अपनी पुस्तक 'कैपिटल' में स्पष्ट रूप से पश्चिमी यूरोप तक ही सीमित रखा है। रूस में ग्राम-समाज 'धीरे-धीरे अपना पुराना केंचुल फेंक सकते और सारे राष्ट्र में स्वयं सामुदायिक उत्पादन कर सकते हैं।' यदि गाँव-समाज, खेतिहर, अपना आर्थिक और प्रशासनिक संगठन स्वयं चुन सकें, और ग्राम-समाजों का एकाकीपन दूर किया जा सके तथा सीमित सामाजिक चेतना का विस्तार हो सके अर्थात् उनमें संघ-भावना भरी जा सके, तो रूस विकास के एक नये मार्ग की खोज कर सकता है। 'रूस के कम्यून को बचाने के लिए रूसी क्रान्ति की आवश्यकता है।' क्रान्ति समय से होनी चाहिए और उसे अपनी पूरी शक्ति ग्राम-समाज के निर्बाध उदय में लगानी चाहिए। जो उत्तर वस्तुतः भेजा गया वह अन्तर्वस्तु की दृष्टि से इतना सम्पन्न नहीं था, यह उत्तर से अधिक भविष्यवाणी था।

जनवादियों ने छोटे पैमाने के उद्योगों पर, सहकारिता पर जोर दिया और कहा कि 'मुक्ति का एकमात्र यही मार्ग है।' किन्तु जार की नीति बिल्कुल इसके विपरीत थी, जैसा कि निकोलायोन ने कहा है—शताब्दियों की परम्परा को कायम रखने के बजाय, उत्पादक और उसके उत्पादन साधनों के बीच प्राचीन काल से चले आ रहे सम्बन्ध का विकास करने के बजाय, उत्पादन के साधनों पर खेतिहर के स्वामित्व पर आधृत उत्पादन की विधियों में पश्चिमी यूरोप की वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रयोग करने के बजाय, उत्पादन के साधनों को उनके हाथों में केन्द्रित करके उत्पादनक्षमता बढ़ाने के बजाय, पश्चिमी यूरोप के उत्पादन के ढंग से नहीं बल्कि उसके संगठन, उसके शक्तिशाली सहयोग, उसके श्रम-विभाजन और उसकी मशीनों आदि से लाभ उठाने के बजाय, भूमि पर खेतिहर समाज के स्वामित्व के सिद्धान्त को प्रश्रय देने और इसका खेतिहर द्वारा खेती के लिए अमल कराने के बजाय, विज्ञान और उसके प्रयोग को

किसानों में जनप्रिय बनाने के बजाय अर्थात् इन सभी चीजों के बजाय हमने इनके बिलकुल विपरीत रास्ता अपनाया है। यद्यपि उत्पादन के पूँजीवादी ढंग किसान के शोषण पर आधृत हैं तथापि हम पूँजीवादी ढंग को रोकने में असफल रहे हैं। इसके विपरीत हमने अपनी पूरी ताकत से अपने जीवन को अस्त-व्यस्त कर देने में सहायता की।

स्वतन्त्रता और राजनीतिक अधिकार से वंचित रूसी किसान में विशृंखलतामूलक क्रम को रोकने का सामर्थ्य नहीं था। जार के उखाड़ फेंके जाने पर किसान की तरती हुई स्वतन्त्रता बोल्शेविक हिमखण्ड से दब गयी।

रूसियों का 'नष्ट स्वप्न' फिलिस्तीन के यहूदियों के पास आया। एशिया के जिस प्राचीन खण्ड में कई बार पाँवों में बेवाई लिये हुए भटकता हुआ यूरोप आया था, उसी इजराइल में 'प्रयोग और त्रुटि' के द्वारा उतोपीय निरीक्षण का विकास हुआ। डायसपोरा के यहूदी आज की मूलहीन मानव जाति की पूर्व छाया थे। वे गृहहीन थे, क्योंकि वे भूमिहीन थे; भले ही आज वे संसार के महाजन हैं।

राष्ट्र-भूमि का निर्माण मूल से ही प्रारम्भ करना था। फिलिस्तीन में जमीन उसी प्रकार उर्वरता रहित और बेकार है, जिस प्रकार आज का तत्त्वरहित समाज। जिस प्रकार समाज को नये ढाँचे में ढालना पड़ता है, उसी प्रकार भूमि को भी फिर से तैयार करना था। कई शताब्दियों की अशांति और निराशा के बाद जो लोग विश्व के विभिन्न भागों से आये, उन्हें यह जानना था कि भूमि हमसे क्या चाहेगी और भूमि हमें क्या देगी। चोवथ जियोन (Chovath Zion) को भूमि से प्रेम करना और उसकी रक्षा करनी पड़ी थी। 'हम जानते हैं कि भूमि श्रम और निःस्वार्थता का खयाल रखती है। यह उसी प्रकार से लालची या लोभी हृदयवालों के हाथ में नहीं रहती।' यह विचार जोसेफ बरात्ज के हैं जो उन्होंने अपनी कहानी 'ए विलेज बाई दि जार्डेन' (जुर्दान नदी के

किनारे का एक गाँव) में व्यक्त किये हैं। ये ऐसे विचार हैं, जिन्हें प्रत्येक पथदर्शक या अगुआदार ने समझा है।

फिलिस्तीन को यहूदियों की राष्ट्रभूमि बनाना था और यह ऐसा कार्य था, जो स्वयं राजनीति से भी बड़ा था। जैसा कि चेम वेजमैन (१८७४-१९५२) ने कहा है: "दूसरे व्यवहारवादी पक्ष ने, जो हमारा पक्ष था, यहूदी धर्म और उसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में अधिक स्वाभाविक दृष्टिकोण अपनाया। इस पक्ष के लोगों ने यहूदी संसार को यह सत्य बताने की कोशिश की कि राजनीतिक क्रियाकलाप ही काफी नहीं है। इसके साथ ही ठोस एवं रचनात्मक भूमि पर वास्तविक अधिकार (जिससे यहूदी चेतना को नैतिक बल प्राप्त होगा), हिब्रू भाषा का पुनरुत्थान, यहूदी इतिहास सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार और यहूदी धर्म के स्थायी मूल्यों के प्रति अनुरक्ति में वृद्धि की भी आवश्यकता है।"*

फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्र की स्थापना कराने में सफल यहूदी कट्टरपन्थी, संकीर्ण और यथार्थवाद से परे केवल सिद्धान्तवादी नहीं थे। उनके दृष्टिकोण में स्वाभाविकता थी। कई देशों में शताब्दियों से व्यापार और रुपये का लेनदेन करनेवाले यहूदी तभी फिलिस्तीन में बस और राष्ट्रभूमि प्राप्त कर सकते थे, जब वे कृषि को मुख्य कार्य के रूप में अपनाते। 'जनता की सच्ची आत्मा—उसकी भाषा, उसकी कविता, उसके साहित्य, उसकी परम्परा—का गाँव में ही मानव और धरती के बीच घनिष्ठता स्थापित होने पर प्रस्फुटन होता है। नगरों का काम गाँवों के फलों का 'संरक्षण' करने से अधिक और कुछ नहीं है।'†

फिलिस्तीन की स्थिति और यहूदीवाद की शिक्षा के फलस्वरूप अग्रगामियों ने पूर्णरूप से सहकारिता पर आधृत गाँव कम्यूनों की स्थापना की। ये कम्यून जैसे-जैसे बड़े होते गये, हिस्सों में बँटते गये; फिर भी संघ-सम्बन्ध से वे एक-दूसरे के साथ जुड़े रहे। क्वूत्जा (Kvutza) में

* चेम वेजमैन : ट्रायल एण्ड एरर, पृष्ठ १५७।

† वही पृष्ठ २४६।

सहयोगपूर्ण जीवन और श्रम का विकास हुआ और उसने सामुदायिक जीवन को बल प्रदान किया। सच्चा समाज उन लोगों का नहीं होता, जो बराबर साथ रहते हैं, बल्कि सहयोग करनेवाले ऐसे साथियों से बनता है, जिनकी एक-दूसरे तक पहुँच होती है और जो एक-दूसरे की मदद के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। यह उसी दिशा में एक साथ गति है।

इजराइल की उन्नति शुद्ध रूप से प्रयोग करने और त्रुटि को समझने, सामुदायिक जीवन में बराबर सोच, गलती पकड़ने की दृष्टि और उसके साथ ही सामुदायिक भावना के रचनात्मक प्रवाह से हुई है। यहूदी धर्म के प्रचारकों को असली और प्रेरणाप्रद उपदेश के दर्शन किबुत्ज (kibbutz) और क्वूत्जा (kvutza)* में होते हैं। यहूदीवाद और इजराइल में आलोचना की बहुत-सी बातें हो सकती हैं, किन्तु उनके उतोपीय मूल और यहूदीवाद तथा इजराइल द्वारा उस परम्परा को नये

---

† "मुझे अक्सर इस बात से आश्चर्य हुआ है कि जहाँ एमर्सन के आचरण सिद्धान्त को अपनाकर भी 'ब्रुक फार्म'', समाजवादी आदर्श अपना कर भी रावर्ट ओवेन की न्यू हार्मनी और उत्तरी अमेरिका के साकार्स से लेकर एफराटा और अमाना आदि तक कई धार्मिक लघु समाज विफल और विश्रृंखल हुए, वहीं किबुत्ज सफल कैसे हुए। निश्चय ही सामुदायिक जीवन का असाधारण पक्ष समाज के आन्तरिक ढाँचे और सम्पत्ति तथा उपभोग के सामुदायिक रूप को मिलाकर बना है। शेष सभी बातें इसी ढाँचे पर निर्भर हैं। यह एक परिवार की तरह जीवन में हाथ बँटाना है। इसका अर्थ स्वेच्छा से व्यक्तिगत अधिकार का बहुत बड़ा हिस्सा उस समूह को दे देना है, जिसके साथ व्यक्ति के सम्बन्ध परिवार की अपेक्षा कहीं अधिक नाजुक हैं। ऐसे समुदाय को छिन्न-भिन्न करने के लिए प्रयत्नशील विघटनवादी शक्तियाँ बहुत शक्तिशाली होती हैं और इनमें से कोई भी समुदाय उनके आगे नहीं टिक सका। ऐसे जीवन के लिए सर्वोपरि विवेक चाहिए—ऐसा विवेक जो किसी व्यक्ति को ऐसे लोगों के साथ रहने के लिए तैयार कर दे, जिनसे उसका पहले से कोई भी घनिष्ठ सम्बन्ध न रहा हो। किबुत्ज को यहूदी जाति के भविष्य की आशा ने यह विवेक प्रदान किया है।"......मरे वीनगार्टन : लाइफ इन किबुत्ज, पृष्ठ १५५।

विचारों, नये रूपों और उपलब्धियों से समृद्ध बनाये जाने की बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

एशिया उतोपियावाद से खूब परिचित है। भारत के विषय में यह बात ज्ञान और विश्वास के साथ कही जा सकती है। यहाँ शताब्दियों से उतोपियावादियों की एक शृंखला चलती आयी है और उन्होंने इस दिशा में काम किया है। उन लोगों में गांधी (१८६९-१९४८) का स्थान सबसे ऊँचा है। उनमें उतोपियावाद अपने सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ रूप में विद्यमान था।

गांधी और विनोबा

गांधीजी के जीवन और विचार का वर्णन थोड़े से वाक्यों में करना कठिन है। अपनी शिक्षा का सारांश उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'हिन्द स्वराज' (१९०७) में प्रस्तुत किया। उनके बुनियादी विचार स्वराज्य, स्वदेशी और सर्वोदय थे।

स्वराज्य का अर्थ है स्वशासन और गांधीजी ने इसे व्यापक राष्ट्रीय मुक्ति के अर्थ में ही नहीं, बल्कि निकटतम, व्यक्तिगत विशिष्टता के अर्थ में अपना मूलमन्त्र बनाया। स्वराज्य का अर्थ अपना राज भी है, स्वशासन का अर्थ 'स्व' पर नियन्त्रण, 'स्व' पर शासन भी हो सकता है और होना चाहिए। यह राज एक ही केन्द्र की परिधि में बढ़ना चाहिए। संयमशील व्यक्ति अपने चारों ओर, अपने आसपास, गाँव में स्वराज्य चाहता है। केवल आत्म-निर्भर गाँव, नवजीवन प्राप्त गाँव ही विकासोन्मुख, आकांक्षा-पूर्ण और स्थायी स्वराज्य की वास्तविक ज्योति बन सकते हैं।

स्वदेशी का अर्थ है अपने देश में बना हुआ, किन्तु इसका भी मतलब वास्तव में अपने पड़ोस में बनी चीज से है। एक व्यक्ति की आत्म-निर्भरता, एक गाँव की आत्म-निर्भरता, एक क्षेत्र की आत्म-निर्भरता और सब मिलाकर पूरे राष्ट्र की आत्म-निर्भरता, उसी तरह सम्पन्न, पूर्ण और सुखी जीवन के अंग हैं, जिस प्रकार पंखे का फैलाव। अपने कपड़े स्वयं बुन लेना, देशी वस्तुओं का उपयोग करना, क्षेत्रीय विशिष्टीकरण के बजाय उत्पादन

और व्यवसाय में अधिक-से-अधिक विविधता और बहुलता को प्रश्रय देना, इन सब दृष्टियों को लेकर स्वदेशी सम्बन्धी विचार और समृद्ध हुए।

पूरे रूप से समग्रवादी दृष्टि में रँगा हुआ सर्वोदय अर्थात् सबका उदय उनका पूर्ण दर्शन था। विकास का ध्यान रखना गांधीजी की सारी शिक्षाओं का मूल है। जहाँ 'विकास' बीज तत्त्व है, वहाँ भूमि मुख्य आधार बन जाती है। गांधीजी की दृष्टि भूमि-प्रधान थी। वे समझते थे कि किसान तभी सुखी हो सकता है, जब वह केवल अपनी भूमि का मालिक ही न हो अपितु दूसरे व्यवसाय भी, जिनमें भिन्न-भिन्न ग्रामोद्योग हैं, करे। कृषि और दस्तकारी में घनिष्ठ सम्बन्ध से ही सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था और स्वस्थ समाज की स्थापना हो सकती है।

सर्वोदय का अर्थ समाज को सुव्यवस्थित करना भी है। समाज के दलित और अस्वस्थ अंगों को स्वस्थ और पूर्ण बनाना पड़ेगा। गांधीजी द्वारा अस्पृश्यता-उन्मूलन पर जोर दिया जाना, इसका उदाहरण है। भारत की जनसंख्या का अष्टमांश अस्पृश्य है। यह केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी सबसे पिछड़ा हुआ वर्ग है। सर्वोदय की दृष्टि से प्रत्येक भारतीय का काम हो गया कि वह इन लोगों का आर्थिक उत्थान करे और इन्हें समाज में मिलाये। त्रुटि को दूर करना, घाव को भरना हमेशा से मानव की प्रवृत्ति रही है।

आर्थिक उन्नति और सामाजिक पुनरुत्थान के लिए गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया। यही उनका राजनीति-शास्त्र था। उन्होंने समाज'निर्माण की कल्पना को सामाजिक मुक्ति का साधन बनाकर उसे और भी सम्पन्न किया।

गांधीजी में जो विशेषता थी, वह यह कि उन्होंने रचनात्मक कार्य को अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के साथ जोड़ दिया। अनूठा मिलाजुला रूप था उनका सत्याग्रह। सामाजिक बुराइयों और अन्याय का प्रतिरोध होना चाहिए, उनमें सहयोग देने का मतलब उन्हें स्वीकार करना और अपने को उनमें आत्मसात् करना है। स्वतंत्र व्यक्ति रचना ही नहीं करता,

अन्याय के विरुद्ध संघर्ष भी करता है। निर्माण से उसकी जड़ें अन्धकाराच्छन्न भूमि में जाती हैं। अन्याय से संघर्ष में वह प्रकाश से तादात्म्य स्थापित करता है, जो सारी शक्तियों का स्रोत है। सत्याग्रह सत्य का आग्रह है। यही तरीका है जिसमें सबसे दूर और सबसे निकट, वातावरण और लक्ष्य का मिलन और फल होता है। रचनात्मक कार्य में प्राप्त शक्ति सत्याग्रह में सहायता करती है और सत्याग्रह संकल्प तथा दिशा देता है, अँधेरे में टटोलनेवालों को लक्ष्य दिखाता है।

सभी समाज-निर्माता शिक्षाविद् थे, गांधीजी इससे अलग नहीं थे। उनके आश्रम की ही तरह उनकी बुनियादी शिक्षा का महत्त्व था। इसमें काम और दस्तकारी की प्रशिक्षा थी। यह किसी जीवन में लगने की शिक्षा थी। उनकी नयी तालीम ने व्यक्ति को सजगता में उच्च स्तर पर पहुँचाने का, उसे स्वाभाविक और सामाजिक वातावरण में रखने का और वहाँ उसे जागरूक सहयोगी के रूप में पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया।

राजा राममोहन राय (१७७२-१८३२) और उनके बाद के सभी राष्ट्र-निर्माता शिक्षाविद् रहे हैं। यह कड़ी नेहरू (जन्म १८८९) के समय में आकर टूटी, जो राज्य के व्यवस्थापक बन गये हैं। उतोपीय राष्ट्रनिर्माण की विरासत विनोबा को मिली है।

विनोबा भावे (जन्म १८९५) गांधीजी के दर्शन के सबसे बड़े व्याख्याता हैं। उनमें अपने गुरु की ही तरह सादगी, निष्ठा और मौलिकता है। उनके दर्शन में कविता की धारा बहती है। उनके विचारों में ग्रामीणों जैसी कल्पना और उत्कृष्ट सौन्दर्य होता है। प्रूधों की तरह विनोबा भी भाषा के गुण का उपयोग करते हैं और वे शब्दों से समाज के विचार की बातें निकालकर सामने रखते हैं।

लेसिंग ने इतिहास को 'मानव-जाति की शिक्षा' कहा था। उसी तरह से कहा जा सकता है कि पुराण शास्त्र 'मानव का पालना' है। विनोबा लोगों को पालना की भाषा में (या व्यास-पद्धति से) शिक्षा देते हैं।

वे अति प्राचीन स्मृतियों को ताजी कर देते हैं। गांधीजी की ही तरह विनोबा में भी कोई कलुष नहीं है, विचार की पारदर्शिता के फल-स्वरूप उनकी बातों को समझना बिल्कुल आसान हो जाता है।

अच्छाई आग की तरह होती है, यह दूर तक प्रकाश फैला सकती है, किन्तु उसकी गर्मी बहुत नजदीक तक ही है। इसी तरह व्यक्ति का एक निर्धारित स्थान होना चाहिए, जहाँ वह काम और अपना विकास करे। उसके लिए गहन कार्य के सीमित क्षेत्र की आवश्यकता है। यह बीज बोने के लिए ऐसी भूमि है, जहाँ से जीवन रूपी कृषि का विशद् विकास किया जा सकता है। जब आप एक गड्ढा खोदते हैं, तो एक ओर मिट्टी का ढेर लग जाता है और दूसरी ओर खोह बन जाती है। इसी तरह एक स्थान पर संचय दूसरे स्थान पर अभाव की सृष्टि करता है। प्राणवान् व्यक्ति वह है, जो दूसरों के साथ घुल-मिल जाने से कभी नहीं ऊबता। विनोबा की इसी तरह की उपमाओं का क्रम चलता रहता है। उनका कहना है कि विचारों का प्रसार विरोधी विचारों से संघर्ष करके नहीं होता, बल्कि आदर्श प्रस्तुत करने से होता है। विचार की सत्यता उसे शान्तिपूर्वक जीवन में उतारने मे है। जब उसे शब्दों की चीज बनाया जाता है, तब वह हिंसा को जन्म देता है और हिंसा सत्य को आहत और अगभंग कर देती है। गांधीजी की तरह विनोबा की मुख्य शिक्षा यह है कि हिंसा के प्रवाह से सत्य की आग निश्चित रूप से बुझ जाती है। हिंसा सुसम्बद्धता, जीवन और उत्साह की अवमानना है, निषेध है।

'मेरा अधिकार मेरा कर्तव्य है' ऐसी बहुप्रचलित धारणा के स्थान पर विनोबा कहते हैं—'अपने कर्तव्य की पूर्ति करना मेरा अधिकार है।' और इस भाव से भूदान का जन्म हुआ, जो उतोपियावाद की सबसे नयी और आकर्षक प्रवृत्ति है।

भूदान आन्दोलन समाज के विभिन्न अंगों की ठीक से पुनर्व्यवस्था के लिए उल्लेखनीय प्रयास है। दान का अर्थ विभाजन भी है। भूदान

दान के रूप में भूमि लेकर उसका विभाजन, पुनर्वितरण करना चाहता है। गरीब और अमीर का समान रूप से आह्वान किया जाता है कि वे भूमिहीनों को अपनी सम्पत्ति का एक और हिस्सेदार भाई समझकर अपनी भूमि का कम-से कम छठा भाग भूदान में दें। ३० महीने के थोड़े से समय में पुनर्वितरण के लिए २४ लाख एकड़ से अधिक भूमि दान में मिल चुकी है।

भूदान आन्दोलन की महान् शक्ति को इस बात से समझा जा सकता है :

१. भूदान ऐसा वातावरण तैयार करता है, जिसमें भूमि का पुनर्वितरण सुलभ हो जाता है।
२. चूँकि छोटे किसान भी भूमिदान करते हैं, इसलिए स्वामित्व और अन्ततः सम्पत्ति के प्रति एक नया दृष्टिकोण सामने आता है।
३. जमीन का दाम कम हो जाता है और इस प्रकार मुआवजा की समस्या हल्की हो जाती है।
४. चूँकि भूमिहीनों को भूमि बिना मूल्य के मिलती है, इसलिए उन्हें सहकारी खेती में शामिल होने के लिए राजी करना आसान हो जाता है।
५. चूँकि दान में प्राप्त जमीनों का वितरण गाँववालों की सभा करके और प्रायः भूमिहीनों के सुझाव के ही अनुसार होता है, इसलिए कुनबापरस्ती और भ्रष्टाचार तो होता ही नहीं, अपितु जनतान्त्रिक चेतना दृढ़ होती है।
६. परिवार में भूमि के हस्तान्तरण या इसी प्रकार के दूसरे बेनामा बन्दोबस्त में छल-प्रपंच की गुंजाइश नहीं रहती, जो बँटवारा कानून के अन्तर्गत आमतौर पर होते हैं।

विरोध भावना को बढ़ाने या वर्ग भावना पैदा करने के बजाय विनोबा का तरीका प्रत्येक हृदय में बन्धन में पड़ी हुई मानवता की भावना को मुक्त करता है और शुष्क समाज में सद्भाव और सहानुभूति की

नमी लाता है। भूदान के द्वारा भूमि के पुनर्वितरण से सारे समाज में नवजीवन का संचार होता है। विनोबा भूमि के पुनर्वितरण पर ही आकर नहीं रुक जाना चाहते, वे ग्रामीकरण चाहते हैं। भूमि को ग्राम की सम्पत्ति बनाना चाहते हैं, जिससे भूमि का स्वामित्व सहकारिता के आधार पर और खेती गाँव-समाज के आधार पर हो। उसके बाद गाँव के लिए ऐसी योजना बनानी पड़ती है कि वह सादे जीवन की अपनी सारी जरूरतें खूब अच्छी तरह पूरी कर सके। अपनी व्यवस्था में स्वतन्त्र और आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर प्रत्येक गाँव को अपने को लघु गणतन्त्र जैसा बनाने का प्रयास करना चाहिए। उसे एक छोटा संसार होना चाहिए, जिसमें लघु संसार के अधिकांश गुण हों।

विनोबा ने अपने आन्दोलन का विस्तार जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी सम्पत्तिदान, बुद्धिदान के रूप में किया है। इन दानों के द्वारा विनोबा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में 'प्रतिभाशाली' व्यक्तियों के उपार्जन को मुक्त कर उसे समाज को प्रदान करने की आशा करते हैं। बाजार की भाँति नहीं, जहाँ व्यक्ति केवल विक्रेता और ग्राहक के रूप में ही मिलते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने ही हित और लाभ की बात सोचता है, वरन् जीवन के व्यापक जनसमूह में जहाँ व्यक्ति पारस्परिक आदान-प्रदान की इच्छा रखते हैं, लोग अपने जीवन को समृद्ध एवं सार्थक करते हैं। विनोबा सेण्ट टामस एक्विनस के 'सम्पत्ति संरक्षक सिद्धान्त' और उससे भी अधिक उस पर जैक्वेस मेरितां की टीका को सहर्ष स्वीकार करेंगे। समाज अविरत दान और अविरत वचत के बिना (जिसका स्रोत व्यक्ति है), व्यक्तियों के जीवन और स्वाधीनता की गहराई में छिपे उदारता के स्रोत के बिना, (जिसे प्रेम प्रवाहित करता है) कायम नहीं रह सकता। मेरितां का विचार है कि सर्वजनहित की पहली अनिवार्य विशिष्टता 'पुनर्वितरण' है।*

गांधी और विनोबा भले ही उन कठिन सामाजिक, आर्थिक सम-

* जैक्वेस मेरितां : दि राइट्स ऑफ मैन, पृष्ठ २३।

स्याओं को हल न कर सके हों, जिन्हें हल करने के लिए समाजवादी व्यग्र हैं, तथापि समस्या हल करने के अपने ढंग में उन्होंने नयी दृष्टि प्रस्तुत की, एक प्रेरणापूर्ण पद्धति दी और साधन तथा साध्य में अवयवी सम्बन्ध स्थापित किया है। दार्शनिक अराजकतावाद को, जो सभी समाजवादियों का, उतोपियावादी और वैज्ञानिक दोनों प्रकार के समाजवादियों का परम उद्देश्य है, गांधी और विनोबा बराबर विकसनशील मार्ग प्रदान करते हैं।

एशिया की भारी जनसंख्या, सीमित साधन और पिछड़े हुए विकास-क्रम में उतोपियावाद विश्वास की दृष्टि से केवल साहसिक प्रयास ही नहीं, बल्कि प्रगति का एकमात्र आशाजनक मार्ग है। पूँजी के बढ़ते हुए अभाव की पूर्ति विद्रोहित भूमि की ओर ध्यान देकर और लोगों के श्रम को प्रेमपूर्वक सुसम्बद्ध करके ही की जा सकती है। सारा तरीका प्रभावकारी होना चाहिए अर्थात् क्षेत्र छोटे-छोटे हों और प्रयास में गहनता हो। जहाँ दैत्य की ताकत की नहीं, जौहरी के कौशल की आवश्यकता है, वहाँ कार्य की उत्प्रेरणा प्राप्त करनी होगी।

एशिया का बड़ा स्वप्न

एशिया का सामाजिक ढाँचा अभी बहुत-से स्थानों में सुरक्षित है। कुछ भागों में प्रशासन और न्याय की पद्धति अभी तक ऊपर से नहीं थोपी गयी है, बल्कि वह जनता के सामाजिक गुणों में पिरोयी हुई है। बर्मा का 'धर्माथात' और हिन्देशिया का 'अदात' इसका उदाहरण है। इन व्यवस्थाओं को पुनर्जीवित करके न्याय का विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है।

आर्थिक अनिवार्यताएँ और सामाजिक विरासत परम्परागत विचार-धारा पर आधृत होते हैं। दक्षिण पूर्वी एशिया में सभ्यताओं की सृष्टि प्रकृति को अच्छी तरह परखकर और फलस्वरूप व्यक्ति तथा प्रकृति में समन्वय संबंध स्थापित करके हुई है। इससे इन देशों की संस्कृतियाँ कला के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि इस बात का भी ध्यान रखती हैं कि

प्रकृति से स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करके मानव का विकास हो। मानव स्वयं और दूसरे व्यक्तियों के साथ शान्तिपूर्वक रह सके, इसके लिए उनका प्रकृति के साथ अपने अन्योन्याश्रय को समझना ही दक्षिण पूर्वी एशिया की जीवन-कला है। दक्षिण पूर्वी एशिया की लोक-गाथाओं, साहित्य, वास्तुकला, राजनीति और जीवन में, सर्वत्र, मानव-व्यवस्था और प्रकृति व्यवस्था में घनिष्ठ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हुई है। इसका एक उदाहरण है। बौद्ध राजा जयवर्मन सप्तम द्वारा १२ वीं शताब्दी के अन्त में स्थापित ख्मेर (कम्बोडिया) की राजधानी आँकोरथोम नगर, जो स्थिति, निर्माण, मूर्तियों के अलंकरण आदि की दृष्टि से विशाल विश्व का लघु प्रतिरूप था। प्राकृतिक साधनों का नियोजित ढंग से विदोहन एकदम पश्चिमी ढंग है, जिसके पीछे प्रकृति पर शासन की भावना है। इससे व्यक्ति का प्रकृति से सम्बन्ध टूट जाता है, जो दक्षिण-एशिया में परम्परा से चली आ रही दार्शनिक तथा धार्मिक भावना और व्यवहार के विपरीत है। मानव-व्यवस्था का एक बार प्रकृति व्यवस्था से सम्बन्ध टूटने पर राजनीति में धर्म की अभिव्यक्ति नहीं रह जाती और धर्म राजनीति का गुण खो बैठता है। जीवन का स्तर मुख्यतः आर्थिक दृष्टि से आँका जाता है और सांस्कृतिक कलाओं के सामने एक ही रास्ता रह जाता है कि वे सामाजिक आदर्शों को प्रश्रय दें या उनकी आलोचना करें। यदि कम्यूनिज्म की स्थापना हुई, तो वह पश्चिम द्वारा किये गये इस विभाजन को चोटी पर पहुँचा देगा और इस प्रकार दक्षिण पूर्वी एशिया में सुसम्बद्ध जीवन विधि में प्रकृति और मानव का सम्बन्ध समाप्त हो जायगा। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह विद्रोह करके प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद और उस सम्बन्ध-विच्छेद के फलस्वरूप अपनी ही विरासत से सम्बन्ध-विच्छेद न करे।

प्रकृति और मानव के बीच 'सन्धि' ही एशियाई संस्कृति का हृदय है। सभी विकासों का आधार यही बुनियाद होनी चाहिए। यदि इस बात की उपेक्षा की गयी, तो इच्छा, सजग चेतना और व्यापक तथा

सोद्देश्य जागरूकता के द्वारा परम्परा को सजीव करने की प्रक्रिया नष्ट हो जायगी।

समसामयिक पश्चिमी विचारों और अपने साथ खोखलापन तथा बढ़ती हुई आवश्यकताएँ लाने के बावजूद उन विचारों की उपलब्धि की चकाचौंध एशिया को अच्छी तरह समझने और उसका सुधार करने में सबसे बड़ी बाधा है। इस स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि पीछे की ओर जाया जाय। इस लेखक ने १९३४ में अपनी पहली पुस्तक में गांधीजी के विचारों के पुराने ढंग को प्रतिक्रियावादी कल्पना समझने की गलती की थी। अपनी उस गलती को सुधारने में उसे बीस वर्ष लगे।

अनुकूलता स्थापन की दिशा में सबसे बड़ी यात्रा भारत में समाजवाद के कर्णधार जयप्रकाश नारायण (जन्म १९०२) ने की। उन्होंने १९३५ में 'ह्वाई सोशलिज्म' (समाजवाद क्यों ?) लिखा, जिसमें उन्होंने गांधीजी के संगठनात्मक विचारों की कड़ी आलोचना की। अगले १५ वर्षों में वे वास्तविकताओं को समझते और अपने को उसके अनुकूल बनाते रहे। यह दिलचस्प बात है कि उन्होंने जो आखिरी कड़ी तोड़ी, वह मार्क्सवाद का सबसे अधिक भेदपूर्ण और सत्य से परे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था। धीरे-धीरे उन्होंने रचनात्मक कार्य, अहिंसा, कृषि की प्रधानता, पूँजीवाद में ही नहीं; बल्कि पूरे सामाजिक जीवन में संग्रह और नियन्त्रण के प्रति अरुचि को अपने जीवन में उतार लिया। केन्द्रीकरण में, जो स्वयं बुरा है, ऐसी बुराइयाँ भरी हुई हैं, जिनका निवारण नहीं हो सकता, जो अविच्छेद्य हैं। उन्हें मूल की चिन्ता है। वे निश्चित स्थान और अपने कार्य की सीमाओं की चिन्ता करते हैं, वे गहन प्रयास के लिए व्यग्र हैं। ज्ञान कथनों और विवादों की अपेक्षा मौन और कार्य में अधिक अंकुरित होता है। रचनात्मक दृष्टि से स्वीकार किये गये संघों के अलावा सभी संगठन भारी बोझ हैं। उनके विचार में विकास की दृष्टि से स्थायी और वास्तविक प्रगति भूमि पर, भूमि से,भूमि के चारों ओर है। सभी प्रकार के

अन्यायों और सामाजिक बुराइयों के पक्के शत्रु जयप्रकाश नारायण अब भी अपने स्वभाव के अनुसार समझने और समन्वय करने की कोशिश करते हैं। वे समझते हैं कि समाज के मूल अर्थात् व्यक्ति की सुव्यवस्था एवं प्रगति, और भूमि के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध पर जब तक खूब अच्छी तरह से ध्यान न दिया जायगा तब तक विशाल समाज को बदलने के सारे प्रयास बेकार रहेंगे।

कम्युनिज्म, मार्क्सवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद का लम्बी अवधि तक चक्कर लगाने के बाद विद्रोही का गांधीजी के उतोपिया की ओर लौटना स्पष्ट रूप से एशिया के बुद्धिवादियों की प्रतिक्रिया का प्रतीक है। जयप्रकाश की प्रतिक्रिया विशुद्ध है, यह उनमें दिखाई पड़नेवाली शान्ति, गम्भीर निष्ठा और उनकी सीधी-सादी, पारदर्शी, अकृत्रिम अभिव्यक्तियों तथा उनके विचारों से प्रकट है।

अन्यत्र भी ऐसे विचारों के अंकुर प्रस्फुटित हुए हैं। बर्मा के प्रमुख समाजवादी नेता बा स्वे अपने देश के समाजवाद के सम्बन्ध में कहते हैं कि उसमें दो परत हैं, पहला परत भौतिकता-प्रधान अर्थात् मार्क्सवादी है, दूसरा परत अध्यात्म-प्रधान अर्थात् बौद्ध है। महान् नेता को जो बात समझने की आवश्यकता है, वह यह है कि संसार के वारिस होनेवाले मार्क्सवादी और उनके दोहरे विश्वास के बीच होनेवाला यह अन्तर खण्डित जीवन की ओर ले जायगा, मस्तिष्क में विकार न रहते हुए भी उन्माद की बीमारी (शीजोफ्रेनिया) जैसी स्थिति उत्पन्न करेगा; क्योंकि दोनों निष्ठाएँ अपने में मौलिक और एकान्तिक हैं और दो परतों को एक साथ कर देने से उतोपीय समाजवाद बन जाता है। तब बा स्वे के प्रिय देश बर्मा की बेकार भूमि और धान के खेत स्वयं भूदान और किबुत्ज देखेंगे। न केवल इजराइल और न केवल भारत, बल्कि सारा एशिया उतोपियावाद का महान् स्वप्न देख रहा है।

मैंने उतोपीय समाजवाद को उस तिरस्कारपूर्ण भाषा से मुक्त करने का प्रयास किया है, जिसे इसके साथ प्रयोग किया जाता है। जिस अनु-

कूल रंग में मैंने इसका चित्र खींचा है, वह बहुत कुछ सन्तुलन स्थापित करेगा। इसका यह मतलब नहीं है कि इस उतोपीय समाजवाद को स्वीकार करने से एशिया की समाजवाद की अभिलाषा का अन्त हो गया। कृषिप्रधान देशों में, जहाँ जनसंख्या का भारी भार और पूँजी का अभाव है, उतोपीय समाजवाद बहुत कुछ सिखा सकता है, किन्तु औद्योगीकरण की उपेक्षा करने के कारण, यह समस्या का आंशिक हल मात्र रह जाता है। बाद के अध्यायों में मैंने विचारों को इस प्रकार श्रेणीबद्ध किया है कि वे, मेरा खयाल है, मौलिक सन्तुलन प्रस्तुत करेंगे।

● ● ●

सर्वहारा-दर्शन : ३ :

लेनिन द्वारा की गयी समाजवाद की कई व्याख्याओं में एक व्याख्या थी 'सर्वहारा-दर्शन।' जब कि 'दर्शन' की अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में समाजवादियों के विचारों में काफी अन्तर रहा है, सर्वहारा की प्रधानता के विषय में आमतौर पर मतैक्य रहा। लासेल ने कहा था : "सर्वहारा चट्टान है, जिसपर भविष्य के मदिर का निर्माण होगा।" जाँ जौरेस ने ललकारभरे शब्दों में प्रमेय का सूत्र बनाया : "हमेशा के आग्रहपूर्ण प्रश्न 'समाजवाद कैसे प्राप्त किया जायगा' का उपयुक्त उत्तर हमें यह देना चाहिए कि 'सर्वहारा के विकास से, जिसका समाजवाद से अटूट सम्बन्ध है।' यह प्रथम और आवश्यक उत्तर है और जो भी इसे पूर्णरूप से नहीं समझता और स्वीकार करता वह समाजवादी जीवन और विचार की सीमा से बाहर है।" मार्क्स ने विचार को शानदार रूप दिया : "सर्वहारा को मुक्ति दिलाये बिना दर्शन अपने को चरितार्थ नहीं कर सकता, सर्वहारा दर्शन को चरितार्थ किये बिना अपनी मुक्ति नहीं कर सकता।"

एकमात्र सर्वहारा समाजवाद को आगे बढ़ानेवाला है, यह बात स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार कर ली गयी। फल यह हुआ कि जहाँ सर्वहारा कमजोर था, वहाँ कमजोरी को ठीक करने के लिए दर्शन की अधिक खूराक की जरूरत हुई। ब्रिटेन और अमेरिका में आंग्ल-सैक्सन स्वभाव और परम्पराओं के अलावा सर्वहारा की शक्ति ने दर्शन की आवश्यकता नगण्य कर दी। जर्मनी में तेजी से औद्योगीकरण और १८७० में जर्मन साम्राज्य के विस्तार के साथ होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति में उसके असाधारण नेतृत्व ने दर्शन का महत्त्व अशतः कम कर दिया। फ्रान्स, इटली और रूस में दर्शन ने सर्वहारा की खामी और पिछड़ेपन को दूर करने का प्रयत्न किया।

फ्रान्स में १८५० के बाद उद्योग ने गति पकड़ी। १८५० से १८७० के बीच भाप से चलनेवाले इंजनों की संख्या चार गुनी बढ़ गयी। प्रशिया के मुकाबले पराजय (१८७०) से उसके आर्थिक विकास को भारी धक्का लगा। काफी उद्योगीकृत देशों की तुलना में फ्रान्स की अर्थ-व्यवस्था मामूली और कम विकसित थी। १९१३ में इंग्लैण्ड में व्यवसाय में लगे हुए लोगों में केवल ९ प्रतिशत लोग खेती करते थे। लेकिन फ्रान्स में कृषि में लगे हुए लोगों की संख्या ४३ प्रतिशत थी। फ्रांस का 'बड़ा धन्धा' भी विशालकाय जर्मन धन्धे के आगे छोटा था। फ्रान्स के २२ प्रमुख उद्योगों में ५८ करोड़ ५० लाख फ्रैंक पूँजी लगी थी, जब कि केवल दो जर्मन कम्पनियों यथा गेल्सेनकिरशेन और क्रुप के पास उतनी पूँजी थी।

फ्रान्स में वर्ग-संघर्ष

फ्रांस का औद्योगिक विकास ही साधारण स्तर पर नहीं था, बल्कि उसकी दिशा भी कुछ भिन्न थी। औद्योगीकरण के प्रकारों के सम्बन्ध में एक मनोरंजक अध्ययन के अनुसार १८६१-६५ में फ्रान्स के कुल औद्योगिक उत्पादन में सूती वस्त्रोद्योग के उत्पादन का अंश ३१·८ प्रतिशत था। १८९६ तक वह गिरकर १३·८ प्रतिशत हो गया। इसके विपरीत पोशाक उद्योग का अंश, जो १८६१-६५ में २·३ प्रतिशत था, १८९६ में १५ प्रतिशत हो गया।

फ्रांस का सर्वहारा राजनीतिक दृष्टि से अशान्त था, किन्तु प्रभावशाली नहीं था। उसके क्रान्तिकारी अभियान १७८९ से प्रारम्भ हुए जब मरात ने प्रश्न किया : "आप यह क्या कर रहे हैं ? आप उस बेस्टाइल पर क्यों कब्जा करने जा रहे हैं, जिसकी दीवारों के भीतर कभी मजदूर बन्दी नहीं था ?" सन् १८३० की क्रान्ति में मजदूरों का प्रमुख भाग था, १८३२ में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। ल्योन्स में १८३१ में और उसके बाद १८३४ में फिर विप्लव हुआ। सेण्ट एतियेने में १८४४ में खदान कर्मचारियों की हड़ताल ने ऐसा रूप ग्रहण किया, जो इतिहासकार

लेवासिअर के शब्दों में 'सशस्त्र विद्रोह' था। १८४८ में पेरिस में श्रमजीवियों ने सेना के घेरों को तोड़ दिया, सेना से चार दिनों की लड़ाई में १६ हजार श्रमजीवी मारे गये। युद्ध में फ्रांस की पराजय के बाद श्रमजीवियों ने १८७१ में कम्यून की घोषणा की। इस कम्यून का दमन करने के लिए वर्साई सरकार को प्रशियनों द्वारा सेदान और मेत्ज में युद्धबन्दी बनाये गये सैनिकों को मुक्त कराना पड़ा था। एक सप्ताह तक सड़कों पर हुए रक्तरंजित युद्ध में २० हजार कम्यूनवादी मारे गये। इस प्रकार वर्ग संघर्ष का फ्रांस ने प्रत्यक्ष अनुभव किया।

अपने लड़ाकूपन के बावजूद फ्रांस के सर्वहारा का राज्य पर बहुत मामूली प्रभाव था। खेतिहर और मध्यम वर्ग का राज्य पर अधिक वश था। ट्रेड-यूनियनों को १८८४ तक वैध नहीं करार किया गया। निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा का लोग १८८२ तक नाम भी नहीं जानते थे। फैक्टरी सम्बन्धी कानूनों और सामाजिक बीमे की प्रगति मन्द थी। पहला कर्मचारी मुआवजा कानून १८९८ में पास हुआ। वृद्धावस्था तथा बीमारी सम्बन्धी बीमा का प्रभावशाली एवं व्यापक कानून तो १९२८ में बना।

फ्रांस की ट्रेड-यूनियनों का ढाँचा ऐसा था कि वे लड़ाकूपन पसन्द करती थीं। ब्रिटेन में ट्रेड-यूनियनों का संगठन व्यवसाय के आधार पर हुआ और १८८९ के प्रसिद्ध उफान के समय तक उनमें उच्चवर्गीय और काफी सुदक्ष मजदूर ही आये। ब्रिटेन के ट्रेड-यूनियनों की भावना और विचार को इस बात से समझा जा सकता है कि १८८२ और १८८३ में ट्रेड-यूनियन कांग्रेस ने सभी पुरुषों को मताधिकार देने के प्रस्तावों को बहुत भारी बहुमत से अस्वीकार कर दिया।

फ्रांस में यूनियनों का संगठन उद्योग को आधार बनाकर किया गया था। उनका केन्द्रीय संगठन ट्रेड-यूनियनों का महासंघ या सी० जी० टी० था। स्थानीय इकाइयों को उनके क्षेत्रों में क्षेत्रीय श्रमिक संघटन (Bourses du travail) के रूप में एक साथ किया गया, जो रोजगार दफ्तर के रूप में भी काम करते थे। ट्रेड-यूनियनों ने मज-

दूरों के हितों की केवल रक्षा ही नहीं की, बल्कि सेनाविरोधी और राष्ट्र-विरोधी प्रचार को भी बढ़ावा दिया और हड़तालों की लहर ला दी। मजदूरों में व्याप्त अशान्ति को उन्होंने ब्रिटेन और जर्मनी की ट्रेड-यूनियनों की तरह परिस्थिति के अनुसार तथा राजनीतिभरे ढंग से नहीं, बल्कि ईमानदारी से प्रदर्शित किया।

इटली और रूस में स्वाभाविक राष्ट्रीय अन्तर के साथ फ्रांस जैसा ही चित्र था।

यूरोप में उपनिवेशवाद का जन्म यद्यपि १८ वीं शताब्दी में ही हो चुका था, तथापि दिमाग फेरनेवाला नशा अर्थात् साम्राज्यवाद की भावना १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आयी। साम्राज्य-वाद के एक प्रसिद्ध वृत्तान्त-लेखक और आलोचक ने लिखा : "यद्यपि सुविधा की दृष्टि से १८७० को साम्राज्यवाद की सचेत नीति के प्रारम्भ का संकेतसूचक मान लिया गया है, तथापि आप देखेंगे कि इस प्रवृत्ति को पूरी शक्ति १८८४ तक नहीं मिली।"*

उपनिवेशवाद की प्रगति

निस्सन्देह बड़ी-बड़ी बस्तियाँ इसके पहले जीती जा चुकी थीं, किन्तु अभी तक उनके प्रति कोई गूढ़ अर्थात् भौतिक स्तर से ऊपर एवं मौलिक अनुराग नहीं था, बल्कि इसके विपरीत उनके विषय में आत्मज्ञानहीनता थी। सीली के प्रसिद्ध शब्दों में : "ऐसा मालूम होता है, मानो हमने (अंग्रेजों ने) दौरे की बीमारी जैसी बेसुध स्थिति में आधे संसार को जीत लिया और बसा दिया।" साथ ही अनेक लेखकों ने माना है कि यह कार्य चेतना की भावना के साथ किया गया।

समाजशास्त्री लुडविग गम्पलोविक्ज (१८३८-१९०९) ने एक 'सामाजिक नियम' का अन्वेषण किया। 'राज्यों की सर्वाधिक स्वाभाविक प्रवृत्ति अपनी शक्ति और क्षेत्र में सतत वृद्धि करने की होती है।' 'दूसरे देशों को जीतने की प्रवृत्ति इतनी अनिवार्य और इतनी शक्तिशाली है

* जे० ए० हाब्सन : इम्पीरियलिज्म, पृष्ठ १९।

कि कोई भी राज्य, उसके तत्कालीन शासकों की भावना चाहे जो हो, इस प्रवृत्ति से बच नहीं सकता।' एक दूसरे समाजशास्त्री फ्रैंकलिन गिडिंग्ज (१८५८-१९३१) ने रक्तशिरा में एक नया तत्त्व शामिल कर दिया है। 'छोटे राज्यों को मिलाकर बड़े राजनीतिक एकीकरण का कार्य तब तक चलता रहना चाहिए जब तक संसार की सभी अर्द्ध-सभ्य, बर्बर और जंगली जातियाँ विशाल सभ्य राष्ट्रों के सरक्षण में न आ जायँ।'

सर जान सीली (१८३४-९५) ने ब्रिटेन के साम्राज्यवादी मिशन में 'एक स्पष्ट लक्ष्य' का दर्शन किया। एक दूसरे अंग्रेज इतिहासकार जे० ए० क्रैम्ब (१८६२-१९१३) ने कहा है कि अंग्रेज जाति ऐसी है, जिसे 'साम्राज्य स्थापित करने की प्रतिभा उपहार रूप मे मिली है और ऐसा राष्ट्र प्रारब्ध द्वारा निर्दिष्ट अपने काम को पूरा करने के लिए सभी जोखिम उठाने, सभी कठिनाइयाँ सहने और सभी बलिदान करने के लिए बाध्य है।'

साम्राज्यवाद की शक्ति के विषय में जर्मन और अमेरिकी इतिहासकारों के कुछ कहने की तुलना में अंग्रेज लेखक सीली, डिलके और फ्राउड में चलते हुए प्रसग जैसे साम्राज्य के विषय में बहुत कुछ कहने की प्रवृत्ति थी।

अपनी साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को अनुभव करने में दूसरे देश सुस्त नहीं थे। हेनरिक वॉन त्रीत्स्के (१८३४-९६) का कहना था कि परमात्मा ने ट्यूटन राष्ट्रों को यह काम सौंपा है कि वे 'संसार को राजनीतिक दृष्टि से सभ्य बनायें।' एच० एस० चेम्बरलेन अनुभव करते थे कि 'दो शताब्दियों के भीतर जर्मनी ऐसी स्थिति में पहुँच जायगा कि वह सारे विश्व पर शासन कर सकेगा।' फ्रांस में मौरिस बैरेस (१८६२-१९२३) और चार्ल्स मौरास छेड़छाड़ करनेवाली 'अखण्ड राष्ट्रीयता' का गान गा रहे थे। इटली में जेन्टाइल और गैब्रील द अनन्जियो (१८६४-१९३८) ने 'पुनीत आत्मश्लाघा' (Sacroegoisms) को बढ़ावा दिया और उसका गुणगान करने लगे। प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्र अपने साम्राज्यवादी लक्ष्य की बात सोच रहा था।

१८७० के बाद उपनिवेशों के लिए छीनाझपटी शुरू हुई। इस कार्य की इच्छा तीव्र थी और उसमें तत्परता थी। औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की आर्थिक आवश्यकताएँ (मण्डी, कच्चा माल, पूँजी, विनियोग) और बहुत दूर उपनिवेश होने के राजनीतिक लाभ ने विस्तारवादी प्रवृत्ति को और बल दिया। नीचे का विवरण स्पष्ट करता है कि १९१४ में साम्राज्यों की क्या स्थिति थी :

देश	उपनिवेशों की संख्या	क्षेत्रफल हजार वर्ग मील — मातृभूमि	क्षेत्रफल हजार वर्ग मील — उपनिवेश	जनसंख्या हजार में — मातृभूमि	जनसंख्या हजार में — उपनिवेश
ब्रिटेन	५५	१२१	१२०४४	४६०५३	३९१५८३
फ्रांस	२९	२०७	४११०	३९६०२	६२३५०
जर्मनी	१०	२०९	१२३१	६४९६२	१३०७५
बेलजियम	१	११	९१०	७५७१	१५०००
पुर्तगाल	८	३५	८०४	५९६०	९६८०
नीदरलैण्ड	८	१३	७६३	६१०२	३७४१०
इटली	४	१११	५९१	३५२३९	१३९६
अमेरिका	६	३०२७	१२६	९८७८१	१००२१

विस्तारवादी और पुनीत आत्मश्लाघा को अपने बढ़ने का रास्ता विदेशों में ही मिला हो सो बात नहीं, स्वयं यूरोप में विभिन्न 'अखिलवादी' आन्दोलनों और जातिवादी सिद्धान्तों की भावना अभिव्यक्त होने लगी। जातिगत मिथ्याभाव के एक बड़े महन्त काउण्ट द गोबिनो (१८१६-८२) ने लिखा : "धीरे-धीरे मेरा यह पक्का विश्वास हो गया है कि जाति इतिहास की दूसरी सभी समस्याओं से बड़ी है, यह उन सबकी कुंजी है।......संसार में व्यक्तियों की कृतियों में, विज्ञान में, कला और सभ्यता में जो कुछ भी महान् है, श्रेष्ठ है, उपयोगी है, वह सब एक ही कुटुम्ब की

चीज है।" ट्यूटन, स्लाव सेल्ट, लैटिन सभी ने 'एक कुटुम्ब' होने का स्वप्न देखा। "शक्तिशाली राष्ट्र अपना विस्तार करने के लिए संघर्ष करें और अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों का बोलबाला हो, यह स्वाभाविक था और कुछ लोगों की दृष्टि में मानव प्रगति के लिए आवश्यक था। स्वस्थ जातियों में यह स्वभावगत भावना और ऐसी 'पिछड़ी जातियों' का होना, जिनका भेदन किया जा सके, साम्राज्यवाद के तर्क को अकाट्य बना देता है।"*

क्रैम्ब ने गति का एक नया नियम घोषित किया : "जिस साम्राज्य का बढ़ना रुक गया, उसका ह्रास प्रारम्भ हो गया है।" एलिस की लाल रानी की तरह इसे उसी स्थान पर बने रहने के लिए उत्तरोत्तर और भी तेज दौड़ना होगा। उत्तरोत्तर उन्माद का आन्दोलन किसी दिन खतरा बन जायगा, अपने ही अड्डे को 'विजित' कर लेगा, अपनी ही मातृभूमि को उपनिवेश बना लेगा।

मजदूर भी इसी तरह की बातें सोचते थे और ऐसी ही भावना रखते थे। उस समय वास्तविकता को आदर्श से पृथक् करने का जो बुद्धिवादी वातावरण था, जो प्रवृत्ति और प्रतिमान श्रमिक संघवाद था, उससे उनका आन्दोलन अवगत रहता था। सेण्ट साइमन ने कहा था : समाजवाद का उद्देश्य ऐसी नयी समाज-व्यवस्था की स्थापना करना है, जो कारखाने के आदर्श पर आधृत हो। समाज के अधिकार कारखाने के सामान्य अधिकार होंगे। 'उद्योग की प्रगति से समाज वस्तुतः' सोरेल के शब्दों में 'पूँजीवाद द्वारा निर्मित एक कारखाना बन गया।' न केवल समाज एक कारखाना बन गया, अपितु जैसा कि डब्ल्यू० एस० जेवोन (१८३५–८२) ने कहा था, "समाज के सभी वर्ग हृदय से ट्रेड-यूनियनवादी बन गये, अन्तर केवल दृढ़ता, क्षमता और जिस प्रकार वे अपने हितों को आगे बढ़ाते थे, उस गोपनीयता का था।"

---

* एफ० एम० रसेल : थ्योरीज आफ इण्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ २६४।

श्रमिक संघवाद 'कारखाने में परिवर्तित समाज' में समाजवाद का रूप था।

श्रमिक संघवादी समझते हैं कि मानव के सभी समूहगत विभाजनों में व्यावसायिक संघ अर्थात् ट्रेड-यूनियन सबसे अधिक मौलिक एवं स्थायी है, क्योंकि समाज के व्यक्ति सबसे अधिक अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की इच्छा रखते हैं। व्यावसायिक संघ का सदस्य बननेवाला श्रमिक किसी पार्टी में नहीं शामिल हो रहा है, किसी विचार-मंच को नहीं स्वीकार कर रहा है और न कोई वाद अपना रहा है। वह केवल ऐसा सम्बन्ध शुरू कर रहा है, जो समाज में उसकी स्थिति के कारण उस पर जबरदस्ती लाद दिया गया है। कारखाने के नागरिक के रूप में मजदूर 'परम्परा के किसी बन्धन' को नहीं जानता, 'सर्वजन सम्बन्धी बौद्धिक और नैतिक विरासत उसके लिए नहीं है।' उसके लिए जो कुछ भी है, वह है वर्गगत सम्बन्ध और व्यावसायिक संघ के हित को अपना हित समझना।

वर्गगत समैक्य वर्ग संघर्ष को बल देने के लिए है, यही वर्ग-संघर्ष मुख्य एवं असाधारण महत्त्व प्राप्त कर लेता है। वर्ग-संघर्ष यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप ले सकता है तथापि इसे अनवरत और कठोर होना चाहिए। हड़ताल, तोड़-फोड़, काम में सुस्ती, बहिष्कार इस संघर्ष के विभिन्न रूप और सीढ़ियाँ हैं। धीरे-धीरे चलनेवाले संघर्ष का बराबर खुले संघर्ष के रूप में विस्फोट होते रहने की जरूरत है। प्रत्यक्ष कार्रवाई श्रमिक संघवाद की पसन्द की अभिव्यक्ति हो जाती है।

'हड़ताल बिजली के प्रकाश की तरह काम करानेवाले मालिकों और काम करनेवाले मजदूरों के बीच के कायम अन्तर को साफ प्रकट कर देती है।' इन शब्दों को उद्धृत करने के बाद हैरी लेडलर आगे कहते हैं—"हड़तालियों को अपनी लड़ाइयाँ 'तहलके और दबाव' से जीतने का प्रयास करना चाहिए।" ऐसी स्थिति में श्रमिक संघवाद, 'नृशंस' समाजवाद था।

हड़ताल की लहर को बढ़कर आम हड़ताल का रूप धारण करना

चाहिए या कम-से-कम आम हड़ताल होने का लक्ष्य तो रखना ही चाहिए। इस प्रकार हड़ताल मजदूरों को मजबूत बनाती है, नेतृत्व के लिए उपयुक्त नेताओं का पता चल जाता है, संकट का वातावरण तैयार होने से उदासीन लोग भी सक्रिय हो जाते हैं। मजदूर चक्रवात में पड़ जाता है और उसके सभी सम्बन्ध और परम्पराएँ टूट जाती हैं।

मजदूरों द्वारा अपने ही अनुभवों के सहारे विकसित श्रमिक संघवाद की यही विशेषताएँ थीं। सबसे बड़े अस्त्र के रूप में आम हड़ताल की कल्पना एक मजदूर फरनेण्ड पेल्टीयर (१८६७-१९०१) ने की।

इसका दार्शनिक विस्तार सुयोग्य बुद्धिवादी जार्ज सोरेल (१८४७-१९२२) ने किया, जिनका खयाल था कि "धीरे-धीरे घुसती हुई 'बुद्धिवादियों की तानाशाही' ने मजदूरों को पंगु कर दिया है। वे सर्वहारा को हिंसावादी बनाना और उसे समझौते की सभी प्रवृत्तियों से मुक्त करना चाहते थे। 'वर्ग संघर्ष की साफ और निर्मम अभिव्यक्ति' के रूप में बलप्रयोग श्रमिक संघवादी समाज की आवश्यक युद्ध-विधि थी, बल्कि यह कहना चाहिए कि वह इससे भी कुछ अधिक थी। सर्वहारा की हिंसा भावी क्रान्ति को केवल निश्चित ही नहीं बना देती, बल्कि एकमात्र साधन भी प्रतीत होती है। यूरोपीय राष्ट्र जो इस समय मानवतावाद के चक्कर में फँस गये हैं, अपनी पुरानी शक्ति पुनः प्राप्त कर सकते हैं।"*

हड़तालें और बलप्रयोग अन्यायपूर्ण समाज को विखण्डित और विनष्ट कर देते हैं और सर्वहारा के नैतिक तन्तुओं को मजबूत बनाते हैं। हड़तालों और संघर्षों की कठिन अग्नि परीक्षा में 'न्याय' की क्षीण हो रही धारणा का स्थान 'सम्मान' की नयी धारणा ग्रहण कर लेती है। सोरेल के विचार से सर्वहारा का क्रान्ति रोकना तत्काल होनेवाले वास्तविक लाभ के अलावा स्वयं में नैतिक निमित्त भी रखता है। समझौता कर लेने या झुकने की राजनीति से उन्हें सबसे अधिक आशंका थी और

* जार्ज सोरेले : रिफ्लेक्शन्स आन वायोलेन्स, पृष्ठ ९० ।

वे ऐसा मानते थे कि यह प्रवृत्ति नैतिक पतन की ओर ले जानेवाली है। 'शक्ति प्रयोग के फलस्वरूप प्राप्त और कायम सुधार ही वास्तविक हैं।'

सोरेल चाहते थे कि बलप्रयोग बिना किसी घृणा या प्रतिशोध की भावना के किया जाय। इसमें वीरता की प्रवृत्ति होनी चाहिए, इसे नियति द्वारा सौंपा गया कार्य समझा जाना चाहिए। उदात्तता और विशुद्धता की दृष्टि से सोरेल के बलप्रयोग में लोकमान्य तिलक (१८५६-१९२०) द्वारा व्याख्यात बलप्रयोग की पवित्र निष्कपटता थी। ऐसा दोषमुक्त शक्तिप्रयोग नैतिक दृष्टि से शुद्ध करनेवाला, बल देनेवाला और उत्थान करनेवाला होता है।

सोरेल का समाजवाद साफ-साफ लोकतंत्र-विरोधी था। साधारण लोगों के विषय में उनकी कोई राय नहीं थी और उनके लिए इन लोगों का कोई उपयोग नहीं था। 'बहुमत' अर्थात् समूह, गले पर हाथ लगाकर रोकनेवाला होता है। राजनीतिक बहुमत जब अपने प्रभाव को जताना चाहता है, तब उसका प्रभाव प्रगतिशील, सक्रिय और अधिक बढ़े हुए अल्पमत की प्रगति में बाधक और निरोधक हो जाता है। चुनिन्दा लोगों को नेता बनाने का सिद्धान्त श्रमजीवी वर्ग में भी काम कर रहा था। 'अल्पमत के संघर्ष से होनेवाले श्रमजीवियों के समूह को अल्पमत की प्रेरणा और नेतृत्व स्वीकार करना ही पड़ता है।'

आम हड़ताल का एक प्रयोजनात्मक महत्त्व है, वह प्रत्यक्ष कार्रवाई के विभिन्न चरणों में किये गये सभी प्रयासों को सार्थक बना देता है। आम हड़ताल हो या न हो, इसका मुख्य महत्त्व आह्वानात्मक है या जैसा कि सोरेल ने कहा है : "आम हड़ताल एक 'कल्पित कथा' (मीथ) है।" इस 'कल्पित कथा' की व्याख्या उन्होंने 'प्रतीकों का समूह, जो सहज भावनाओं को उभाड़ सके' की। कल्पित कथा 'वस्तुओं का निरूपण नहीं, बल्कि कर्म के निश्चय की अभिव्यक्ति है' और इसलिए तर्क और खण्डन से परे है।

सोरेल कल्पित कथा को उतोपिया से बहुत सूक्ष्मता से अलग करते हैं।

कल्पित कथा का कोई विश्लेषण नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी-न-किसी समूह के विचारों के अनुसार होती है, जब कि उतोपिया के सम्बन्ध में न केवल विचार-विमर्श हो सकता और उसकी तुलना की जा सकती है, अपितु आवश्यकता होने पर उसका नमूना स्थापित करके वर्तमान समाज से उसकी भिन्नता भी प्रदर्शित की जा सकती है।

श्रमिक संघवाद में हड़ताल के लिए कार्रवाई के लिए वचनबद्धता होती है, जिसका मतलब विवेक और संयम से पराङ्मुख होकर विद्रोही जीवन स्वीकार करना है। यह 'मैगनम मेअर' (magnum mare) में कूदना है, जिसे बर्क हार्ड ने बहुत घृणास्पद रूप में प्रस्तुत किया है। वर्ग-संघर्ष किसी सामाजिक साध्य के लिए साधन न होकर एक प्रिय उद्देश्य बन जाता है। श्रमिक संघवाद (कम-से-कम जिस रूप में वह सोरेल द्वारा प्रस्तुत किया गया है) समाजवाद को थोथा बना देता है, वह हिंसा के म्यान के रूप में जीवित रहता है, वर्ग भावना की दृष्टि से जाग्रत चुनिन्दा श्रमजीवियों के दुर्निवार आदर्श के लिए कायम रहता है।

"श्रमिक संघवाद के वर्ग में पहली बार यूरोप में ऐसे व्यक्ति की एक किस्म दिखाई पड़ी जो विवेक को छोड़ना या सही होना नहीं चाहता, अपितु अपने मत को लादने के लिए आमादा है। यह विवेक न अपनाने का अधिकार, 'अविवेक का विवेक' एक नयी चीज है।"*

ट्रेड-यूनियन को गुणात्मक दृष्टि से भिन्न समूह बनाने के श्रमिक संघवादी प्रयास का वस्तुतः कोई आधार नहीं है। अन्य सामाजिक संगठनों की तरह यह भी उत्साह की लहरों और निरुत्साह की सीमा में बँधा हुआ है। सक्रिय निष्ठा उत्पन्न करने के लिए इसकी शक्ति दूसरे समूहों से अधिक नहीं है। मीरा कुमारोव्स्की के अध्ययनों से प्रकट है कि ट्रेड-यूनियनों में शामिल मजदूरों में केवल लगभग दो प्रतिशत ही स्वेच्छापूर्वक यूनियनों के नियमित कार्यों में भाग लेते हैं। इससे थोड़े ही अधिक लोग किसी प्रकार के सामुदायिक कार्यों में शामिल होते हैं।

* जोज ओरतेगे गैसेट : दि रिवोल्ट आफ दि मासेज, पृष्ठ ८०।

हिंसा और विवेकहीनता की प्रधानता मजदूरों को प्रिय नहीं लगती। यह कुछ ऐसी चीज मालूम होती है जो बुद्धिवादियों द्वारा ऊपर से लादी गयी है, जो उनकी कपटपूर्ण, अतिक्रामक 'तानाशाही' के विरुद्ध प्राप्त संरक्षण है। लघु समाज और धरती से दूर रहने के बावजूद औद्योगिक मजदूर की अब भी कुछ परम्पराएँ तथा बन्धन हैं, और साथ ही है घर पर और अधिक पड़े रहने का विचार। केवल बुद्धिवादी ही पूर्णतः स्वतंत्र हैं, वे समाज में जड़ जमाने की चिन्ता और उत्तरदायित्वों से मुक्त हैं और दर्शन को विशिष्ट बनाने में अपना समय लगाने के लिए आजाद हैं।

विघटन : समाजवाद का सेतु

मार्क्स ने पूँजीवाद का जो मर्मभेदी विश्लेषण किया है, उसमें उन्होंने दिखाया है कि वह सभी आत्म-निर्भर समाजों को बड़ी निष्ठुरता से चौपट करता है। उसका काम स्वाभाविक अर्थ-व्यवस्था और वस्तु-प्रधान अर्थ-व्यवस्था को अपने चंगुल में करना और नष्ट कर देना है। विस्तार के साथ इसे यों कहना चाहिए कि स्वाभाविक अर्थव्यवस्था के विरुद्ध पूँजीवाद पहले स्वदेश में और फिर उपनिवेशों में निम्नलिखित तरीके अपनाता है :

१. भूमि, जंगलों में शिकार, खनिज, रबड़ आदि की तरह की विदेशी वनस्पतियों जैसी उत्पादक शक्तियों के महत्त्वपूर्ण स्रोतों पर अधिकार प्राप्त करना।

२. श्रमिक शक्ति को मुक्त करना और उसे नौकरी करने के लिए विवश बनाना।

३. वस्तु-प्रधान अर्थ-व्यवस्था प्रचलित करना और

४. व्यापार और कृषि को एक-दूसरे से अलग करना।

पूँजीवादी विकास का यह तकाजा है कि समाज के परम्परागत आधार को रत्ती-रत्ती करके नष्ट कर दिया जाय, सामाजिक ढाँचों को तोड़ दिया जाय, मानव को 'मुक्त' किया जाय, उसका पृथक्करण और व्यक्तिकरण किया जाय और उत्पादक शक्तियों को पूँजीवादी लपेट में लाया जाय। उत्पादक शक्तियों में सबसे खास और सार्वत्रिक है भूमि,

उसके भीतर छिपी हुई खनिज सम्पत्ति, उसके चरागाह, जंगल, जल, विभिन्न पशुओं के झुण्ड और समूह। सम्पत्ति के इन स्रोतों का उपयोग करना, इन्हें उन व्यक्तियों से जिनका इन पर अधिकार है, जो इनमें काम करते हैं, मुक्त करना, अपने प्रभाव में लोगों को रखनेवाले संगठन को नष्ट करना, यही पूँजीवाद के कार्य हैं।

पूँजीवाद की संग्रह करने की पिपासा गैर-पूँजीवादी सामाजिक आर्थिक ढाँचे के स्वाभाविक और आन्तरिक विघटन से ही शान्त नहीं होती। पूँजीवाद विघटन में तेजी लाना चाहता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष बल-प्रयोग पूँजीवाद का अनिवार्य साधन बन जाता है। इतिहास की प्रक्रिया के प्रकाश में देखा जाय, तो पूँजी का संचय हिंसा को न केवल अपने उद्भव, बल्कि विकास के भी अखंड अंग के रूप में अपनाता है।

हरएक ढेर कहीं न कहीं शून्यता लाता है। पूँजी का संग्रह समाज में शून्यता लाता है। जमीन घेरने के आन्दोलन ने भूमि का सञ्चय कर लिया और किसानों को भूमिहीन, गृहहीन, कार्यहीन अर्थात् सब मिलाकर मूलहीन बना दिया। नये-नये यंत्रों के साधन से होनेवाला पूँजीवादी उत्पादन अपने गाँव में, अपने घर में हाथ से माल तैयार करनेवालों की जड़ साफ कर देता है। ब्रिटेन में एक जुलाहा १७९७–१८०४ में २६ शिलिंग ८ पेंस प्रति सप्ताह कमाता था, १८२५–३२ में उसकी कमाई घटकर ६ शिलिंग ४ पेंस हो गयी।

व्यक्ति की सामाजिक सुरक्षा समाप्त कर देना, नष्ट कर देना पूँजी-संग्रह का सारतत्त्व है। द्रौपदी का चीरहरण हमारे युग का प्रधान प्रतीक बन गया है।

व्यक्ति को प्राप्त समाज का संरक्षण ही नहीं, बल्कि उसके जीवन की सारी सार्थकता और विशिष्टता लुट गयी। "बुर्जुआ वर्ग ने अपने तेज से अनेक ऐसे व्यवसाय छीन लिये, जिनमें भक्ति और श्रद्धा की भावना मानी जाती थी। डाक्टर, वकील, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक उसके कमाई करनेवाले मजदूर बन गये हैं" (मार्क्स-एंगेल्स घोषणापत्र)। हरएक

चीज भ्रष्ट कर दी गयी है, विकृत बना दी गयी है, छिन्न-भिन्न कर दी गयी है, खोखली बना दी गयी है और 'तेजहीन' कर दी गयी है। पूँजीवाद की सावधान करनेवाली उँगलियों ने मानव को उसके सामाजिक संरक्षणों और सम्बन्धों से रहित कर दिया है और उसे सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से वस्त्ररहित तथा अकेला बना दिया है।

आधुनिकता के प्रथम प्रकट धार्मिक-सुधारने, जिससे पूँजीवाद का जन्म हुआ, कैथलिक धर्म द्वारा प्रदत्त सुरक्षा के सारे 'आवरण' को उसके सांस्कारिक, बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक आधारों तथा सांत्वनाओं के सहित अस्वीकार कर दिया। लूथर और कालविन के अनुयायी परमात्मा के सामने अकेले हाजिर होने में विश्वास (Soli Deo Gloria) करते थे। मध्य-कालीन कैथलिकों की गूढ़, दुष्कर, सर्वेश्वरवादी सांस्कृतिक अवस्था से उन्हें घोर घृणा थी। वे विश्वास करते थे कि मानव शुद्ध आत्मा से रहस्यमय संसार का सामना कर सकता है। 'रक्षा के आवरण' को उतार फेंकने की जिस प्रवृत्ति का प्रोटेस्टेण्ट या सुधारवादी ईसाई धर्म ने सूत्रपात किया, उसे पूँजीवाद ने, जैसा कि मार्क्स ने अविस्मरणीय पृष्ठों में लिखा है, क्रूर निष्ठा के साथ आगे बढ़ाया। अब मार्क्स चाहते हैं कि सर्वहारा समाजवाद की ओर ले जानेवाले एकमात्र सेतु के रूप में उस प्रक्रिया को जारी रखे, सभी बन्धनों को तोड़ दे और विघटन कर दे।

भारी कष्ट झेलकर सर्वहारा नये जीवन का बहुमूल्य तत्त्व प्राप्त करता है। उसके पास कुछ न होना ही द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार उसे अन्तिम रूप से विजयी बनानेवाली शक्ति बन जाता है।

चक्करदार द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त ही मार्क्स के विचार का आधार था। १८४४ में ही उन्होंने लिखा था : "तब जर्मनी की मुक्ति की व्यावहारिक सम्भावनाएँ क्या हैं ? इसका उत्तर यह है : ये सम्भावनाएँ एक ऐसे वर्ग के निर्माण में मिलेंगी, जिसे एक साथ रखनेवाला बन्धन मौलिक हो। यह समाज का ऐसा वर्ग है, जिसके पास जगह-जायदाद कुछ भी नहीं है, यह ऐसी मंडली का है, जिसका व्यापक रूप से पीड़ित होने के कारण

व्यापक रूप है, जो किसी अधिकार-विशेष का दावा नहीं रखता, क्योंकि उसे किसी एक खास अन्याय से ही पीड़ित नहीं होना पड़ता, जिसके साथ कोई ऐतिहासिक पदवी नहीं लगी चली आ रही है, जो किसी प्रकार का एकतरफा विरोधपक्ष नहीं है, बल्कि जर्मनी की राजनीतिक व्यवस्था-सम्बन्धी पूर्वभावना का आमतौर से विरोधी है, और इन सब बातों के साथ ही यह ऐसा समूह है जो अपने को तब तक मुक्त नहीं कर सकता, जब तक स्वयं समाज के दूसरे समूहों से मुक्त न हो जाय, संक्षेप में ऐसा समूह है जो अपने सारे मानव अधिकारों से वंचित है। सर्वहारा इस प्रकार के समाज का विघटन है।"

जिस समसामयिक समाज में 'मानव ने अपने को खो दिया है' उसमें 'सभी वर्गों और जातियों से अलग' पड़ा हुआ सर्वहारा 'अपने को तब तक मुक्त नहीं कर सकता, जब तक वह स्वयं समाज से मुक्त न हो जाय।' मार्क्सवाद का यही सारतत्त्व है, इसीके प्रचण्ड प्रकाश में मार्क्स के सारे कार्य हुए।

जाँ जौरेस की व्याख्या थी कि हीगेल ने ईसाई धर्म में जो रूपान्तर किया, उसीकी तरह मार्क्स ने आधुनिक मुक्ति-आन्दोलन को चित्रित किया है। जिस प्रकार ईसाई धर्म का भगवान् पूरी मानव जाति की मुक्ति के लिए स्वयं पीड़ित मानव जाति के सबसे छोटे रूप में उतर आया, जिस प्रकार व्यक्ति का अनन्तकाल तक छोटा होना मानव के अनन्त-काल तक उद्धार का आधार था, उसी प्रकार मार्क्स के शास्त्र में आधुनिक उद्धारक सर्वहारा को सभी संरक्षणों (गारण्टी) से रहित, हर अधिकार से वंचित और सामाजिक एवं ऐतिहासिक उन्मूलन के चरम बिन्दु तक आ जाना था, ताकि वह अपना उत्थान करके समस्त मानव-जाति का उत्थान कर सके। जिस प्रकार अपना मिशन पूरा करने के लिए मानव रूप में परमात्मा को कयामत के दिन तक, जब मुर्दे जी उठेंगे, दरिद्र, पीड़ित और तिरस्कृत रहना था, उसी प्रकार सर्वहारा को मानव जाति की क्रान्तिकारी कयामत, विद्रोह के दिन तक अपना पवित्र

कार्य करते रहना है। यह विद्रोह, जो पूँजीवादी दमन और पतन का निश्चित नियम है, बराबर आगे बढ़ता आ रहा है........इसीलिए सर्वहारा को दबानेवाली दमनकारी शक्तियों को बढ़ते देखकर मार्क्स ऐसा आनन्द अनुभव करते हैं जिसमें द्वन्द्वात्मक रहस्यवाद का तत्त्व निहित है।*

सर्वहारा अपने को मुक्त करे और इस प्रकार पूरी मानव जाति को मुक्त करे। इसके लिए उसे थोड़े समय के लिए नहीं, बल्कि सर्वहारा की क्रान्तिकारी विजय होने तक सभी सामाजिक सम्बन्धों से रहित और अलग रहना होगा।

सर्वहारा अपने ऐतिहासिक मिशन के लायक बन सके, इसके लिए मार्क्स ने मजदूरों को रक्षागत मरीचिकाओं, स्वार्थों और सहयोगों से मुक्त किया। धर्म को, जिसे मार्क्स ने 'क्रूरता का शिकार होनेवाले प्राणी की कराह, हृदयहीन संसार की अनुभूति, उत्साहहीन अवस्था का उत्साह' की संज्ञा दी 'जनता के लिए अफीम' कहकर निरर्थक करार दे दिया गया। पूँजीवाद परिवार को बाँध रखनेवाले स्नेह, पति-पत्नी जैसे बन्धनों को समाप्त कर दे रहा था। समाज में बड़ा समझा जाने का एकमात्र आधार सम्पत्ति था। मार्क्स ने कहा—"सर्वहारा के सभी पारिवारिक बन्धन पहले से ही टूटकर छिन्न-भिन्न हो चुके हैं।" इसी प्रकार अन्य सामाजिक स्थापनाएँ पूँजीवाद की शिकार बन गयी हैं।

मान्तेस्क की व्यंग्यपूर्ण आलोचना करते हुए मार्क्स ने कहा : 'कानून की आत्मा सम्पत्ति है।' अपने दुर्भाग्य का चिह्न लिए हुए हर-एक सामाजिक विचार और संगठन सापेक्ष है। पूँजीवाद समापन करने-वाला तेजाब था और मार्क्सवाद कपट का पर्दाफाश करनेवाला विश्वास। दोनों के बीच हर चीज बह जाती है। जहाँ सब कुछ सम्पत्ति पर निर्भर है, वहाँ कोई आदर्श, सिद्धान्त और सार्वलौकिक मूल्य नहीं हो सकता। वैज्ञानिक समाजवाद के निर्माताओं के विचार 'निरंकुश' को समाप्त करने

* स्टडीज इन सोशलिज्म। पृष्ठ ७१।

के विषय में साफ थे। "हम सनातन, परम और नित्य का नैतिक नियम कहकर लादे जानेवाले किसी भी नैतिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि नैतिक संसार के भी अपने स्थायी सिद्धान्त हैं, जो इतिहास और विभिन्न राष्ट्रों के बीच अन्तर को आगे बढ़ाते हैं।··· नैतिकता हमेशा एक वर्गगत नैतिकता रही है।···वर्गगत विरोधों और विचारों में उनके प्रभावों को बढ़ावा देनेवाली वास्तविक मानव नैतिकता समाज के ऐसे चरण में ही सम्भव होती है, जो वर्गगत असंगतियों को ही नहीं पार कर चुका है, अपितु उन्हें व्यावहारिक जीवन में भी भूल चुका है" (एंगेल्स)। इस शिक्षा का ही प्रभाव था कि फ्रांस के समाजवादी नेता जूलेस गंज्दे (Jules Guesde) ने घोषणा की : "कानून और सम्मान शब्द मात्र हैं।"

तिरस्कार, अभाव और चुपचाप बात मान लेने की प्रवृत्तियों के प्रति वही निष्ठुरता थी जो आदमियों में जीवन की उलझनें और गूढ़ता उत्पन्न कर देती है। इन उत्तेजनाओं को 'कमजोर का गुण' कहकर तिरस्कृत कर दिया जाता था। सर्वहारा को बहादुर, दयाहीन और निर्बलताहीन होकर भाग्य के हथौड़े को चलाना है। उतोपियावाद की मार्क्सवादी आलोचना केवल विज्ञान के आधार पर ही नहीं, वरन् इसलिए भी होती है कि उतोपियावाद में दृढ़ता नहीं है। मार्क्सवाद ने जहाँ विज्ञान के प्रकाश में अपने सिद्धान्त निरुपित किये हैं, वहाँ उसके मूल में यही 'दृढ़ता' है। नरमी के डर, 'पेटी बुर्जुआ' कहे जाने के भय ने बहुतों को सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की असंगतियों और पेचीदगियों के प्रति इस प्रकार की निष्ठुरता अपना लेने के लिए बाध्य किया है। उदारता का स्थान घृणा ले लेती है।

मार्क्स की जो प्रगाढ़ मानववादिता, गहरा रहस्यवाद, दुःखियों के प्रति दारुण निष्ठा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और ऊर्ध्वमुखी दृष्टि थी, वह समाज की सापेक्षवादिता, विद्वेष और एक प्रकार की जातिगत केन्द्रीयता (Ethrocentrism) से निर्मित हुई। इस अर्थ में वे भी अपने समय की देन थे।

स्वर्गवासी होने के बाद प्रकाशित अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'सीजरिज्म एंड क्रिश्चियानिटी' में प्रूधों ने कहा था—"सभी सिद्धान्त इतिहास की दृष्टि से वैसे ही समकालिक हैं, जिस प्रकार विचार की दृष्टि से।" यहाँ हम यह भी कहना चाहेंगे कि उनकी परिवर्तनीय शक्ति उन तथ्यों पर निर्भर करती है, जिनका स्रोत वातावरण में विद्यमान है।

मार्क्सवाद

मार्क्स के समय में पूँजीवादी बढ़ाव और औद्योगिक प्रगति से सम्बद्ध सम्पत्तिहरण (Alienation), व्यक्तिवादी स्वार्थपरता (Egocentrism), संघर्ष (Conflict) तथा विघटन (Dissolution) के विषय में अधिक प्रभावशाली विचार सबल आशावादिता से प्रभावित थे। हर व्यक्ति मानव के उद्भव के विषय में डार्विनवादी सिद्धान्त में और साथ ही उसके देवत्वपूर्ण भविष्य में विश्वास करता था। प्राकृतिक नियम की अपेक्षा सामाजिक प्रक्रिया में लोगों का व्यापक विश्वास था।

वास्तविकता और सिद्धान्त, इच्छा और प्रतिमान के बीच प्रत्यक्षवादी भेद, जिसमें वास्तविकता तथा इच्छा को प्रमुखता दी जाती है, इस युग की विशेषता थी। नीतिशास्त्र या तो पीछे ढकेल दिया गया या जैसा काम्टे (१७९८-१८५७) ने किया, उसे मनमाने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा गया। इस प्रवृत्ति से व्यवहारवाद का वह विचार आया, जिसके अनुसार "सत्य वही है, जो हमारे विचार के मार्ग में उपयोगी हो सके, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उचित वही है, जो हमारे व्यवहार के मार्ग में सहायक हो (विलियम जेम्स १८४२-१९१०)।" विज्ञानवादी दृष्टिकोण ने विचार की प्रामाणिकता को विचार की प्रामाणिकता सिद्ध करने की प्रक्रिया का स्थान दे दिया। सफलता में ही पावनता है।

नये समाज-शास्त्र की नींव संघर्ष में दी गयी। फ्रेंज ओपेहाइमर ने राज्य का जो विश्लेषण किया उसमें उन्होंने शक्ति और अभ्याक्रमण को सर्वोच्च स्थान दिया। गम्पलोविक्ज (Gumplowicz) ने हर समूह में आक्रमण और महत्त्वाकांक्षा की भावना होने की बात कही। "राज्य के

अंग सामाजिक समूहों में उतनी ही भयानक कलह होती है, जितनी गिरोहों और राज्यों में। उनका एकमात्र उद्देश्य अपना स्वार्थ होता है।" समूहगत सुखवाद के इस विचार पर एक नयी आचरण-संहिता का निर्माण हुआ, जिसमें व्यक्तिगत उत्तरदायित्व तथा सार्वभौम औचित्य की वात हटा दी गयी और यह पहले से मान लिया गया कि समूह-लिप्सा में ही समाज-कल्याण निहित हैं। इतना ही नहीं, हर समूह अपने को सामान्य साध्य का साधन ही नहीं मानता, वरन् अपने को ही साध्य समझता है। किसी समूह की श्रेष्ठता की माप संघर्ष में उसके सम्भावित या वास्तविक वजन से होती है। इससे एक नये विचार, जातिगत केन्द्रीयता (Ethnocentrism) का उदय हुआ। जातिगत केन्द्रीयता आन्तर समूह तथा वाह्य समूह के वीच व्यापक एवं कठोर भेद पर आधृत है। इसमें वाह्य समूह के प्रति पुरासक्त, नकारात्मक प्रतीक तथा विद्वेषपूर्ण भावनाएँ रहती हैं, आन्तर समूह के प्रति पुरासक्त स्वीकारात्मक प्रतीक तथा समर्पण की भावनाएँ रहती हैं और समूह में पारस्परिक व्यवहार में, जिसमें आन्तर समूह को वरीयता तथा वाह्य समूह को गौणता दी जाती है, उच्चस्तरीय अधिनायकवादी दृष्टिकोण होता है। हारे हुए व्यक्ति ने वहुत-सी वातों को जिन्हें उसके अहं ने स्वीकार नहीं किया, वहिर्जगत में स्थापित किया। अपनी कमजोरी के कारण लोग दूसरों की कमजोरी की अधिक निन्दा करते हैं और इस प्रकार अपनी आन्तरिक कमजोरी से वाह्य जगत् में लड़ते हैं।

व्यक्तिगत द्वन्द्व, सामूहिक टक्कर, वर्ग-संघर्ष, राष्ट्रीय युद्ध, इन सवसे मानव क्षत-विक्षत हो गया।

शक्ति के वल पर सामाजिक नवजागरण का प्रयास किया गया। विलफ्रेडो पैरेटो (१८४८-१९२३) ने लिखा : "शक्ति-प्रयोग समाज के लिए अनिवार्य है। उच्चवर्ग जव अपनी चालवाजियों या मूर्खता अथवा डरपोकपन के कारण शक्ति से घृणा करते हों, तव समाज के निर्वाह और समृद्धि के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि शासन करनेवाले वर्ग के

स्थान पर दूसरे वर्ग को प्रतिष्ठित किया जाय, जो शक्ति-प्रयोग के लिए तैयार हो और इसकी क्षमता रखता हो।" हिंसा की भट्ठी में आग धधकाने के लिए आवश्यक है कि 'लोमड़ियों' का स्थान 'शेर' लें।

फ्रेडरिक नीत्शे (१८४४-१९००) की उन्मादपूर्ण गर्जना कुण्डलिनी की जागृति को केवल बढ़ावा दे देती या अनजाने विकृत रूप में प्रस्तुत कर देती है।

विचार के केवल एक अंग पर ध्यान केन्द्रित किया जाय, तो विकास की नीयत स्पष्ट हो जाती है। युग की प्रवृत्ति के विकास को कानून की क्रमोन्नति में देखा जा सकता है। रुडोल्फ वॉन इहरिंग का कहना था कि कानूनी अधिकार का दूसरा पक्ष वे हित हैं, जिनकी रक्षा करना कानून का उद्देश्य है। अधिकार न राज्य के ऊपर है और न राज्य से परे। जार्ज जेलिनेक ने उचित और अनुचित, न्याय और अन्याय की सभी विभाजन-सीमाओं को छोटा किया। उनका मत था कि "समाज का शक्तिगत अधिकार उसके वास्तविक अधिकार से बड़ा है। 'स्वतः सीमन' (Auto limitation) से इसका रूप वैधानिक अधिकार हो जाता है।" हान्स केलसेन ने 'स्वतः सीमन' के नियम की अधीनता को अस्वीकार किया और कहा : "कोई भी अन्तर्वस्तु वैध हो सकती है, मानव का कोई ऐसा व्यवहार नहीं है जो वैधानिक आदर्श की अन्तर्वस्तु न बन सके।......राज्य के हर कार्य वैध कार्य हैं।" जोसेफ कोहेलर ने दूसरा ही रास्ता अपनाया। उन्होंने कहा : "मानव अधिकार हर उन्नति के लिए लाभदायक नहीं हैं।......संस्कृति के लिए त्याग सबसे बड़ा त्याग है जो व्यक्ति कर सकता है, किन्तु यह ऐसा त्याग भी है जो व्यक्ति को करना चाहिए।" एरिक काफमैन ने 'संस्कृति' का स्थान 'शक्ति' को दिया और 'राज्य के अस्तित्व' की व्याख्या 'शक्ति का विकास' किया। कार्ल स्मिद्त ने 'शत्रु और मित्र में निश्चित रूप से राजनीतिक अन्तर' का विचार दिया और कहा : "जैसा कि अच्छे और बुरे (नीतिशास्त्र में) का अन्तर खूबसूरत और बदसूरत (सौन्दर्यशास्त्र में) या लाभप्रद और हानिकर

(अर्थशास्त्र में) के अन्तर की तरह नहीं है और न उनके स्तर पर उसे लाया ही जा सकता है। इन अन्तरों की तरह उसे समझने की गलती भी न की जानी चाहिए।" इस प्रकार कानून की क्रमोन्नति में राज्य और व्यक्ति की गैर-जिम्मेवारी को प्रश्रय मिला। कानून निष्प्राण शरीर की तरह है, एकमात्र प्राणवान् सत्य शक्ति है।

बौद्धिक वातावरण में जाल के पर्दाफाश, विघटन और बिलगाव की प्रधानता थी। इब्सन और स्ट्रिण्डवर्ग ने नैतिकता का पर्दाफाश किया, प्राउस्ट और गिडे ने विबद्ध मानव, उसके 'अंशों' और कृत्यों के विषय में लिखा। कला और साहित्य से उत्प्रेक्षावाद का जादू समाप्त हो गया, 'टुकड़ों' की छुड़कन में कोई ढाँचा कायम नहीं रह सका।

जिस शताब्दी में मार्क्स हुए उस शताब्दी में किसीने भी इन तथ्यों और प्रवृत्तियों को उतनी गहराई से नहीं समझा, जितना मार्क्स ने। समाज की बुराइयों और उन बुराइयों की जड़ 'पूँजी' के प्रति उनके वीरोचित क्षोभ का जन्म उनके इस अनुभव से हुआ कि पूँजीवाद मजदूर को 'मशीन का दास' बनाये दे रहा है। उन्हें इस बात का क्रोध था कि मनुष्य के द्वारा तैयार की गयी चीजें ही मनुष्य के प्रति क्रूरता कर रही हैं और वह स्वयं निर्जीव वस्तु जैसा बन गया है। मानव का बिलगाव और विघटन करनेवाली इन शक्तियों के विरुद्ध ही मार्क्स के कम्युनिज्म का जन्म हुआ।

एंगेल्स की तरह मार्क्स के कम्युनिज्म का मूल आर्थिक नहीं, बल्कि दार्शनिक था। स्वयं से और अपने कार्य से व्यक्ति के दूर रहने का कारण पूँजीवाद और धर्म हैं, जिनका आधार सम्पत्ति है। मार्क्स ने कम्युनिज्म द्वारा पूर्ण मुक्ति का मार्ग दिखाया। उनकी पूरी दृष्टि इन शानदार शब्दों से प्रकट होती है: "कम्युनिज्म उपलब्ध किया गया प्रकृतिवाद होने से मानव और प्रकृति के बीच, मानव और मानव के बीच, अस्तित्व और सार के बीच, वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ के बीच, स्वतन्त्रता और आवश्यकता के बीच तथा व्यक्ति और जातियों के बीच झगड़े को सही अर्थ में

समाप्त कर देगा। यह इतिहास की पहेली को सुलझा देता है और जानता है कि हम (कम्युनिज्म) उसे सुलझा रहे हैं।"

विघटनशील शुष्क समाज में विकसित हो रही ऐसी व्यापक दृष्टि, अतिमानवीय आत्मसजगता, मार्क्स के विचार का शानदार महल बन गयी।

मार्क्स ने मुक्ति के महान् आन्दोलन को व्यक्ति और समाज की अन्योन्य क्रिया में से प्रकट होता हुआ देखा।

मार्क्स ने व्यक्ति के सम्बन्ध में आनन्दवादी और हाब्सवादी धारणा को स्वीकार किया, जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति के बीच आत्मस्वार्थ के अलावा और कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने रूसो के 'सादगी के साथ सुख के लिए इच्छुक और सद्भाव में अकृत्रिम' प्राकृतिक मानव को भी माना। यह सर्वहारा आन्दोलन का काम था कि वह दो 'व्यक्तियों' की एकपक्षीयता से ऊपर उठे और स्वतन्त्र एवं परिपक्व मानव को सामने लाये।

मुक्ति के लिए इतिहास की गति और सामाजिक प्रवृत्ति को अच्छी तरह से समझने और प्रगतिशील प्रवृत्तियों को शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है। इस गति को समझने और क्रम को आगे बढ़ाने में मार्क्स ने हीगेल (१७७०-१८३०) के द्वन्द्वात्मक तर्क की सहायता ली। द्वन्द्वात्मक तर्क यथार्थ और विचार को गतिशील मानता है, हरएक चरण विरोध से संघर्ष करके समन्वय की स्थिति में पहुँचता है और यह समन्वय आगे बढ़ता है। संघर्षात्मक विलगाव के द्वारा चक्करदार प्रगति ही सत्य का अविच्छेद्य और अह्रास्य तत्त्व है। प्रकृति, जीवन और विचार सभी क्षेत्रों में विकास इस त्रिक (Triad) से फूटनेवाले टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होता है।

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक तर्क को ग्रहण किया, किन्तु इसे उन्होंने पदार्थ में स्थापित किया। यथार्थता वस्तुओं की होती है, विचार की नहीं; विचार वस्तु की केवल परछाईं होता है। मार्क्स-एंगेल्स ने 'जर्मन आदर्शवादी दर्शन के सुप्रसिद्ध द्वन्द्वात्मक तर्क को प्रकृति और इतिहास के भौतिकवादी

क्षेत्र में उतारनेवाले सम्भवतः प्रथम व्यक्ति' होने का गौरव प्राप्त किया। एक बार मौलिक परिवर्तन हुआ, तो एक नया सम्बन्ध, विचार का एक नया क्षेत्र सामने आया : 'नयी उत्पादक शक्तियों को प्राप्त करने में लोग अपनी उत्पादन विधि, जीविका-प्राप्ति का ढंग बदल देते हैं, वे अपने सारे सामाजिक सम्बन्ध बदल देते हैं।' बढ़ती हुई उत्पादन शक्तियाँ उत्पादन की विधि को बदल देती हैं और उदार सामाजिक व्यवस्था के लिए स्थिति तैयार कर देती हैं।

जो लोग वर्तमान उत्पादन विधि से लाभान्वित होते हैं तथा जो उसके शिकार हैं, उनके बीच संघर्ष के रूप में मुक्ति की प्रक्रिया चलती रहती है। बढ़ती हुई उत्पादन शक्ति से पीड़ितों को सफलता की आशा होती है। इस प्रकार उस वर्ग संघर्ष का जन्म होता है, जो पुराने अन्तरों को समाप्त कर देगा और अन्तिम मुक्ति निश्चित कर देगा।

पूँजीवाद मानव-श्रम को वस्तु में परिवर्तित करता है। उत्पादन की आधारभूत विधियों में मानव सम्बन्धों पर पर्दा पड़ जाता है। लोगों के बीच सम्बन्ध वैसा ही हो जाता है जैसा वस्तुओं के बीच। यह ऐसी विचित्र बात है, जिसे मार्क्स ने 'भौतिक वस्तुओं के रूप में समझा जाना' (Verdinglichurg) कहा है। मानव-श्रम को भौतिक वस्तु के रूप में समझे जाने, उसे वस्तु के स्तर पर रखने से विनिमय और स्वाभाविक न्याय के दो रूप हो जाते हैं : मजदूर का पारिश्रमिक उसके श्रम के बराबर होता है, मालिक को प्राप्ति श्रम-शक्ति के बराबर होती है। श्रम को श्रम-शक्ति से अलग किये जाने से अतिरिक्त श्रम रह जाता है। यह अतिरिक्त श्रम शोषण तथा तबाही, पूँजी संचय, बचत में वृद्धि और अन्ततः सम्पत्ति के थोड़े से हाथों में खिंच आने को बढ़ावा देता है।

बढ़ते हुए अतिरिक्त मूल्य का फल यह होता है कि उसके साथ-साथ आर्थिक विस्तार होता है, सफल उद्योग मालिकों के ग्रूप का अन्तर घटता है, मजदूरों की तबाही बढ़ती है और उनका समाजीकरण होता है। केन्द्रीकरण अनेक लोगों के सहयोगपूर्ण श्रम की एकसूत्रबद्धता को

उत्पादन की सामाजिक दृष्टि से मिली-जुली प्रक्रिया बनाकर संचय के कार्य की सम्पूर्ति करता है।

पूँजीवादियों को उखाड़ फेंकने की शक्ति 'मजदूर समूह का श्रमिक' बनने से ही आती है, 'समूह' में ही वह 'आघात करने की शक्ति' प्राप्त करता है। मार्क्स ने कारखाने को 'समूह का श्रमिक' बनानेवाला और आदर्श माना है, ऐसे कार्यों का समूह माना है, जो एक-दूसरे पर निर्भरता के साथ एक सूत्र में सम्बद्ध हैं।

उत्पादन-शक्ति और उत्पादन-विधि के बीच, उत्पादन-विधि और वितरण-प्रणाली के बीच, आर्थिक विस्तार और बढ़ती हुई तबाही के बीच, पूँजीवादी संचय और मजदूरों के समूहीकरण के बीच व्याप्त आन्तरिक असंगति इस सीमा पर पहुँच जाती है कि क्रान्ति हो जानी चाहिए अन्यथा सारा समाज धराशायी हो जायगा।

क्रान्ति उत्पादन और वितरण के सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित कर देती है और उत्पादन शक्तियों से दरार को मिटा देती है।

बुर्जुआ वर्ग के उखाड़ फेंके जाने के बाद सर्वहारा की तानाशाही का संक्रमण काल आता है। चूँकि सर्वहारा सारे शोषण का आधार था, इसलिए उसकी विजय और तानाशाही राज्य को, जो हमेशा शासकवर्ग के हाथ का प्रताड़न यंत्र था, 'समाज का वास्तविक प्रतिनिधि' बना देती है और इस प्रकार 'अपने को ही अनावश्यक कर लेती है।' 'एक के बाद दूसरे चरण में राज्य का हस्तक्षेप निरर्थक हो जाता है और फिर अपने आप समाप्त हो जाता है।'

इतिहास की लम्बी प्रसव-पीड़ा के बाद अन्ततः वर्गहीन समाज का जन्म होता है, जो मानव की पहली मानवीय मर्यादा है। 'जीवन की परिस्थितियों का सारा क्षेत्र, जिससे मानव घिरा हुआ है और जो अब तक मानव पर शासन करता था, अब मानव के अधिकार और नियंत्रण में आ जाता है।' दासता से मानव और प्रकृति की मुक्ति किसी मशीन के करतब का फल नहीं है, बल्कि समाज में पहले से ही विद्यमान

तत्त्वों के पूर्ण रूप से प्रकटन, सभी निषेधों के निषेध, जो चीज दबी हुई थी उसे समाज की पूरी शक्ति से सक्रिय करके और दर्शन द्वारा प्रबुद्ध सर्वहारा के क्रान्तिकारी उफान से प्राप्त किया गया है।

किसी विचार में सत्य और किसी कार्य के औचित्य को जीवन में व्यावहारिक कार्य से समझा जाता है। आलोचनात्मक विश्लेषण और कृत्य-गत समन्वय साथ-साथ आगे बढ़ते हैं। बाह्य संसार में काम करके और उसे परिवर्तित करके मानव अपने स्वभाव में भी परिवर्तन करता है।

इस प्रकार मार्क्स का महान् विचार हर चीज को बहती धारा बना देता है। द्वन्द्वात्मक तर्क आधारभूत सिद्धान्त की चरितार्थता सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं द्वारा सोचता है। सामान्य बुद्धि द्वारा स्थिर उद्देश्यों का सामंजस्ययुक्त संसार भंग हो जाता है और स्वयं लोक-प्रवाह में मिल जाता है। हर वस्तु में एक अविरल गति, एक स्थायी सुन्दरता आ जाती है। ज्ञान और क्रान्तिकारी विकास की एक-दूसरे के साथ मेल न रखनेवाली सापेक्षता एक-दूसरे के अन्तर में प्रवेश करने लगती है।

व्यापक असंगतियों ने विघटन के वातावरण को और बल प्रदान किया। मौन सम्मति और गतिविधि के बीच जीवन और विचार की स्थिति कम्पनयुक्त तनाव जैसी हो गयी, जिसमें बराबर बदलते हुए विचार ही किसी घातक पराकाष्ठा के चंगुल में जाने से बचा सकते हैं।

निस्सन्देह दर्शन ने विघटनवादी आन्दोलन को तेजी प्रदान की। इसने सुस्थिरता नहीं आने दी और उपलब्धि तथा दृढ़ता पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। इस आन्दोलन की विशेषता यह थी कि यह लपेट में नहीं आया। इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण एंगेल्स की पुस्तक '१८४४ में इंग्लैण्ड में श्रमजीवी वर्ग की स्थिति' (दि कण्डीशन आफ वर्किंग क्लास इन इंग्लैण्ड इन एट्टीन हण्ड्रेड फोरटी फोर) में मिलता है। एंगेल्स ने मजदूरों की दुःखद और सन्तापकारी तबाही का वर्णन किया है और कहा है कि इससे बचने का एकमात्र रास्ता क्रान्ति है। सुधार भले ही वह

कितना भी छोटा क्यों न हो, असम्भव है, क्योंकि या तो वर्तमान व्यवस्था वैसा कर नहीं सकती या उसे स्वीकार करने में बाधाओं की शृंखला खड़ी हो जायगी। १० घण्टे की काम की व्यवस्था के विधेयक पर उनकी टीका देखिये :

"राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से दिये जानेवाले उत्पादकों के इन तर्कों में आधा ही सत्य है कि १० घण्टा काम की व्यवस्था के विधेयक से उत्पादन का खर्च बढ़ जायगा, ब्रिटिश उद्योग विदेशी प्रतिस्पर्द्धा में ठहर न सकेंगे और मजदूरी निश्चित रूप से घटेगी। यदि १० घण्टे का विधेयक कानून बन जाता है, तो स्वभावतः इंग्लैण्ड जल्द ही तबाह हो जायगा, लेकिन चूँकि इस कानून के अनुसार दूसरे ऐसे कदम भी उठाये जायेंगे, जो इंग्लैण्ड को अब तक अपनाये गये तरीकों के बिलकुल विपरीत कार्रवाई करने के लिए बाध्य कर देंगे इसलिए कानून प्रगति की दिशा में कदम है।"

समाज में लचीलापन बहुत कम था। लोगों में स्थिर होने की कोई भावना नहीं थी। पचास वर्ष बाद १८९२ में जब एंगेल्स ने अपनी पुस्तक पुनः प्रकाशित की, तब उन्होंने यह प्रश्न नहीं किया कि घटनाओं ने क्यों उनकी भविष्यवाणी को गलत कर दिया तथा क्यों उनकी क्रान्ति सम्बन्धी आशाओं को भ्रान्ति और सुधार के सम्बन्ध में उनके सन्देहों को अविश्वास का भूत सिद्ध कर दिया।

ऐसा ही दूसरा उदाहरण एंगेल्स का आवास सम्बन्धी लेख है जो १८७२ और फिर १८८७ में छपा था। उन्होंने मजदूरों को अपना घर बनाने में सहायता करने, नगरपालिकाओं द्वारा मकान बनवाने और सहकारिता के आधार पर बस्तियों के निर्माण को प्रोत्साहन देने की सभी योजनाओं और सुधारों को अव्यावहारिक घोषित किया। ऐसा कोई भी सुधार मजदूरों के स्तर को गिरा देगा : 'छोटे मकान में लगायी गयी मजदूर की बचत एक प्रकार की पूँजी है, किन्तु यह मजदूर के लिए नहीं बल्कि उन पूँजीपतियों के लिए पूँजी है जो मजदूर के मालिक हैं।' पूँजीवाद

के अन्तर्गत एक ही सुधार सम्भव है, वह यह कि गन्दी वस्तियाँ हटायी जायँ। गन्दी वस्तियाँ समाप्त हो नहीं सकतीं। पूँजीवादी समाज नगर और देहात के बीच अन्तर को बढ़ाता है और इस प्रकार आवास की समस्या को कठिन बना देता है।

इस प्रकार एंगेल्स सहकारिता को निरर्थक मानते थे। पूँजीवादी ढाँचे में परिवर्तन और सुधार की कोई गुंजाइश नहीं थी। पूँजीवादी समाज को उखाड़ फेंकने से ही मजदूर जंजीर की जकड़ से मुक्त हो सकता था।

उनके मत से सामाजिक कानून मजदूर वर्ग को सुविधा प्राप्त (जो वर्तमान शासन के प्रति रुचि रखेगा) और उपेक्षित वर्ग में बाँटनेवाले और मजदूर वर्ग में जिन लोगों की अच्छी स्थिति हो उन्हें क्रान्तिकारी भावना से दूर रखनेवाले हैं।

समाज के लचीलेपन में विश्वास का अभाव विचार को दुराग्रह की पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है। यह पराकाष्ठा जवाबी पराकाष्ठा को उभाड़ती है और मजबूत बनाती है। अन्तर बढ़ता जाता है। पराजय के खतरे को खूब बढ़ाने-चढ़ाने से ही सफलता की आशा बढ़ती है।

वर्ग प्रमुख पात्र बन गया। वर्ग में व्यक्तियों के बीच कोई सुसम्बद्ध सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह कतिपय ऐसे समान तरीकों का नाम है, जिन तरीकों पर लोग कार्य करते हैं। यदि लोग एक साथ 'वर्ग' में एकत्र किये जा सकते हैं और उन्हें नया आकार प्राप्त हो सकता है, तो उसी प्रकार वे एक राष्ट्र, पार्टी और जाति भी बन सकते हैं। समूह की कल्पना नयी ऊँचाई पर पहुँच जाती है।

मुक्ति का सन्देशवाहक 'समूह का मजदूर', समूह में विलीन व्यक्ति था। मजदूरी के लिए गुलामी से स्वतन्त्रता के अन्त और उसके फलस्वरूप मानवता के अन्त के प्रति मार्क्स की गहरी संज्ञाशीलता ने उनमें सामाजिक क्रान्ति की भावना का उदय किया। उन्होंने समझा कि सामूहिक जीवन और सामूहिक कार्य से मानव पृथक्करण से बच सकता है।

इस प्रकार मार्क्स ने अपने समय की 'तेज गति' को पकड़ा और समाज की सामूहिकता की शक्ति को सामने रखा। जब व्यक्ति की वैयक्तिकता और एकता चारों ओर से घिर गयी हो, तब उसकी पूर्णता, स्पष्टता और एक साथ होने पर जोर देना चाहिए। उसमें जाग्रति लानी चाहिए। मार्क्स ने पूरी शक्ति से सामूहिकता का पक्ष लिया। विघटन और समूह-वाद की प्रवृत्तियों के बीच सक्षम समाज-दर्शन अलंघनीय नियमों की नीति चाहता है, ऐसा अनुशासन चाहता है, जो व्यक्ति की शक्ति को मजबूत करे, क्योंकि उसे मानव का संसार के बराबर फैलाव करना था, संसार को व्यक्ति में केन्द्रित करना था। इस अभीष्ट वस्तु के साथ व्यक्ति समाज में घुल-मिल जाता है, राष्ट्र, वर्ग या पार्टी में समाहित हो जाता है और राज्य समाज को निगल जाता है। जिस उदार समाज के लिए उत्कण्ठा थी, उसके स्थान पर दास बनानेवाला राज्य आ जाता है।

सन् १८६२ में बिस्मार्क जब सत्तारूढ़ हुए, उन्होंने युग की आस्था इस प्रकार घोषित की : "आज के बड़े-बड़े प्रश्नों का निर्णय भाषणों और संसद में बहुमतों से न होगा, बल्कि इसका निर्णय रक्त और शस्त्र के द्वारा होगा।" १८७० के बाद बूटों की वह टाप जीवन के हर क्षेत्र में सुनाई पड़ी।

रक्त और शस्त्र का समाजवाद

मार्क्स ने देखा कि संचय, विस्तार और गति में शीघ्रता पूँजीवाद का उद्देश्य हो गया है। संग्रह की बीमारी वस्तुतः जीवन के हर क्षेत्र में आयी। संचय की प्रक्रिया केवल धन के लिए नहीं, बल्कि जैसा कि लूथर ने कहा था और स्वयं मार्क्स ने भी स्वीकार किया था, धन के लिए दौड़ने के पीछे विद्यमान वास्तविक लक्ष्य शक्ति और सत्ता के लिए शुरू हुई। इस भावना से प्रभावित लोग महाद्वीपों पर अधिकार का स्वप्न देखने लगे और शताब्दियों के भविष्य की दृष्टि से सोचने लगे।

साम्राज्य-विस्तार से अतिरिक्त वस्तुओं और पूँजी को नहीं, बल्कि अतिरिक्त शक्ति और व्यक्तियों को भी बस्तियों में 'बाजार' मिल गया। अशान्त और गड़बड़ी करनेवाले लोगों को अपनी उबलती हुई और

अनियन्त्रित शक्ति का बस्तियों में उपयोग करने का अवसर मिला। वहाँ बाहुल्यता तथा व्यक्तियों के आधिक्य से 'नृशंसता' के राज्य को बिना किसी रोक-टोक के बढ़ने का अवसर मिला। सिसिल रोड्स (१८५३-१९०२), राजा लियोपोल्ड द्वितीय (१८३५-१९०९), ई० बी० क्रोमर (१८४१-१९१७) को पिछड़े देशों में फैलने का खूब उपयुक्त अवसर मिला। बस्तियों की जनता खनिज तथा व्यावसायिक वनस्पतियों जैसी दुर्लभ वस्तुओं के उत्पादन के लिए पर्याप्त साधन के रूप में मिल गयी।

राष्ट्रगत श्रेष्ठता और जातिगत अभिमान की भावना मध्यवर्ती व्यापारियों और वाणिज्य की देखरेख करनेवाले राज्य-प्रतिनिधियों को अपराध करने से रोकती थी और इस भावना के ही कारण वे सहानुभूति भी नहीं रखते थे। जैसे व्यवहारों की स्वदेश में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, बस्तियों में वैसे व्यवहार साधारण चीज बन गये। आखिर बस्तियों में जाकर रहनेवाले लोगों में 'कानून की दृष्टि से' स्वदेश में रहने-वालों के बराबर 'रक्तगत शुद्धता' भी तो नहीं मानी जाती थी। केवल विज्ञान नहीं, बल्कि लोगों के बाहुल्य से ही कुछ कार्य हो सकता था।

ब्रिटेन की बस्तियाँ बढ़ती जा रही थीं और जितने भी लोग देश से जाते थे, इन बस्तियों में खप जाते थे। बर्क (१७२९-९७) ने आशंका प्रकट की थी और इस सम्बन्ध में 'कानून बनानेवालों का विरोध' भी किया था कि बस्तियों में 'कानून तोड़नेवाले' स्वदेश वापस आ जायँगे। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। दूसरे देशों की स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी। कुछ को समुद्र पार के देशों में जाकर विस्तार करना अच्छा नहीं लगा। प्रशिया के जर्मनों, आस्ट्रिया के जर्मनों और रूसियों ने ऐसे साम्राज्य का स्वप्न देखा और उसके लिए कोशिश की, जो उनके भू-भाग से मिला रहे। वे अपने को 'यूरोप निवासी' समझते थे और 'यूरोपीय राज्यों' की प्राप्ति के लिए ही आकांक्षा रखते थे। समग्र जर्मन और समग्र स्लाव आन्दोलनों ने एक नयी संयुक्त शक्ति तैयार कर दी, जिसमें राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और जातिवाद की भावनाएँ भरी हुई थीं और हर भावना में खूँखारपन

था। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि घुटे हुए अनुदार पंथियों ने समग्र स्लावववादी प्रवृत्ति को प्रच्छन्न रूप में क्रान्तिकारी आन्दोलन समझा।

'यूरोप निवासी' के रूप में समग्र जर्मन और समग्र स्लाववादियों की दृष्टि विस्तार के लिए यूरोप पर थी। 'मैं समुद्र पर शासन करना चाहता हूँ' ब्रिटेन के इस विचार के विपरीत रूस का विचार 'मैं भूमि पर शासन करना चाहता हूँ' (अन्ततः) समुद्र के मुकाबले भूमि की श्रेष्ठता और समुद्री शक्ति के मुकाबले भूमि शक्ति का अधिक महत्त्व हो जाना स्पष्ट करता है।

अनुकूल स्थिति होने से रूस को अपने अधिक आवाद और औद्योगिक क्षेत्रोंवाले मध्यभाग की सीमा के बाहर विशाल भू-भाग में फैलने का अवसर मिला। लेनिन के शब्दों में 'रूस में अति आधुनिक पूँजीवाद—साम्राज्यवाद एक में गुँथे हुए थे, बल्कि ऐसा कहना चाहिए कि पूँजीवादी सम्बन्धों से पहले के घने जाल में गुँथे हुए थे।' जर्मनी के मध्य यूरोप में होने और पड़ोस के राज्यों में उसके जो घिरे हुए क्षेत्र थे, उनके फलस्वरूप समग्र जर्मन आन्दोलन ने सारे यूरोप को हिला दिया।

अपनी भूमि से जुड़े हुए साम्राज्य और समुद्र पार के साम्राज्य में कुछ खास अन्तर थे। स्वदेश से मिले हुए विस्तृत साम्राज्य में वह भौगोलिक दूरी नहीं होती, जो शासक राष्ट्र और उसकी बस्तियों में होती है और न ही साम्राज्य में उसके तरीके इतने भिन्न हो सकते हैं, जैसे शासक राष्ट्र और उसकी बस्तियों के बीच होते हैं। समाज के श्रेष्ठ लोगों और आसानी से समुद्र पार साम्राज्य में भेज दिये गये लोगों में जैसा अन्तर होता है, वैसा अन्तर राष्ट्र के भीतर या पड़ोस में बनाना पड़ता है। यूरोप के भीतर कायम साम्राज्य घर में ही उपनिवेशवाद का वृक्ष लगाता। राज्य करने-वाले और उपनिवेश की तरह शासित को अलग करनेवाला विभाजन महाद्वीप के भीतर और कभी-कभी राष्ट्र के ही भीतर होने से कपटपूर्ण बन गया। राष्ट्रीय चेतना होने से जन-जाति जैसे सुदृढ़तर समैक्य का जन्म होता है। जैसा कि बाद में आस्ट्रिया के समाजवादी कार्ल रेनर ने

कहा था "इससे एक नया अनुलक्षण (Volkimperialismus) विकसित हुआ।"

स्वस्थ राजनीतिक समाज जनता के सहयोगपूर्ण प्रयास से बनता है। साझेदारी में काम के लिए बिन्दुपथ (locus) और दृष्टिपथ (focus) दोनों होता है। ऐसी स्थिति में ही मानव की सबके साथ सहयोग भावना सार्थक सम्बद्ध होती है।

नये सामाजिक समैक्य में दो कमियाँ हैं। एकाकी होने से बचाने के लिए यह व्यक्ति को जन-जाति के ढाँचे में सीमित कर देता है और मानव की आत्म-चेतना और आकांक्षा की अवस्था को समाप्त कर देता है। समाज धीरे-धीरे 'एक साथ बढ़नेवाला' ही रह जाता है। बूटों की टाप पशुओं के पैरों की आहट ही रह जाती है। आन्तर उद्देश्य के अभाव में यह बराबर शत्रुओं के खतरे की बात करके एकता रखता है। नयी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कार्ल स्मिट्त ने सैद्धान्तिक सूत्र दिया है और स्पष्ट किया है कि राजनीतिक एकता में तीन तत्त्व हैं: राज्य, गति और जनता। नये सामाजिक समैक्य में समाज को धूल की तरह बना दिया जाता है और वह गतिरूपी चक्रवात में चक्कर काटनेवाला बन जाता है। सामाजिक त्रिखंड, जिसकी ऊपरी मंजिल मानव, आधार राज्य और बीच का हिस्सा समाज है, औंधा कर दिया जाता है। इस घूमते हुए त्रिखण्ड की चोटी पर राज्य का कर्णधार या फ्यूहरर रहता है, जो गति का एकमात्र केन्द्रबिन्दु भी होता है। स्मिट्त ने दरअसल राज्य को जनता के स्वाभाविक हित (und volktrangede Tuhrungskorper) के समान समझा। इस प्रकार नाजियों ने विघटन की प्रक्रिया पूरी की। एक कठोर सत्य यह है कि नाजी दल अपने को केवल राष्ट्रीय और जर्मन ही नहीं, बल्कि मजदूरों की पार्टी कहता था। खूँखार राष्ट्रवाद और खूँखार समाजवाद के मूल में बहुत कुछ समानता है।

बेनिटो मुसोलिनी (१८८३-१९४५) को समाजवाद की शिक्षा ही नहीं मिली थी, बल्कि फासिस्ट होने के पूर्व तक वह समाजवादी पार्टी

का कर्णधार भी था। तरुणावस्था में उसने टैबरवादी आन्दोलन के जान हुस के विषय में अपने विचारों को लिपिबद्ध किया, जिससे हिटलर और मसारिक दोनों ने प्रेरणा ग्रहण की। मुसोलिनी ने लासेन में परेटो से शिक्षा पायी और 'प्रवर लोगों द्वारा नैतिक दृष्टि से सापेक्ष अधिकारार्थ कूटनीति' का अपना सिद्धान्त स्थापित किया, जो 'आधुनिक युग का सम्भवतः अत्यधिक असाधारण विचार' है। सिद्धान्त प्रस्तावना (प्रिलूडिया अल प्रिन्सिपे) में उसने इस तथ्य को पीछे ढकेल दिया कि 'मैकियावेली के विचार से राजा और प्रजा, राज्य और व्यक्ति में कोई भी विरोध घातक है।' उसने अपनी आस्था का सिद्धान्त 'सब कुछ राज्य में, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं, राज्य के बाहर कुछ नहीं' बनाया। जेण्टाइल के 'शुद्ध आचरण' की 'यथार्थता' के दर्शन के प्रभाव ने विचार और कार्य के सम्बन्ध को समाप्त कर दिया। मुसोलिनी की सापेक्षिकता और हृदयहीनता ने शब्दों की मर्यादा और अर्थ को खत्म कर दिया और इस प्रकार विचार को ही छिन्न-भिन्न कर दिया। उसने गर्व के साथ अपने को 'सामन्त के साथ ही लोकतंत्रवादी, क्रान्तिकारी के साथ ही प्रतिक्रियावादी, सर्वहारावादी के साथ ही सर्वहारावाद-विरोधी, शान्तिवादी के साथ ही शान्तिवाद-विरोधी' घोषित किया। फासिस्टवाद आप्त वचनों की कोई व्यवस्थित अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि दृष्टान्तों, आशाओं और आकांक्षाओं का एक सिलसिला है। जीवन और विचार को धूलवत् करके फासिस्टवाद निरंकुश बन गया।

स्पष्ट है कि मार्क्सवाद-विरोधियों की इन ज्यादतियों और स्वेच्छाचारों के लिए मार्क्स जिम्मेदार नहीं हैं। फिर भी सत्य यह है कि उनके समय की मूल प्रवृत्ति, पूँजीवाद की प्रबल भावना, विघटन थी। नाजीवाद और फासिस्टवाद इस प्रवृत्ति के चरम बिन्दु थे, 'नाशवाद की आखिरी क्रान्ति' थे। मार्क्स अपने दर्शन में सन्तुलन रखनेवाली शक्तियों की व्यवस्था करने में असमर्थ रहे, बल्कि इससे भी अधिक यह कहना चाहिए कि उनकी सापेक्षिकता और मसीहावाद (मुक्तिदाता सिद्धान्त) ने युग

की प्रवृत्ति को और भी बढ़ाया। युद्ध और आर्थिक मन्दी, जो फासिस्ट-वाद रूपी बच्चे का पालना बन गये, मार्क्स की दृष्टि में समाजवाद रूपी पक्षी के पर आने की पूर्व की स्थिति की तरह थे। युद्ध और मन्दी तथा उनके बाद की स्थिति समाज के सम्बन्धों को क्षत-विक्षत और मानव विभव को कमजोर कर देती है, यह नहीं सोचा गया। प्राणवान् और गतिमान् सामाजिक सम्बन्धों का तकाजा है कि समाज निर्माण द्वारा सामाजिक नवचेतना का संचार किया जाय और वैयक्तिक विकास की नीति अपनायी जाय—इस आग्रह को विज्ञान के नाम पर उतोपियावादी कहकर तिरस्कृत कर दिया गया।

मार्क्स की शिक्षाएँ उनके जीवन के संध्याकाल में कुछ नरम हुईं। १८८०–१९१० में यूरोप में स्थिरता की जो स्थिति आयी, उसका मार्क्स की शिक्षाओं और समाजवादी आन्दोलन पर भी प्रभाव पड़ा। इस अनुकूली-करण के सम्बन्ध में हम आगे कहेंगे। मार्क्स के विचार अपने मूलरूप में रूस में कार्यान्वित किये गये, जहाँ १८९५ में प्रायः वही स्थिति थी, जो १८४५ में जर्मनी में थी। लेनिन का बोल्शेविकवाद अपने प्रारम्भिक उबाल-काल में मार्क्सवाद था। दोनों के लिए पेरिस कम्यून प्रकाश-स्रोत था। लेकिन मार्क्स ने जहाँ उसमें विकेन्द्रीकरण की आवश्यकताएँ अनुभव कीं और कम्यून को सामाजिक मण्डली के रूप में देखा, वहीं लेनिन ने उसे राज-नीतिक अस्त्र के रूप में समझा।

रूस की १९०५ की क्रान्ति की ही तरह १९१७ की क्रान्ति सर्व-हारावादी थी और केवल इसी अर्थ में सर्वहारावादी नहीं थी कि सर्वहारा क्रान्ति का अगुवा था, बल्कि इस अर्थ में भी थी कि आम जनता को विद्वेलित कर देने के लिए इसने खास तौर से सर्वहारावादी अस्त्र हड़ताल को अपना मुख्य साधन बनाया और निर्णायक घटनाओं के लहर जैसे क्रम में इसकी असाधारण विशिष्टता थी।

रूसी क्रान्ति

यह क्रान्ति युद्ध रूपी हथौड़े की चोट से जारशाही के शक्तिहीन हो

जाने पर हुई। 'द्वैध शक्ति' (Dual power) के प्रारम्भिक काल में अस्थायी सरकार पुरानी धारा की प्रतिनिधि थी और सोवियत उनके विघटन का। इसलिए लेनिन ने माँग की 'सभी अधिकार सोवियतों को मिलें।'

सोवियत रूसी क्रान्ति का खास रूप था। लेनिन ने घोषित किया कि 'सोवियत उसी प्रकार की शक्ति होंगे, जिस प्रकार की शक्ति पेरिस कम्यून था'—अर्थात् ऐसी शक्ति होंगे 'जिनका स्रोत पहले से किसी संसद द्वारा विचारित और स्वीकृत कानून नहीं, अपितु जन प्रेरणा होगी'; वे प्रत्यक्ष रूप से बलपूर्वक सत्ता लेनेवाले सोवियत होंगे। अप्रैल १९१७ में लेनिन ने कहा था : "सारे रूस में स्वायत्तता-प्राप्त प्रशासन के स्थानीय संगठनों का जाल फैला हुआ है।" क्रान्ति को इस दृष्टि से देखा गया कि वह 'स्थानीय कम्यूनों के रूप में' बढ़ रही है।

क्रान्ति फैल गयी, ज्वालामुखी फूट गया, खेतिहरों ने जागीरों पर अधिकार कर लिया, मजदूरों ने कारखाने अपने कब्जे में कर लिये, सेनाएँ लुप्त हो गयीं और प्रशासन धराशायी हो गया। दलितों को ऊपर उठाकर सामाजिक और राजनीतिक शक्ति का विकीर्णीकरण किया गया। स्थानिक सोवियतों ने अपना अधिकार गम्भीरता से लिया। बोलशेविकों द्वारा सत्ता छीने जाने के बाद भी लेनिन ने कहा था : "अब से आपके सोवियत राज्य-शक्ति के अंग हैं, उन्हें सभी निर्णय करने का पूरा अधिकार प्राप्त है।" जैसा कि ट्राटस्की (१८७७-१९४०) ने बाद में कहा : "प्रारम्भिक काल में स्थानिक सरकार के आदर्श ने असाधारण रूप से उल्टा रूप लिया।" सेना के भी स्थानीयकरण की कोशिश की गयी। क्रान्ति का आदर्श, उसका संगठन-सिद्धान्त स्थानिकता था अर्थात् "एक ऐसा राज्य जिसमें नौकरशाही न हो, जिसमें पुलिस न हो, जिसमें स्थायी सेना न हो।"

लेनिन के लिए स्थानिकता सिद्धान्त से अधिक चालबाजी के रूप में थी। उसमें संगठन के बजाय विघटन अधिक था। उन्होंने सोवियतों को

प्रोत्साहित किया कि 'जीवन की सारी बातें अपने अन्तर्गत रख लें' और इसके साथ ही बोल्शेविकों को चेतावनी दी—हमने सोवियतों को आलिंगनबद्ध किया है, हमने उन्हें जकड़ा नहीं। जब 'दो चालबाजियाँ' की गयीं, तो स्वभावतः बोलशेविकों ने रूसियों के 'सारे जीवन को जकड़ लिया।'

'बलपूर्वक अधिकार छीनने' का क्रम कैसा था, इसका वर्णन दिलचस्प है।

जनता की प्रभुसत्ता की प्रतीक संविधान सभा मनमाने तौर से भंग कर दी गयी। इंग्लैण्ड में संसद को भंग करने के लिए क्रॉमवेल स्वयं संसद में गये थे, रूस में रक्षकों के कमाण्डर ने संविधान सभा का द्वार बन्द कर दिया, क्योंकि 'पहरेदार थक गया है।' भाषणों से जो काम होता था, उसे 'नृशंसता' से किया गया। बोल्शेविकवाद 'नृशंसता' में आनन्द अनुभव करता था, उसने न्याय को तिलांजलि दे दी।

सम्प्रभुतासम्पन्न नया संगठन 'अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस' अपने एक हजार सदस्यों की अधिकता के कारण देश पर सीधे शासन नहीं कर सकता था। उसके अधिकार उसकी कौन्सिल (Vtsik) और मन्त्रि-मण्डल (Sovnarkom) को सौंप दिये गये थे। निरीक्षण और निर्देश के लिए कांग्रेस की बैठकें हर तीसरे मास होने की आशा की जाती थी। १९१८ से यह व्यवस्था समाप्त कर दी गयी और अधिवेशन वर्ष में एक बार होने लगा। कांग्रेस की बैठक हुई, तो कौन्सिल और मन्त्रिमण्डल किसीने भी अपने कार्य की रिपोर्ट देने की जरूरत नहीं समझी।

कांग्रेस की कौन्सिल को हमेशा सत्र की स्थिति में समझे जाने की आशा की जाती थी। उसके अधिकार इस प्रकार खत्म किये गये : (१) उसकी सदस्य संख्या दो सौ से बढ़ाकर तीन सौ कर दी गयी और इस प्रकार 'मिलावट' द्वारा उसे कमजोर किया गया। (२) एक नया संगठन, अध्यक्ष मण्डल, बना दिया गया जिसे अधिकार प्रत्यायुक्त (Delegate) कर दिये गये। (३) बैठकों की संख्या कम और सीमित कर दी गयी।

(४) सबसे बड़ी बात यह हुई कि मन्त्रिमण्डल ने विधान-निर्माण के अधिकार भी ले लिये। यही भाग्य प्रान्तीय और क्षेत्रीय सोवियतों की कांग्रेसों का भी हुआ।

अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने निर्देश दिया था कि स्थानीय विषय स्थानीय सोवियतों पर छोड़ दिये जायँ। आर्थिक एकाधिकार और अग्रिम धन देने तथा सहायता सम्बन्धी अधिकार होने से मन्त्रिमण्डल उन पर (स्थानीय सोवियतों पर) आन्तरिक मामलों के बड़े विभाग (Commissariat) जैसा अधिकार और प्रभाव रख सकता है। लेनिन ने केन्द्रीय-कृत सार्वजनिक वित्त-व्यवस्था का पक्ष-समर्थन करने में कभी कोताही नहीं की।

संघर्ष का अन्तिम चक्र था रूसी समाजवादी गणराज्यों के सोवियत-संघ (Rsfsr) के संविधान की रचना। संघर्ष के तीन रूप थे, जिनमें मुश्किल से भेद किया जा सकता है। यह संघर्ष उन लोगों के बीच था जो राज्य की शक्ति को कम करना और बढ़ाना चाहते थे—जो स्थानीय अधिकरणों को अधिकार और सत्ता सौंपने के पक्ष में थे और जो केन्द्र में सत्ता का केन्द्रीकरण चाहते थे, जो संघ-व्यवस्था चाहते थे और जो 'एक एवं अखण्ड' गणराज्य चाहते थे।

राज्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्त का, जिसके प्रकाश में उपर्युक्त विवाद हल किये गये, अधिकार के पृथक्करण या सीमा-निर्धारण से कोई मतलब नहीं है। मार्क्स के कथनानुसार अधिकारों के पृथक्करण का सिद्धान्त उस पुराने युग का अवशिष्ट चिह्न है, जिसमें 'शाही सत्ता, सामन्तवादी वर्ग और बुर्जुआ वर्ग में सर्वोच्चता के लिए संघर्ष होता है।' 'जनता के स्वतन्त्र शासन' बोल्शेविक राज्य को किसी प्रकार की सीमा में बाँधने और उसकी शक्ति में कमी करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसका जन्म विरोधी शक्तियों में सन्तुलन और सौदेबाजी से नहीं, अपितु क्रान्तिकारी कार्यों के फलस्वरूप हुआ है। इसी दृष्टिकोण के निष्कर्ष को ध्यान में रखकर सोवियत संविधान ने राज्य के विरुद्ध कोई संवैधानिक

संरक्षण या व्यक्तिगत रूप में नागरिकों के अधिकार नहीं स्वीकार किये। संविधान ने न्यायिक कृत्य के उपयोग की कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं की। उसे कार्यपालिका का मातहत मान लिया गया। सरकार का सारा कृत्य एक था अर्थात् कार्य-सम्पादन एक उद्देश्य के लिए केवल एक शक्ति करे।

'राष्ट्रीय प्रश्न' के रियायत के रूप में संविधान का रूप संघीय रखा गया। प्रोफेसर कार के शब्दों में यह 'विलक्षण बात' हुई। "यद्यपि रूस को बराबर सब कहा जाता था और 'संघीय' शब्द उसके नाम के साथ और संविधान मे सामान्य सिद्धान्त सम्बन्धी प्रारम्भिक अध्यायों मे लिखा हुआ था तथापि संविधान में और कहीं यह शब्द नहीं आया। संघ की सीमा क्या है, संघ के गठन का रूप क्या है, उसके वैधानिक यन्त्र की क्या स्थिति है, इन सब बातों की संविधान में कोई व्याख्या नहीं की गयी।"*

क्रान्ति के पहले झोंके में राजनीतिक और आर्थिक अधिकार के विभाजन के विचार से सोवियत की तरह आर्थिक परिषदों के निर्माण का प्रयत्न किया गया। व्यवहार में सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था-परिषद् (Vesenkha) मंत्रिमण्डल के मातहती थी और स्थानीय तथा प्रादेशिक राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था-परिषदें (Sovnarkhozy) सम्बन्धित सोवियतों के अधीन थीं। "आर्थिक सोवियतों सम्बन्धी विचार मृत अवस्था में जन्मा। जो निर्मित किया गया वह मात्र केन्द्रीय आर्थिक विभाग था, जिसके स्थानिक कार्यालय थे।"†

अन्य सामाजिक सगठनों में सत्ता के केन्द्रीकरण का यही क्रम था और इसी तरह राज्य की शक्ति का विस्तार भी किया गया।

कारखानों में मजदूरों ने कारखाना-समितियों के माध्यम से अपना नियन्त्रण स्थापित किया था। लेनिन ने इसके बारे में कहा था : "यहाँ सभी नागरिक सेना की तरह राज्य के वेतनभोगी नौकर बन जाते हैं। सभी नागरिक एक राष्ट्रीय राज्यरूपी अभिषद् के कर्मचारी और मजदूर

---

* ई० एच० कार : दि बोलशेविक रिवोल्यूशन, खण्ड १, पृष्ठ १३९।

† वही, खण्ड २, पृष्ठ ७७।

हो जाते हैं।" मजदूरों का नियन्त्रण जो सीधे तौर पर था, मिल्यूटिन (Milyutin) के शब्दों में "राज्य का एक संयुक्त, एक ठोस यन्त्र" था।

अखिल रूसी ट्रेड-यूनियन कांग्रेस के एक प्रस्ताव में कहा गया था: "वर्तमान समाजवादी क्रान्ति के कार्य में विकसित ट्रेड-यूनियनों को समाजवादी शक्ति का अंग हो जाना चाहिए···। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप ट्रेड-यूनियनें स्वभावतः समाजवादी राज्य के अंग के रूप में परिवर्तित हो जायँगी।" मार्च १९१८ से सोवियत और ट्रेड-यूनियन संगठनों के एक होने का कार्य और आगे बढ़ा।

राज्य-शक्ति के इस विस्तार के साथ ट्राटस्की द्वारा चित्रित मजदूरों के राज्य का वह अधिकार भी आया कि 'जो मजदूर वर्ग और आर्थिक क्षेत्र में उसकी जिम्मेवारी की दृष्टि से श्रमजीवी पुरुषों तथा स्त्रियों की इच्छा को गौण कर सकता है।' 'आत्मानुशासन' के झंडे के नीचे के काम के अनुसार मजदूरी की प्रणाली पुनः शुरू की गयी, काम के घंटे बढ़ा दिये गये और 'टेलर प्रणाली के विज्ञान-सम्मत तथा प्रगतिवादी अंश अपनाये गये।'* एन्द्रीव के अनुसार १९२१ में १०२ हड़तालें हुईं जिनमें ४३ हजार मजदूरों ने भाग लिया। उसके बाद यद्यपि बेकारी बढ़ी—१९२४ में १० लाख और १९२७ में २० लाख व्यक्ति बेकार हुए—तथापि हड़ताल का केवल अधिकार ही नहीं, बल्कि सम्भावना भी समाप्त हो गयी।

यही भाग्य सहकारिता का हुआ। क्रान्ति के पूर्व बोल्शेविकों को सहकारिता की कोई चिन्ता नहीं थी। इसका फल यह हुआ कि १९१७ में अधिकांश देहाती सहकारी समितियाँ (उत्पादकों की और ऋण देनेवाली दोनों तरह की समितियाँ) सामाजिक क्रान्तिवादियों (Social Revolutionaries) के प्रभाव में थीं और उपभोक्ता सहकारी समितियाँ, विशेषकर शहरों में मेनशेविकों के साथ थीं। सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था-परिषद् ने घोषणा की कि 'सहकारी समितियों के क्रिया-कलापों का

*. सिस्टम ऑफ टेलर का मास्को में १९१८ में प्रकाशन हुआ।

सोवियत संगठन से सामंजस्य और घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए।'
दिसम्बर १९१८ में सहकारी समितियों के केन्द्रीय बैंक—मास्को नरोदनी बैंक—को स्टेट नेशनल बैंक (राज्यराष्ट्रीय बैंक) में मिला दिया गया। नवम्बर १९१९ में आभास मिला कि 'सोवियत संगठनों और सहकारी समितियों के बीच सिद्धान्तगत मतभेद समाप्त हो रहा है' और सहकारी समितियों को 'राज्य यन्त्र' का पुर्जा समझा जा सकता है। आरम्भिक 'सहयोग सूत्र' को 'सगठन के सीमेंट' के रूप में बदल दिया गया।

सत्तारूढ़ दल की कोई संवैधानिक स्थिति नहीं थी और न राज्य से उसका कोई कानूनी सम्बन्ध था। इटली में फासिस्ट पार्टी को 'राज्य का अंश' (Organo statale) हुए बिना राज्य का प्रवक्ता (Un-organo dells stato) माना गया था। रूस में ऐसा कोई भेद नहीं किया गया। 'सभी सोवियत संगटनों में यह अनिवार्य नियम था, कोई भी अपखण्ड (Fraction) पूर्ण रूप से पार्टी अनुशासन के अन्तर्गत हो बनाया जाय। इन अपखण्डों में निश्चित सोवियत संस्था में काम करनेवाले रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के सभी सदस्य शामिल हों।' केन्द्रीकरण और राज्य शक्ति के विस्तार को धन्यवाद देना चाहिए, हस्तक्षेप और गृह-युद्धों के फलस्वरूप फैलते हुए संकट और प्रतिस्पर्धी दलों के उन्मूलन की कृपा कहिये कि १९२१ में लेनिन को स्वीकार करना पड़ा कि "शासक दल के रूप में हम 'सोवियत प्राधिकारियों' को 'पार्टी प्राधिकारियों' के साथ नहीं मिला सके।"

पार्टी में सोवियतों की अपेक्षा नियंत्रण का केन्द्रीकरण कुछ मन्द गति से हुआ, लेकिन तरीका वही था। पार्टी कांग्रेस का अधिकार केन्द्रीय समिति (Central Committee) के हाथ में चला गया। केन्द्रीय समिति अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की कौन्सिल (Vtsik) की तरह अधिकार अपनी मुट्ठी में न रख सकी और वह (अधिकार) शीघ्र पोलिटब्यूरो, आर्गब्यूरो और सेक्रेटरियट जैसे छोटे किन्तु प्रभावशाली संगठनों के हाथों में चला गया। सर्वोच्च अधिकार उन थोड़े-से लोगों के हाथ में

रहा, जो मंत्रिमंडल और साथ ही पोलिटब्यूरो के सदस्य थे। यह प्रक्रिया लेनिन की मृत्यु के समय तक वस्तुतः पूरी की जा चुकी थी।

समाज को राज्य ने निगल लिया था तो राज्य को पार्टी ने आत्मसात् कर लिया। स्वभावतः ऐसी स्थिति में जैसा कि ट्राटस्की ने कहा था "मेरी पार्टी, सही हो या गलत" की प्रवृत्ति का उदय हुआ। पार्टी के सदस्यों की संख्या, जो फरवरी १९१७ में २३,६०० थी, फरवरी १९१८ में ११५,००० और १९२७ में १,२००,००० हो गयी। लेकिन इनमें से आधे अर्थात् ६००,००० राज्य-कर्मचारी और विभिन्न श्रेणियों के अधिकारी थे। पार्टी कमेटियों में, जिन पर निर्णय करने की जिम्मेदारी थी, केवल दशमांश ही कारखाने में वस्तुतः काम करनेवाले मजदूर सदस्य थे।* पार्टी अपनी ही भूलभुलैया में खो गयी।

यह परिणतियाँ कई बातों के फलस्वरूप हुईं, जिनमें संगठनगत धारणा और जिस सामाजिक अवस्था में बोल्शेविकों को काम करना था वह अवस्था मुख्य हैं।

संगठन का रूप महन्तशाही था। छोटे-छोटे समूह एक-दूसरे के निकट आयें और अपने आसपास के सीमित क्षेत्रों में अनुभव प्राप्त करें, इसे नापसन्द किया गया। लेनिन ने कहा : "हमें मजदूरों और ट्रेड-यूनियन ढंग के सामाजिक लोकतंत्रीय संगठनों से लेकर कारखानों के संघों तक में परम्परा को तोड़ना पड़ेगा। फैक्टरी समूह या कारखाना संघ में बहुत थोड़े क्रान्तिकारी होने चाहिए, जिन्हें कारखानों में पार्टी का काम करने के सम्बन्ध में सीधे केन्द्रीय समिति से आदेश तथा अधिकार मिलते हों। कारखाना समिति के सभी सदस्यों को अपने को केन्द्रीय समिति का अभिकर्ता (Agent) समझना चाहिए।" बुनियादी विचार यह था कि मानव की एक के स्थान पर दूसरी इच्छा ही की जा सकती है, कमजोर इच्छा का स्थान शक्तिशाली इच्छा ले ले, उन्हें कभी मिलाया

---

* ए० रोजेनबर्ग : ए हिस्ट्री ऑफ बोलशेविज्म पृष्ठ, १९५।

नहीं जा सकता। यह विचारों तथा हृदय की एकता नहीं थी, बल्कि परवशता थी।

जिस अवस्था में आकांक्षा थी, वह अस्थिरता की अवस्था थी। मार्क्स ने कहा था : 'उनका युद्ध का नारा' स्थायी क्रान्ति होना चाहिए। "युद्धकाल में लेनिन को सामाजिक शान्तिवादियों से उतनी ही घृणा थी, जितनी समाज में गड़बड़ी करनेवालों से, क्योंकि वे शान्ति नहीं गृहयुद्ध चाहते थे। जब कि लोकतन्त्रवादी साधारण बुर्जुआ जल्दी-से-जल्दी क्रान्ति समाप्त करना चाहता है, हमारा हित और हमारी जिम्मेदारी यह कहती है कि क्रान्ति को बहुत कुछ स्थायी बनाया जाय।"

दक्षिण के आधुनिक औद्योगिक केन्द्रों के प्रिण्टरों, रेलवे-मैनों, इस्पात कारखानों के कर्मचारियों जैसे अधिक दक्ष और मजदूर संघों के रूप में संगठित मजदूर अधिकतर मेनशेविक थे। बोलशेविकों को मुख्यतः पीटरोग्राड क्षेत्र और मास्को के अपेक्षाकृत पुराने उद्योगों के अदक्ष मजदूरों का समर्थन प्राप्त था। कोमिण्टर्न और प्रोफिण्टर्न ने बाद में इन्हीं ढंगों पर पश्चिमी देशों में भी मजदूरों को विभाजित करने का प्रयास किया। बोल्शेविकों का ध्यान सबसे अधिक आधारहीन और इधर-उधर काम करनेवाले मजदूरों की ओर था। ऐसी अवस्था तैयार करना, जिसमें लोगों की जड़ न जमी हो, बोल्शेविकों का मूलभूत दाँवपेंच था और 'सार्वकालिक क्रान्ति' इसका आवश्यक अंग था।

कम्युनिस्ट सेल (मंडली) अपने नाम में निहित ध्वनि के बावजूद सुसम्बद्ध न होकर पराश्रयी थे। वे दूसरे संघों के रूप में काम करते थे, जहाँ लोगों के आने से कुछ सामाजिक आधारों की रचना हुई। जो भी व्यवस्था अधिकार के लिए प्यासी हो, उसके लिए यह हर तरह से जरूरी है कि वह समाज को विकीर्ण करे, उसका ढाँचा समाप्त करे। बोल्शेविक इससे परे नहीं थे।

ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता एक वस्तुभर रह जाती है, मूल्य नहीं रह पाती। रूसी संघ (Rsfsr) के संविधान में मजदूरों को 'प्रकाशन

के सभी प्राविधिक और भौतिक साधनों' की व्यवस्था करके मत की स्वतन्त्रता और 'सभाएँ करने के लिए आवश्यक सामग्री, प्रकाश और ताप की व्यवस्था के साथ उपयुक्त स्थान देकर' सभा करने की आजादी की बात कही गयी थी। भौतिक सुविधाओं का पुरस्कार आत्मिक स्वतन्त्रता अर्थात् मतभेद प्रकट करने, असहमति रखने और कोई चीज स्वीकार न करने की स्वतन्त्रता की कीमत पर था। 'प्रावदा' ने आह्लादपूर्वक लिखा : "नया मानव स्वयं नहीं बन जाता, उसे पार्टी बनाती है।" भौतिक सुविधा स्वतन्त्रता और व्यक्ति को भी हड़प कर जाती है। यहीं कम्युनिस्ट धारा का किसी चीज को वस्तु के रूप में सोचने की पूँजीवादी धारा से भेद नहीं रह जाता।

लेनिनवाद

लेनिन (१८७०-१९२४) मार्क्स के असली उत्तराधिकारी थे। उन्होंने मार्क्स के विचारों और तरीकों के ढाँचे में नया लचीलापन लाकर स्फूर्ति भरी तथा और विकसित करके उन्हें समृद्ध बनाया। उनके विचारों और कार्यों का ढाँचा मार्क्स के गौरवशाली भवन पर खड़ा किया गया।

लेनिन ने मार्क्सवाद में इतिहास का ऐसा तत्त्व देखा, जो अन्तिम मुक्ति की गति को तेज कर सकता है। मार्क्सवाद को उन्होंने भी द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति के द्वारा ही समृद्ध किया। इसीलिए उनमें क्रान्तिकारी विकास के प्रति, पार्थक्य के संघर्ष के प्रति और निरन्तर अन्तर्भेदन के प्रति निष्ठा है।

मार्क्स की मृत्यु के बाद मार्क्सवाद की धारा पश्चिमी यूरोप में कुन्द हो गयी थी। रूस के विशाल पिछड़े हुए सामन्तवादी राज्य में लेनिन ने इस धार पर नयी सान चढ़ाने का अवसर देखा।

रूस में 'पूँजीवाद का विकास' अवश्यम्भावी था। लेकिन चूँकि इसके लिए आवश्यक पूर्वस्थिति कमजोर या अस्तित्वहीन थी, इसलिए उसका विकास रोगी की तरह होने की सम्भावना थी। ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था

में सर्वहारा की अधिक तबाही होती है, लेकिन साथ ही उसमें चतुराई से काम बनाने की शक्ति भी अधिक रहती है।

लेनिन ने 'अधर में लटके हुए' खेतिहर को नजरअन्दाज नहीं किया और न ही उसके वशीभूत हुए। उन्होंने खेतिहर को बीच का एक ऐसा तीसरा वर्ग माना, जिसमें आन्तरिक जागृति नहीं है और जो बुर्जुआ वर्ग तथा सर्वहारा के बीच में झूल रहा है। खेतिहर को तटस्थ बनाना, उसका समर्थन प्राप्त करना सर्वहारा का मुख्य दाँव-घात हो जाता है।

सामाजिक विकास कठिन कार्य है। विकास के किसी भी चरण को छोड़कर आगे नहीं जाया जा सकता। जो सम्भव है, वह यह कि क्रान्ति रूपी उष्ण गृह में परिपक्व बनाने का समय कम किया जाय। सामन्तवादी-पूँजीवादी समाज को बुर्जुआई स्तर को पार करना पड़ता है। सर्वहारा की बुद्धिमत्ता यही है कि वह इस काल को कम करे। ब्लैंकी के प्रसिद्ध कथन—'हम आन्दोलन का सृजन नहीं करते, उसका रुख बदलते हैं'—में लेनिन ने परिवर्तन किया, 'हम सर्वहारावादी आन्दोलन की सृष्टि करते हैं और बुर्जुआ क्रान्ति का रुख बदलते हैं।'

सामाजिक क्रान्ति क्रमिक गति से होती है और धीरे-धीरे उसकी शक्ति बढ़ती है। इस क्रम में असंगतियाँ पुंजित होती हैं, उनमें परिपक्वता आती है और वे विनाश-बिन्दु पर पहुँच जाती हैं। इस क्रम के साथ कम्युनिस्ट की सहमति और क्रिया-कलाप होना चाहिए, किन्तु क्रियाकलाप में उसे एक कदम आगे और सहमति में दो कदम पीछे रहना चाहिए।*

जब तक सर्वहारा चुनौती नहीं देता, पूँजीवादी फन्दे बढ़ते जाते हैं। साम्राज्यवाद इन फन्दों का विश्वव्यापी कुरूप है : पूँजीवादियों की प्रतिस्पर्द्धा पूँजीवाद में परिवर्तित राज्यों की प्रतिस्पर्द्धा का रूप ले लेता है और फलस्वरूप युद्ध होता है। युद्ध उत्पादन की शक्तियों को बढ़ाता है, उत्पादन की रीति को कमजोर करता है और इस प्रकार आन्तरिक असन्तुलन बढ़ता है।

* टी० बी० एच० ब्रामेल्ड : ए फिलॉसाफिक एप्रोच टु कम्युनिज्म, पेरिसम।

साम्राज्यवादी राज्यों में दासता के विरुद्ध उपनिवेशों की जनता का असन्तोष, तरह-तरह के शोषणों के विरुद्ध खेतिहरों का असन्तोष भिन्न-भिन्न असंगतियों की धारें हैं। शत्रु को कमजोर करने के लिए सर्वहारा को इन धारों को तेज करना चाहिए और इनसे निर्णायक प्रहार करना चाहिए। सुधारवादी की तरह शान्तिवाद भी असंगतियों को छिपाता है, जब कि जरूरत है कि उन्हें साफ रूप में सामने रखा जाय। सर्वहारा की शान्ति युद्ध के बिलकुल विपरीत ढंग अर्थात् गृहयुद्ध से आती है।

लेनिन ने राजनीति और दाँव-घात को पूर्ण रूप से एक कर देने पर जोर दिया और दोनों को एक किया। उनकी राजनीति समग्र-वेष्ठी (all enveloping) थी : "यदि हमारे पास संघर्ष के सभी साधन नहीं हैं, तो हमारी भारी, सम्भवतः निर्णायक पराजय होगी !····· सर्वत्र, समाज के सभी क्षेत्रों में और उन सभी स्थानों पर जहाँ से हम राज्य के शासन-यंत्र की अन्दरूनी बातों को समझ सकें, 'हमारे अपने आदमी' होने चाहिए।"

आगे बढ़नेवाला महान् आन्दोलन सैद्धान्तिक विश्लेषण, योजनाओं और तैयारियों तथा कार्यों से होता है, जिसके बाद सिद्धान्तों के परिष्कार, योजनाओं में सुधार और विकल्पों की खोज की जरूरत होती है। सर्वहारा फौलाद जैसे सुदृढ़ संगठन से ही इसके लिए प्रयास कर सकता है, फौलाद जैसी बटालियन से ही सर्वहारा सम्भावनाओं से एक कदम आगे रह सकता है। आगे बढ़ने के पूर्व हरएक स्थिति, हरएक ठोस तथ्य का विश्लेषण और हरएक विकल्प पर विचार करना पड़ता है। इसलिए व्यक्तिगत प्रोत्साहन के साथ संगठन में अधिक-से-अधिक सहयोग होना चाहिए।

संक्षेप में द्वन्द्वात्मक तर्क को इसी प्रकार से लेनिन ने समृद्ध बनाया। इसके साथ ही वे क्रान्ति के सबसे बड़े संचालक और सर्वहारा के सबसे बड़े प्रवक्ता बन गये।

यह महान् द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति असामान्य रूप से वैसे ही कठिन है, जैसे चाकुओं के एक बँधे हुए बण्डल को हवा में घुमाना। इस बात का हमेशा खतरा है कि कहीं किसी अंश को पूर्ण न समझ लिया जाय। विकास का हर चरण, प्रकटन का हरएक स्तर, चक्करदार गति का केवल एक अंश नहीं, बल्कि उस क्षण की पूरी गति है। एक चरण पर अधिक समय तक रह जाने या उसे जल्दी छोड़ देने और समाप्त कर देने का खतरा बराबर सामने आता है। कम्युनिस्ट नीति का विकास लहर की गति के साथ होता है, हर बार पेंग एकाएक रुख बदलने के पूर्व खूब दूरी तक जाती है। परिवर्तन के हर सूक्ष्म अन्तर में उसी प्रकार हेर-फेर की भारी सम्भावनाएँ निहित रहती हैं, जिस प्रकार रेल की पटरी को थोड़ा-सा घुमा देने से गन्तव्य स्थान कुछ-से-कुछ हो जायगा। 'अवसरवाद' सार्वकालिक घटना बन जाता है।

रूसी क्रान्ति के अभिलेख बताते हैं कि लेनिन के किसी भी साथी ने आवश्यक अनुमानों की उपलब्धि के लिए विघटन और संयोजन के तरीके का प्रयोग नहीं किया। इतिहास में परिवर्तन करनेवाली शक्तियों, वर्ग-विद्वेष सम्बन्धी स्थिति, विक्षोभ और असन्तोष को कभी ठीक से नहीं समझा गया। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक तर्क सबसे जटिल और परिष्कृत रूप में सामने आता है। यह कोई रास्ता नहीं देता और सहमति तथा क्रिया-कलाप की सबसे अधिक सहायक लय को समझने के लिए विकल्पों का मूल्यांकन करने के लिए कहता है। द्वन्द्वात्मक तर्क कुतुबनुमा की सुई नहीं है, जो हमेशा ध्रुवतारे की ओर संकेत करती है, बल्कि वह पारा है जो बराबर स्थान बदलता और हिलता रहता है। निर्णय पश्चात्वृत्ति (a posteriori) बन जाते हैं। जो सफल होता है, वही द्वन्द्वात्मक तर्क को जानता है।

अभ्याक्रमण और केन्द्रीकरण की कैंचियों से युक्त द्वन्द्वात्मक तर्क विध्वंस और क्रान्ति का अनुपम अस्त्र है। किन्तु अधिकारारूढ़ होने पर इसकी सीमाएँ बुरी तरह बँध जाती हैं। मानव के विषय में लेनिन का

विचार यह था कि उसमें मानवीय गुणों की द्वन्द्वात्मकता होती है, उसमें स्वतंत्र, समतावादी और शान्त स्वभाव की गूढ़ता (रूसो की कल्पना का पुरुष) रहती है, वह विद्रोही, लोभी और शोषक का विपरीत रूप (हॉब्स की कल्पना का पुरुष) और स्वतंत्र, समान तथा सामाजिक व्यक्ति का समन्वय होता है। समन्वय और एकता में बुनियादी अविश्वास और आग्रह तथा अधीनीकरण द्वन्द्वात्मक तर्क की आक्रामक प्रवृत्ति को बढ़ातीं और उसे खूराक देती हैं। हॉब्स के समर्थकों की फौलादी बटालियनें रूसो के समर्थकों की विनम्रता पर हावी हो जाती हैं। यही कारण है कि लेनिन की क्रान्ति विजय के बाद उन्हींकी आशाओं के लिए घातक हो गयी।

अधिकार की गद्दी से द्वन्द्वात्मक तर्क, जो कुछ भी होता है उसे सही सिद्ध करना चाहता है। जो वास्तविक (Real) है, वही युक्तिसंगत (Rational) है। यदि फिनलैंड स्वतंत्रता प्राप्त करता है, तो फिनलैंड का बुर्जुआवर्ग परिपक्व हो गया है, यदि जार्जिया की पराजय हो जाती है, तो स्वतंत्रता के लिए जार्जिया का अधिकार समाप्त कर दिया जाता है। सत्ता पाने के बाद द्वन्द्वात्मक तर्क फिर हीगेलियन बन जाता है।

द्वन्द्वात्मक तर्क क्रान्ति के बाद स्थिरता नहीं आने देता। वह क्रान्ति का चक्रवात चालू रखता है और जब जरूरत होती है, तो उसे उत्तेजना भी प्रदान करता है। सत्ता संचित करने की पिपासा बढ़ती ही जाती है। स्थिर स्थिति एकमात्र सर्वोच्च नेता, 'क्रान्तिकारी वर्ग के जार' (जैसा कि लेनिन ने १९०५ में चाहा था) की होती है।

द्वन्द्वात्मक तर्क की उबलती हुई धारा सत्तारूढ़ समाजवाद को समूह राजनीतिरूपी अशान्त समुद्र में ले जाती है।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में आस्ट्रिया के नाट्यकार फ्रेंज ग्रिल पार्जर (१७९१–१८७२) ने मेटरनिख के दृष्टिकोण का यह कहकर विरोध किया था कि इसमें श्रेष्ठता का अभाव है, यह संकीर्ण रूप में मंत्रिमण्डलों से बँधा हुआ है और यह नहीं समझता कि समूह राजनीति (Volkerpolitik)

समूह राजनीति

का समय आ गया है। समूह-राजनीति आम लोगों को इस चक्कर में इसलिए नहीं खींचती कि वे दिलचस्पी रखनेवाले हैं और समूह है, बल्कि उन्हें शक्ति समझकर खींचती है। इसने पुरानी पद्धति को समाप्त कर दिया और 'आन्दोलन के युग' का आरम्भ किया। जिस किसी भी चीज का महत्त्व है, वह राजनीति के भीतर आ जाती है, प्रत्येक विचार, प्रत्येक मूल्य अस्थायी अन्तवर्ती अवस्था में लुप्त हो जाता है। स्विट्जरलैण्ड के इतिहासकार जैकब बरखार्दत (१८१८-९७) ने इस प्रवृत्ति के विषय में कहा कि 'यह राज्य और समाज के बीच सीमारेखा को मिटानेवाली है। साथ ही हर चीज अस्थिर और अनिर्णीत स्थिति में हो जायगी।'

बराबर चलायमान अवस्था का कोई ढाँचा और कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। समूह के व्यक्ति की विशेषता यह है कि वह सबसे अलग और बहुत कम सामाजिक सम्बन्ध रखनेवाला होता है। रेजमैन का कहना है कि औद्योगिक दृष्टि से अति विकसित अमेरिकी समाज 'एकाकी जन-समूह' (Lonely Crowd) है। जब ब्रिटेन पर हवाई जहाज बमवर्षा कर रहे थे और देश संकट में था, उस समय भी प्रोफेसर कोल के शब्दों में 'हमारे इस विशाल, शीघ्रगामी, निर्मूलित संसार में सहयोग पाना बड़ा कठिन था।'......'तमाम आदमियों के बीच में व्यक्ति एकाकी रहकर बढ़ता है। 'हम जितने ही एक साथ हैं, हम उतने ही अकेले होंगे'। जर्मन समाजशास्त्री जार्ज सिमेल ने सिद्ध किया है कि शहरी सम्बन्ध अधिकता के कारण अवैयक्तिक और प्रभावरहित होते हैं। समूह का व्यक्ति इस प्रकार विकीर्णित (Atomised) समाज की कृति है और इस समाज में व्यक्ति अकेला रह जाता है।

समूह राजनीति में ऐसी प्रवृत्ति है, जिसने समूह के व्यक्ति को चोटी पर पहुँचा दिया है। फासिस्टवाद और कम्युनिज्म दोनों समाज का ढाँचा समाप्त कर देना और कई चीजों को मिलाकर बने हुए उसके सामाजिक भवन को विकीर्ण कर देना चाहते हैं। व्यक्ति को सभी सामुदायिक बन्धनों और सामाजिक लगावों से अलग कर दिया जाता है, कोई भी

हित या संघ अपने रूप में नहीं रहने पाता। हर समुदाय, यहाँ तक कि जो सर्वाधिक मौलिक हो, वह भी राज्य के अनुचर के रूप में ही काम करता है। स्वायत्ततापूर्ण सभी क्रियाकलापों को समाप्त कर देना सबसे बड़ा राजनीतिक उद्देश्य हो जाता है। अब्राहम कार्डिनर ने समाज की 'प्रधान' और 'गौण' प्रथाओं का भेद इस प्रकार किया है : 'प्रधान' प्रथाओं, जैसे परिवार में प्रत्यक्ष और आमने-सामने का सम्पर्क होता है; 'गौण' प्रथाओं में, जो व्युत्पन्नात्मक (Derivative) नहीं होतीं, जिनमें अनिवार्यतः दूरी रहती है, कम घनिष्ठता और स्वाभाविकता होती है। राष्ट्र राज्य की शुरुआत गौण प्रथाओं में हस्तक्षेप और अतिक्रमण से हुई। समूह की राजनीति में प्रधान प्रथाओं की एकान्तता और घनिष्ठता पर ही आघात किया जाता है, यही नहीं, बल्कि यह कहना चाहिए कि मानव के आन्तर जीवन, उसकी मूल वैयक्तिकता को राज्य के भँवर में खींच लिया जाता है।

सन् १८५२ में स्विट्ज़रलैण्ड में अपनी कुटिया से हेनरी फेडरिक एमील ने 'हमारे युग की प्रधानता प्रवृत्ति' को स्पष्ट किया : "मानव को किसी कार्य-विशेष में ही होशियार बनाकर और पूर्ण व्यक्तियों का निर्माण करके नहीं, बल्कि उन्हें विशाल मशीन का पहिया बनाकर, चेतना को नहीं, बल्कि समाज को व्यक्तियों का केन्द्र बनाकर, आत्मा को भौतिक उद्देश्यों का दास बनाकर और मानव का अवैयक्तीकरण करके अध्यात्म-परायण, नीतिपरायण मानव-जाति को रौंद देना यही हमारे युग की प्रधान प्रवृत्ति है। नैतिक विकीर्णीकरण और सामाजिक एकता नीतिगत स्वभाव का (अनुनय, सहनशीलता, विश्वास का) स्थान ले लेती है। समानता के द्वारा एकता होती है, संख्या 'औचित्य' बन जाती है, गुण के बजाय परिमाण का महत्त्व होता है। स्वतंत्रता नकारात्मक होती है, जिसका कोई आन्तरिक नियम नहीं होता और जो नृशंसतापूर्ण शक्ति तक ही सीमित रहती है।" (डायरी पृष्ठ ४५)

प्रजा की पूरी तरह से निष्ठा जीतने के लिए ऐसा विकीर्णीकरण,

समाज का विचूर्णीकरण आवश्यक हो जाता है। प्रधान और गौण प्रथाएँ मानव की रक्षा करती तथा उसे 'महाकाय' के वश से बाहर, निष्ठा और लगाव के दृष्टिपथ (Foci) प्रदान करती हैं। उन प्रथाओं का अन्त हो जाने से असीम और अबाध निष्ठा उपलब्ध हो जाती है। समूह की राजनीति में मुक्त और अविभाज्य निष्ठा प्राप्त करने का दावा निहित होता है और यह निष्ठा थोथी होती है। 'महत्त्व केवल इस बात का है कि व्यक्ति हमेशा बलिदान के लिए तैयार रहे; किस उद्देश्य के लिए बलिदान करता है, इसका महत्त्व नहीं।' व्यक्ति के पास विवेक नहीं रह जाता, प्रतिक्रिया के विभिन्न सूक्ष्म भाव नहीं रह जाते, बल्कि उसके पास केवल परिस्थितिस्फूर्त प्रतिक्रिया (Conditioned Response) रह जाती है।

सामाजिक परम्पराएँ (Institutions) निस्सन्देह जीवित रहती हैं, किन्तु उन्हें खोखला और स्थिर बना दिया जाता है। हर संस्था या परम्परा का कोई सामाजिक कार्य नहीं रह जाता, बल्कि वह शासन करने-वाले थोड़े-से गिने-चुने लोगों और जनसाधारण के बीच 'इधर का सन्देश उधर और उधर का सन्देश इधर पहुँचानेवाली' जैसी रह जाती है। सामाजिक व्यवस्था को मनमाने ढंग से सामाजिक अव्यवस्था में परिवर्तित कर दिया जाता है। समूह-राजनीति की यह विशेषता है कि वह नियन्त्रणों के बाहुल्य द्वारा अधिकार-रेखा को धुँधला कर देती है और ऐसी भ्रान्तिपूर्ण नीति को जन्म देती है, जिसका कोई रूप नहीं होता। किसी पद की एक से अधिकता और अधिकार के विषय में अन्धेरगर्दी जान-बूझकर की जाती है। पद-विशेष का एक से अधिक होना और नियन्त्रणों की जटिलता अधिकार को बराबर इधर-उधर करने, राज्य-व्यवस्था को और पेचीदा बना देने तथा इस प्रकार साधारणजन को उसमें 'लापता' कर देने के लिए उपयोगी है। गुप्त और अस्पष्ट सामाजिक प्रक्रिया आदमी को लाचार और चेतनारहित—'राजभक्त' बना देती है। लोग पिछलग्गू बन जाते हैं और उस शक्ति के आगे सिर झुकाते हैं, जिसकी उपेक्षा करने का उनमें साहस नहीं हो सकता।

पार्टी कार्यकर्ता ही आदर्श नागरिक, समूह राजनीति का कुलीन व्यक्ति (aristu) तथा सिद्धान्त में दीक्षित आन्दोलन की लौहभित्ति हैं। कार्यकर्ता भी अकेले या ग्रूप में अध्ययन नहीं करते, बल्कि समूह में ही अध्ययन करते हैं—स्तालिन ने अध्ययन मण्डलों की कड़ी आलोचना की थी। पार्टी कार्यकर्ता प्रत्यक्ष संगठनों के माध्यम से कार्य करते हैं; इस प्रकार पहले के सुदृढ़ संगठन में गड़बड़ी करने के लिए स्तर बना लिये जाते हैं। आन्दोलन श्रेणीबद्ध संगठन के उच्चस्तरीय कार्यकर्ता-मण्डलों, साधारण सदस्यों तथा 'हमराहियों' (समर्थकों) के द्वारा मुखरित होता है : "प्रत्यक्ष संगठनों के 'हमराही' अन्य नागरिकों का तिरस्कार करते हैं, क्योंकि उनकी कोई दीक्षा नहीं होती। पार्टी के सदस्य हमराहियों का तिरस्कार करते हैं, क्योंकि वे हमराही आसानी से किसी बात में विश्वास कर लेते हैं तथा उनमें आमूल परिवर्तन नहीं हुआ होता और उच्चस्तरीय कार्यकर्ता मण्डल इन्हीं कारणों से पार्टी के सदस्यों का तिरस्कार करते हैं। इस व्यवस्था का फल यह होता है कि हमराहियों का आसानी से विश्वास कर लेने का स्वभाव झूठ को भी विश्वास करने योग्य बना देता है, जब कि इसके साथ ही सदस्यों तथा उच्चस्तरीय कार्यकर्ता-मण्डलों की क्रमिक आस्थाहीनता से इस बात का खतरा नहीं रहता कि नेता अपने प्रचार के फलस्वरूप अपने वक्तव्य को सार्थक करने के लिए बाध्य हो जायगा। उच्चस्तरीय कार्यकर्ता-मण्डल साधारण सदस्यों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उन्हें इस प्रकार के दिखावे की आवश्यकता नहीं होती और वे उन विचारगत झंझटों के शाब्दिक सत्य में विश्वास नहीं करते, जिनकी रचना साधारण जनता के बीच अभिप्राय प्रकट करने के लिए की जाती है। उच्चस्तरीय कार्यकर्ता-मण्डल में आदर्शवादी नहीं होते, अपितु उसके सदस्यों की सारी शिक्षा का उद्देश्य ही यह होता है कि सत्य और असत्य, वास्तविक और कृत्रिम का अन्तर समझने की उनमें क्षमता न रह जाय। उनकी श्रेष्ठता इस बात में है कि वे किसी भी कथन को अपने कार्यक्रम की घोषणा में सम्मिलित कर लेते

हैं।"* आन्दोलन का विकास इस प्रकार होता जाता है कि उच्चस्तरीय कार्यकर्ता-मण्डलों तथा सदस्यों की सीमा निश्चित रहती है और हमराहियों का तब तक विस्तार होता जाता है, जब तक सारे लोग हमराही न बन जायँ। इस तरीके से समाज के सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर प्रभाव स्थापित हो जाता है, पार्टी कार्यकर्ताओं का सारे जन-जीवन पर नियन्त्रण हो जाता है और मानव की शक्ति सर्वसत्तावादी नियन्त्रण में आ जाती है।

समूह-राजनीति में शक्ति का वास्तविक नियन्त्रण प्रच्छन्न रहता है—जो अभिकरण जितने ही साफ रूप में सामने रहता है, उसके अधिकार उतने ही कम रहते हैं। जो स्पष्ट है वह कृत्रिम बन जाता है, जो गुप्त है उसीके हाथ में वास्तविक सत्ता होती है। इस प्रकार खुफिया पुलिस प्रच्छन्न सत्ता बन जाती है, जो कभी दिखाई नहीं पड़ती, फिर भी हमेशा उपस्थित रहती है और शक्तिशाली है।

राज्य के आदेश पर बराबर न केवल कला, साहित्य और संगीत के सिद्धान्त बदलते हैं, अपितु इतिहास भी समय-समय पर फिर से लिखा जाता है। सुस्थिर अतीत और जनस्मृतियों को समय-समय पर इस प्रकार नये ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि वे राज्य-संचालन कला की आवश्यकताओं के उपयुक्त हो सकें। द्वन्द्वात्मक तर्क हर चीज को क्षणिक बना देता है। स्थिरता का एकमात्र स्रोत नेता होता है।

निकोलो मैकियावेली (१४६९-१५२७) ने कहा था : "लोगों की या तो देखभाल की जाय या उन्हें बर्बाद कर दिया जाय; साधारण आघात किये जाने पर वे प्रतिशोध करेंगे, किन्तु बड़े आघात किये जाने पर वे ऐसा नहीं कर सकते।" एडोल्फ हिटलर (१८८९-१९४५) ने कहा था : "छोटे झूठ पकड़ में आ जाते हैं, बड़े झूठों पर विश्वास कर लिया जाता है। व्यक्ति समूह द्वारा बराबर बर्बाद किया जा रहा है।"

समूह-राजनीति व्यक्ति और राज्य के बीच की सारी दूरी को नष्ट

---

* हन्ना आरेन्द्रत : दि ओरिजिन्स आव टोटैलिटैरियनिज्म, पृष्ठ ३७१-७२।

और समाज की सार्थकता को समाप्त या अव्यवस्थित कर देती है। वह व्यक्ति की विवेकशीलता को समाप्त करके ही शान्त नहीं होती, बल्कि उसकी नैतिकता पर धावा बोलती है। अविश्वसनीय बनना अपराध हो जाता है। यदि संस्था चाहती है, तो उस व्यक्ति को केवल अपराधी ही करार नहीं दे दिया जाता, अपितु उससे अपराध स्वीकार भी कराया जाता है। आदमी दुविधा की स्थिति में पड़ जाता है। दोनों स्थितियाँ उसे नैतिक दृष्टि से अग्राह्य लगती हैं। वह या तो अपने मित्रों और साथियों के विरुद्ध गुप्तचरी करे और उन्हें धोखा दे या अपने परिवार के सदस्यों के लिए आफत बुलाये। जब कोई 'अन्तर्धान' होता है, तो उसका कोई चिह्न तक नहीं रह जाता। उसके मित्रों और परिवार को उसका परित्याग कर देना पड़ता है, उसके लिए दुःखी होना और उसकी याद करना राज्य के लिए हानिकर माना जाता है। इस प्रकार की नियोजित 'विस्मृति' जनमत को प्रभावित करने के साधनों, लिखित या कथित शब्दों को न केवल दबा देती है, बल्कि उस व्यक्ति का उसके परिवार और मित्रों से सम्बन्ध भी समाप्त कर देती है। सहमत न होने को कोढ़ की बीमारी जैसा मान लिया जाता है। निष्कासित और निन्दित व्यक्ति अन्तर्धान हो जाता है, 'विस्मृति' उसे अपने भँवर में डुबा लेती है। उसका जीवन या मृत्यु रहस्य बन जाती है। समाज के नाकारा के रूप में उसकी मृत्यु इस बात पर मुहर लगा देती है कि वह व्यक्ति कभी था ही नहीं। जैसा कि बर्क ने पहले से कहा था : "प्रतीत होता है कि वह मानव जाति से परित्यक्त किया जा चुका है, उसीकी पूरी जाति के षड्यंत्र ने उसे दबोच दिया है।"

प्रोफेसर मेरले फेनसोड (Merle Fainsod) ने हाल ही में अपनी एक अच्छी पुस्तक में आतंक का सर्वसत्तावादी देशों में सत्ता की प्रणाली के रूप में वर्णन किया है। "सर्वसत्तावादी अधिनायक के लिए आतंक डण्डा और ब्रेक दोनों का काम करता है। शक्ति की प्रणाली के रूप में आतंक के प्रयोग को स्तालिनवाद ने दबाव और ढिलाई के सतत क्रम

द्वारा परिष्कृत किया।.....जब दबाव बहुत अधिक हो जाता है, तो आने-वाली पीढ़ियों की शक्ति और निष्ठा का लाभ उठाने के लिए सुरक्षा और स्थिरता की मृगतृष्णा दिखाई जाती है। यह ऐसी प्रणाली है, जो अपने अनेक सेवकों को आत्मसात् कर जाती है, लेकिन शासन भाग्य पर निर्भर उस क्रीड़ा की तरह, जिसमें विजेता और उत्तरजीवी दोनों खूब पुरस्कृत होते हैं और क्रीड़ा से पहले विजेता और विजित का पता नहीं चल सकता, खिलाड़ियों की आकांक्षाओं को समय-समय पर उभाड़ता रहता है और उनके बलिदान को अपनी शक्ति का आधार बनाता है।"*

निरोधन शिविर (कन्सेन्ट्रेशन कैम्प) में समूह-राजनीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। किसी उद्देश्य, किसी विश्वास के लिए प्राण देकर जो गौरव प्राप्त होता है, इस शिविर में मानव को वह गौरव भी नहीं मिलता। मूक और मृत के उस संसार अर्थात् निरोधन शिविर में विरोध का कोई अर्थ नहीं है। वहाँ कोई साक्षी, कोई समीक्षा, कोई सबूत नहीं होता। जैसा कि डेविड रोजेट ने कहा है : "जब मृत्यु रोकी नहीं जा सकती, उस समय अपनी भावनाओं का प्रदर्शन करना मृत्यु को एक अर्थ प्रदान करता है। सफलता के लिए किसी काम की सामाजिक सार्थ-कता होनी चाहिए। यहाँ हम लोगों जैसे ही लाखों लोग हैं, जो सबके सब तनहाई की हालत में रह रहे हैं। यही कारण है कि कुछ भी हो हम अधीनस्थ हैं।"† जैसा कि बेटिलहाइम ने कहा है : उस "दूसरे राज्य में उत्पीड़क और उत्पीड़ित, हत्यारे और मृत का भेद करनेवाली रेखा बराबर धूमिल हो रही है।"

मौन अत्याचार से भी आगे बढ़कर यह होता है कि उत्पीड़न मानव की निजी चीज विचार के क्षेत्र तक में होने लगता है। जिस व्यक्ति का दमन किया जाता है, उसे उसके अपने ही विचारों को गलत कहलवाकर

---

* मेरले फेनसोड : हाऊ रशा इज रूल्ड, पृष्ठ ३७६।

† डेविड रोजेट : दि अदर किंगडम, पृष्ठ ४६४।

उस अन्तिम सान्त्वना से भी वंचित कर दिया जाता है, जो शहीद होने से किसी विश्वास को लेकर मरने से प्राप्त होती है।

हर मकान का खाली कमरा निरोधन शिविर है। सर्वसत्तावादी व्यवस्था में 'सन्देहयुक्त' की श्रेणी में सारी जनता शामिल है। कोई भी विचार जो अधिकारी तौर पर निर्धारित और बराबर परिवर्तित हो रही रीति से भिन्न हो, भले ही वह मानव क्रियाकलाप के किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, सन्देहजनक समझा जाता है। ऊपर से कोई बात स्वीकार कर लेने से, जैसा कि पैस्कल ने कहा है, लोगों के दिमाग में रहनेवाले वे सन्देह नहीं समाप्त हो जाते, जो विवेक-भावना के फलस्वरूप होते हैं। पिछलग्गू आदमी कर्मणा राज्य के प्रति निष्ठावान् हो सकता है, मनसा नहीं। विचार करने की क्षमता के कारण मानव जाति सन्देह करनेवाली बनी रहती है। आदर्श-भूत व्यवहार द्वारा सन्देह को दबाया नहीं जा सकता, क्योंकि विचार बदलने की क्षमता, मानव में सोचने की क्षमता का ही फल है। चूँकि मानव के अन्तरतम को कभी भी अच्छी तरह से समझा नहीं जा सकता, इसलिए उसे कुचल दिया जाता है। मानव-जीवन में सतत दमन और द्वेष की लहर चलती रहती है।

"आतंकवादी भय महामारी की तरह होता है। सरकार प्रजा से भयभीत रहती है और प्रजा एक-दूसरे से तथा सरकार से भयभीत रहती है। भय के कारण लोग अपने लिए जो खतरे समझते हैं, उन खतरों के निरोध के लिए कार्रवाई करें, तो वह अन्ततः आतंक बन जायगी। निर्दयी शासन, जो यह जानता है कि हम शक्ति के बल पर कायम हैं, अपने प्रति किसी भी निष्ठा को अनिच्छापूर्ण निष्ठा समझता है और इसलिए ऐसी अनिच्छापूर्ण निष्ठा के विचारों के विरुद्ध और भी सतर्कतामूलक कार्रवाइयाँ करता है। ऐसी है यह द्वन्द्वात्मक गति, जिसमें अत्याचारी शक्ति और भी अत्याचारी बन जाती है।"*

---

* जूलेस मोनेरो : सोशियोलाजी ऑफ कम्युनिज्म, पृष्ठ १८१।

इस प्रकार समूह-राजनीति का अन्त व्यक्ति पर व्यक्ति के आक्रमण के रूप में होता है। यह समाज के ढाँचे और सामाजिक तत्त्व को जिसका अधिकांश आदमियों के लिए उपयोगी था, समाप्त कर देती है और भद्दी व्यवस्था को जन्म देती है। समाज के विघटन की इति मानव के 'विबंधन' (decomposition) में होती है, 'समूह का मजदूर' समूहबद्ध किया जाता है और पूर्ण राज्य में, महोदर आन्दोलन में समाहित हो जाता है। जैसा कि जेस्लाव मिलौस्त्स ने कहा है : "जहाँ मस्तिष्क बन्दी हो जाता है, वहाँ आदमी शत्रु बन जाता है।"

मार्क्सवादी समाजवाद का महान् साहसिक कार्य, जहाँ क्रान्तिकारी हर्षातिरेक के रूप में रहा है, वहाँ उसकी परिणति स्वतंत्रता से विमुख होकर विस्मृति में हुई है। मार्क्स के स्वप्नों ने विकराल सरलीकरण डरावने स्वप्न का रूप क्यों लिया, इसे इस बात से समझा जा सकता है कि कतिपय सामाजिक और मनोवैज्ञानिक वास्तविकताओं के प्रति उनमें हठवादी उदासीनता थी।

मार्क्स ने पूँजी के सम्बन्ध में कहा था : "हर संचय का अर्थ है, और संचय करना।" उन्होंने जो नहीं अनुभव किया, वह यह कि यह पूँजीवाद का ही विकृत रूप नहीं है, बल्कि संचय की प्रवृत्ति ही ऐसी होती है, उसकी गति का नियम ही ऐसा है। संचय स्वाभाविक रूप से बढ़ रहा है और उसमें तेजी आ रही है, उसके निरोध और नियंत्रण की आवश्यकता है, उसे आगे बढ़ने से रोकने की जरूरत है। जहाँ स्थिरता का सन्तुलन रखनेवाली शक्तियाँ दृढ़ हैं, वहाँ मार्क्स की तत्परता की कैंची अच्छा काम करती है। जब प्रयास सफल हो जाता है, तब क्रान्ति अपना ही साध्य बन जाती है।

मार्क्स का दर्शन अधिकार का दर्शन है और यह अधिकार व्यक्ति का नहीं, समूह का अधिकार है। प्रकृति और जीवन पर उत्तरोत्तर नियंत्रण बढ़ानेवाले आधुनिक ढंग में भयानक रूप से अधिकार की भावना भरी हुई है। मार्क्स ने इस प्रवृत्ति को विलक्षणतापूर्वक बढ़ाया,

उन्होंने मानव को 'परमात्मा की नकल' का स्वप्न देखनेवाला बना दिया। इतनी ऊँची आकांक्षा के साथ ही मानव का यदि अन्तरपक्ष भी इसी अनुपात में विकसित न हो, तो इससे भयानक खतरा पैदा होता है, अधिकार के लिए मोह का बोलबाला हो जाता है। यहाँ भी 'संचय, और अधिक संचय' की प्रवृत्ति रहती है। अधिकार की इच्छा की परिणति काबू करने की इच्छा के रूप में होती है। आवश्यकता इस बात की है कि पुरातनकाल से चली आ रही आर्थिक वृद्धि की आकांक्षा और उसके साथ ही अधिकारवादी प्रवृत्ति के प्रति बराबर सतर्कता बरती जाय।

मार्क्स ने जिस सामाजिक सहयोग की बात सोची, उसमें अवश्यम्भावी रूप से जोर-दबाव की ऐसी कार्रवाई थी, जिसे समाज किसी खास स्तर पर पहुँचने के बाद करने के लिए बाध्य था। यदि पर्याप्त नियन्त्रण की व्यवस्था न हो, तो जिस पक्ष का बोलबाला होगा, निश्चय ही वह अधिकार का उपयोग अपने लाभ के लिए करेगा। मार्क्स ने जान-बूझकर अनिवार्य आन्तरिक नैतिकता और बाह्य सामाजिक नियन्त्रणों की व्यवस्था नहीं की, जो दमन तथा अन्याय की प्रवृत्तियों को रोकने के लिए आवश्यक हैं।

मिल ने अपने विकासवादी समाजवाद में इस प्रकार के विभिन्न नियन्त्रणों की व्यवस्था की थी और स्वतन्त्रता को विशेष रूप से प्रधानता दी थी। अपने सारे सिद्धान्तों में उन्होंने सरकार के अधिकार बढ़ने से होनेवाले खतरों का उल्लेख किया और कहा कि 'निरन्तर ईर्ष्या' के साथ उनके प्रति सतर्क रहना चाहिए। 'और किसी भी प्रकार के समाज की अपेक्षा शायद लोकतन्त्र में सतर्कता अधिक आवश्यक है।' मानव की न्याय-परायणता यदि लोकतन्त्र को सम्भव बनाती है, तो उसमें अन्याय की प्रवृत्ति का रहना लोकतन्त्र को आवश्यक बना देता है।

मार्क्स ने अपने क्रान्तिकारी समाजवाद में सत्ता के अधिकार को कम करने के लिए किसी प्रकार के नियन्त्रण की व्यवस्था नहीं की। 'जब तक इच्छा और आकांक्षा पर नियन्त्रण के लिए कोई व्यवस्था न हो, तब तक

समाज कायम नहीं रह सकता : 'यह व्यवस्था भीतर जितनी ही कम होगी, बाहर उतनी ही अधिक रहेगी'—बर्क के इस नियम में मानव के सामाजिक अनुभव का सारतत्त्व और उनका परिपक्व ज्ञान भरा हुआ है। मार्क्स ने 'नियम' की अवहेलना की और समाज तथा मानव के भीतर नियन्त्रण रखनेवाली शक्तियों का सफाया कर दिया। इस कटाव ने मानव को सर्वसत्तावादी बाढ़ के सामने रक्षाहीन बना दिया। राजनीति और नीतिशास्त्र को एक विषय के दो पहलू मानने की यूनानी परम्परा का, जब उसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, परित्याग कर दिया गया।

पूँजीवाद ने समाज के जिस विघटन को सुनिश्चित कर दिया और मार्क्स ने जिस विघटन को स्वीकार किया, उससे मानव मूलहीन और स्वच्छंद हो गया। बेकारी के बाद और भी गम्भीर आध्यात्मिक बेकारी आयी, अनेक लोग अपनी ही भूल-भूलैया में खो गये हैं, उन्हें बिन्दुपथ और दृष्टिपथ, दोनों नहीं मिल रहा है। यहाँ समाजशास्त्र मनोविज्ञान की सीमाओं को पार कर जाता है।

रोजा लक्जमबर्ग (१८७०–१९१९) ने लेनिन के 'अति केन्द्रीयता' (ultra centrism) के विषय में कहा था कि "रूसी एकान्तिकता (absolutism) द्वारा रौंदा और विचूर्णित कर दिया गया 'अहं' उस रूसी क्रान्तिकारी के 'अहं' के रूप में फिर से प्रकट होता है, जो उल्टा समझता है और अपने को इतिहास को पूरा करनेवाली शक्ति मानता है।" इस विचार के लिए यद्यपि लक्जमबर्ग की निन्दा की जाती, तथापि उनकी आलोचना मार्क्स पर भी उतनी ही लागू होती है। पूँजीवाद द्वारा कुचला गया 'अहं' इसी तरह का छल करता है।

जिस व्यक्ति का 'अहं' कुचल दिया गया है, जिसका समाज पोषण नहीं करता, जिसे सहायता नहीं देता, उसके कुछ 'न्यष्टिक विचार' (nuclear ideas) बन जाते हैं, जो कतिपय सामाजिक प्रवृत्तियों को उभाड़ते और आत्मसात् कर लेते हैं। मार्क्सवाद 'कुचले गये' 'अहं' के "न्यष्टिक विचारों' को पसन्द करता है और वैचारिक दबाव डालता है,

जो सर्वहारा की आवश्यकताओं और प्रयत्नों में सहायक होता है। समाज पर ऐसे लोगों की निर्भयता असम्बद्ध और अहंरहित होती है। साथियों और पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध में मित्र-भावना नहीं रहती, चतुराई का सहारा लिया जाता है और व्यवहार यंत्रवत् होता है। जैसा कि इधर की गवेषणाओं से प्रकट हुआ है।* ऐसे लोगों में अधिकार की प्रवृत्ति आ जाती है और वे उसी आधार पर जनता का वर्गीकरण करते हैं। व्यक्ति और संस्थाएँ निष्ठा, प्रशंसा और आज्ञानुकूलता अपने अधिकारों के कारण ही पाती हैं, जब कि अधिकारहीन लोग और संस्थाएँ घृणा का सृजन करती हैं; कमजोरी, आक्रमण, आधिपत्य और तिरस्कार की भावना जगा सकती हैं। जैसा कि बर्खोद्त ने पहले ही कहा था : "असभ्य आदमी पिशाच की तरह बड़े बटुले से भोजन करना चाहता है, दूसरी तरह से उसे भोजन का आनन्द ही नहीं मिल सकता।"

जैसा कि नीत्से का विचार था, औद्योगिक व्यक्ति "आसानी से प्रशिक्षित किया जा सकता है और आसानी से तोड़ा जा सकता है।" औद्योगिक सभ्यता के 'लादे गये व्यावसायिक संघ' में (लेनिन के शब्दों में) मानव की प्रारम्भिक स्वायत्तता की जड़ कमजोर हो जाती है। उसमें ऊँचे होने की प्रवृत्तियाँ उभड़ आती हैं। वह 'कमजोर और मजबूत', 'निम्न और उच्च' दो विभागों में काम करता है और शक्तिशाली तथा प्रभावशाली लोगों की कृपा से ऊपर पहुँचने के विचार में चिन्तित रहता है।

ऐसे लोगों में अतिदण्डात्मकता अर्थात् सभी कमजोरियों और निराशाओं के लिए दूसरों को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति का बढ़ना स्वाभाविक है। बौद्धिक स्तर पर उनका कार्य सापेक्षतः कठोर हो जाता है, उनका विचार व्यक्तियों की अपेक्षा वस्तुओं के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त होता है, यह विचार बहुत बँधा हुआ होता है और व्यक्तिगत तथा भावुकता-

* एरिक फ्राम : मैन फॉर हिमसेल्फ।

गत सम्बन्धों में छिन्न-भिन्न हो जाता है। एंगेल्स का आदमियों के नियन्त्रण का स्वप्न वस्तुओं की व्यवस्था को स्थान दे रहा है।

मार्क्स का विश्वास था कि दो बड़े द्वन्द्वात्मक त्रिक : पहला व्यक्तिवादी रूप की आदिम स्वतन्त्रता या मानव की समानता, पूँजीवादी अव्यवस्था या असमानता, कम्युनिस्ट स्वतन्त्रता या समानता और दूसरा सामाजिक त्रिक : सरल कम्युनिज्म, पूँजीवाद और सामाजीकृत कम्युनिज्म—ठीक एक-दूसरे से लगे हुए क्रम में हैं। एक सौ दस वर्ष के अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि यह अनुमान गलत है।

मार्क्स ने मानव के विलगाव का जो पाण्डित्यपूर्ण विचार रखा, वह इस तथ्य को आवरणमुक्त नहीं कर सका कि समाज की पेचीदगी और उत्तरोत्तर अधिक अज्ञात एवं अपारदर्शी सामाजिक प्रक्रिया के कारण मानव के लिए अपने निजी जीवन-अनुभव की सीमित स्थिति को वस्तुनिष्ठ सामाजिक गति के साथ एकीकृत करना कठिनतर हो गया है। ऐसी स्थिति में मानव समाज में मनुष्यत्वहीनता की क्षतिपूर्ति वैयक्तिकभाव से करना चाहता है, अपनी सामाजिक अक्षमता की पूर्ति राज्य की काल्पनिक सर्वशक्तिमत्ता, अजेय फूहरर (अधिनायक) की सर्वशक्तिमत्ता से करना चाहता है। जैसा कि हॉब्स ने कहा है : "छोटे-छोटे लोग ही 'महाकाय' का आह्वान करते हैं।"

औद्योगिक जीवन एकरूपता पसन्द करता है, इतना ही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक एक साँचे में ढलाई चाहता है। एक साँचे में ढली हुई एकरूपता में संख्यागत शक्ति होती है, क्योंकि लोग विचित्र और विलक्षण स्वभाव के होते हैं और संख्या का वजन बुनियादी एकरूपता और सदाचारहीनता को उत्तेजना प्रदान करता है। हीगेल के बाद सामाजिक प्रणाली से नीतिशास्त्र को जबरदस्ती अलग करना गलत था ''उस व्यक्ति के लिए गलत था—जिसकी एक-एक नाड़ी और एक-एक तन्तु में स्वतंत्र, पूर्ण विकसित और मुक्तिवादी सर्वोपभोग्य व्यवस्था (Commonwealth) की उत्कट इच्छा थी।

औद्योगिक व्यवस्था में मानव की आकांक्षा और लक्ष्य-चयन की क्षमता के लिए उचित सामाजिक कार्रवाइयों पर जोर देने की विशेष आवश्यकता है। उसका ऐसा व्यक्तिगत अधिकार या 'पर्याप्त स्थान' होना जरूरी है, जो समाज और राज्य के लिए समान रूप से अलंघ्य हो। सुव्यवस्थित, परिपक्व और स्वायत्त होने के लिए आदमी सत्ता तथा अपने बीच फासला चाहता है। इस रहने के स्थान को वह नैतिक विकास और व्यक्तिगत सम्बन्धों से और सुन्दर बनाता है। जब सामाजिक जीवन अपना 'आवरण' बना रहा है, तब आदमी अपने चारों ओर विद्यमान शक्तिवर्द्धक एवं पवित्र पोषक पदार्थ से वंचित रह जाता है। संसार में, जिसका प्रतीक अब अण्डा नहीं, बल्कि प्याज है, एकता के प्रति उदासीनता रखनेवाला, स्वाभाविक अन्योन्य-प्रतिक्रिया के बजाय संघर्ष का पक्ष लेनेवाला द्वन्द्वात्मक तर्क अपने को खतरनाक सिद्ध कर रहा है।

"मार्क्स के पहले समाजवाद की प्रवृत्ति क्रियात्मक थी। मार्क्स ने उसे प्रभुत्वबोधक बनाया। उन्हें अच्छे आदमियों की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी इस बात की कि पवित्र युद्ध के लिए विश्वस्तर पर विशाल एवं अजेय सेना तैयार की जाय। इस प्रवृत्ति-परिवर्तन का दण्ड यह मिला कि एकान्तिक अनुरक्ति फल में कीड़े की तरह आ गयी और उसे भीतर से सड़ा डाला। जिस प्रकार 'जाति सिद्धान्त' जीव-शास्त्र के निर्दिष्ट मार्ग का मत है, उसी प्रकार मार्क्सवाद बहुत दिनों तक समाजशास्त्र के निर्दिष्ट मार्ग का मत बना रहेगा।"*

१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सेन्ट साइमन 'ऐसी नयी समाज-व्यवस्था' के लिए व्यग्र थे, 'जो कारखाने के आदर्श पर आधृत हो।' सांध्यकाल के प्रकाश में इसके लक्षण स्पष्ट हो चुके थे। १८९७ में बर्खोद्त ने लिखा : "मुझे एक पूर्वबोध हो रहा है, यद्यपि यह पूर्वबोध मूर्खतापूर्ण लगता है, फिर भी यह मुझसे अलग नहीं हो सकता। सैनिक

---

* जूलेस मोनेरो : वही, पृष्ठ १५६।

राज्य एक विशाल कारखाना बन जायगा। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों के आदमियों के ये झुण्ड अनिश्चित काल के लिए अपरितोष एवं अभाव की स्थिति में नहीं छोड़े जा सकते।''''''अति प्रसन्न बीसवीं शताब्दी में अधिकारवाद अपना सिर फिर उठायेगा और उसका यह सिर बड़ा भयावना होगा। सारे यूरोप पर छा जानेवाले विकराल सरलीकरण करनेवालों का जो चित्र मैं देखता हूँ, वह सुखकारक नहीं है। यह आदेश देनेवाली और विरोधियों का मुँह बन्द करनेवाली नग्न शक्ति होगी। फिर से चुने जाने के लिए राष्ट्रीय नेताओं को समूह के फसादी लोगों को अपने साथ रखना पड़ेगा। समूह के ऐसे वर्ग चाहते हैं कि बराबर कुछ-न-कुछ होता रहे, अन्यथा उन्हें विश्वास न होगा कि प्रगति हो रही है।''''''एक के बाद एक सामाजिक व्यवस्था, सम्पत्ति, धर्म, आचरण के विशिष्ट नियमों और उच्च ज्ञान का बलिदान करना पड़ेगा।''''''लोग सिद्धांत में आस्था न रखेंगे, किन्तु सम्भवतः समय-समय पर त्राण देनेवालों में विश्वास करेंगे। बहुत समय तक के लिए अधिनायक की दासता का युग आनेवाला है।"

एक-एक चीज समाप्त कर देने की लम्बी प्रक्रिया द्वारा और द्वन्द्वात्मक दर्शन में डूबकर सर्वहारा की इति बहुत कुछ विकराल सरलीकरण के रूप में होती है। स्वतन्त्रतारूपी तीर्थ की यात्रा उसके सिद्धान्तरूपी कारागृह में समाप्त होती है।

● ● ●

संशोधनवाद की पुनरावृत्ति : ४ :

बर्मा के समाजवादी नेता ऊ चौ एइं ने, जब वे सत्तारूढ़ थे, एक वार दबे स्वर में कहा था : "काश, कोई संशोधनवाद का फिर से निरूपण करता।" यह अंशतः मनमौजी विचार था और अंशतः गम्भीर एवं व्यग्र आकांक्षा। सत्ता की देहली पर वैठी हुई और उससे भी अधिक सत्तारूढ़ समाजवादी पार्टी संशोधनवाद में एक स्थिरता और जानकारी पाती है, क्योंकि यह स्थिरता के चरण का समाजवाद है। लोकतांत्रिक पद्धति से विकास का प्रयास कर रहे अर्धविकसित देशों का विकासवादी समाजवाद के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। फिर भी चूँकि रूस द्वारा जाग्रत की गयी आशाओं और शंकाओं का ब्रिटेन और स्कैण्डनेवियन देशों के समाजवादी आन्दोलन अपनी असाधारण उपलब्धियों के वावजूद औद्योगिक प्रगति के लम्बे युग के कारण निराकरण नहीं कर सके, इसलिए वर्न्सटाइन हमसे भिन्न स्तर पर तर्क करते हुए उन संदेहों का समाधान करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, जिन्हें कम्युनिस्ट साहित्य की वाढ़ वरावर उभाड़ रही है।

वास्तविकता यह है कि सत्तारूढ़ समाजवादी आन्दोलन की उग्रता को सुसंयत करना और रचनात्मक कार्यों की ओर मोड़ना चाहते हैं। फेवियनवाद और संशोधनवाद का आग्रह स्पष्ट हो जाता है। समरसेट माम ने कहीं लिखा है : "गद्य रोकोको है, कविता वरोक*।" इसी तरह कहा जा सकता है कि क्रान्तिकारी समाजवाद, जो मौलिक, स्थूल, गूढ़ एवं निष्ठुर है, बरोक है और संशोधनवादी समाजवाद, जो अधिकार के मुकावले प्रवीणता, दुराग्रह के मुकाबले स्थिरता और ऐश्वर्य के मुकावले पुष्टता को प्राथमिकता देता है, रोकोको है। एशिया के स्वतन्त्र देशों में

---

* रोकोको और वरोक यूरोप की शिल्पकला की दो शैलियाँ हैं।

'वरोक' से 'रोकोको' की ओर बढ़ने की आवश्यकता है। यहाँ भी दूसरे प्रसंग में कहे गये राजा विक्टर इमैनुअल द्वितीय के शब्दों में : "अब कविता के बाद गद्य आना चाहिए।"

ब्रिटेन और जर्मनी रोकोको समाजवाद की आदिभूमि हैं।

ब्रिटेन में मैगनाकार्टा (१२१५ ईसवी का अंग्रेजों की स्वतन्त्रता का महाधिकार पत्र) की परम्परा बहुत गहराई तक गयी हुई है। किसी भी उथल-पुथल की समाप्ति, चाहे वह उथल-पुथल क्षणिक हो, चाहे तत्त्वयुक्त, राजनीतिक अधिकारों की माँग के रूप में होती है। औद्योगिक क्रान्ति के प्रति जनप्रतिक्रिया ने प्राचीन परम्परा को नहीं तोड़ा। १८११-१२ और फिर १८१६-१७ के लुडवादी (Luddite)* उपद्रवों को मेजर कार्टराइट और कोबेट ने राजनीतिक सुधारों के आन्दोलन की धारा के रूप में बदल दिया। १८३० में मशीनों को तोड़ने और आग लगाये जाने की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। निष्ठुरतापूर्वक दमन के बावजूद विलियम कोबेट (१७६३-१८३५) जैसे नेता ने असन्तोष को उग्र आन्दोलन के बजाय संसदीय सुधार का रूप दे दिया।

पश्चिम में प्रगति

१९ वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक के प्रारम्भ में मजदूरों में पुनः असन्तोष हुआ। बरमिंघम में डेढ़ लाख व्यक्तियों की एक विशाल रैली ने करबन्दी की धमकी दी। नाटिंघम दुर्ग जला दिया गया, ब्रिस्टल कई दिनों तक विद्रोहियों के अधिकार में रहा और उन विद्रोहियों ने जेल, मैन्सन हाउस और बिशप्स पैलेस को जला दिया। चार्टिस्ट आन्दोलन ने असन्तोष को राजनीतिक सुधार की दिशा में मोड़ा। छह सूत्रीय घोषणापत्र का स्वागत करने के लिए मैंचेस्टर में ३ लाख व्यक्ति एकत्र हुए। १८३९ में चार्टिस्ट सम्मेलन ने संसद को एक प्रार्थना-पत्र दिया, जिस पर साढ़े

---

* मध्य इंग्लैण्ड में मशीनों की तोड़फोड़ करनेवाले उपद्रवियों को दिया गया नाम।

१२ लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। लोकसभा ने इसे ४६ के विरुद्ध २३५ मतों से अस्वीकार कर दिया।

न्यूपोर्ट के कोयला खदान कर्मचारियों की तरह मजदूरों के नये उत्साह ने चार्टिस्ट आन्दोलन को एक नया बल दिया। ३० लाख व्यक्तियों ने दस्तखत के साथ संसद को दूसरा प्रार्थना-पत्र दिया और वह भी अस्वीकार कर दिया गया। १८४८ में यूरोप में जो विप्लव हुआ, उसकी छाया एक दूसरे घोषणापत्र में दिखाई पड़ती है, जिस पर ६० लाख नागरिकों के हस्ताक्षर थे। अन्ततः घोषणापत्र के ६ सूत्रों में ५ सूत्र स्वीकार कर लिये गये और उन्हें कानून का रूप दे दिया गया। राजनीतिक आन्दोलन की एक नयी विधि की खोज की जा चुकी थी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मार्क्स ने जब पेरिस कम्यून की प्रशंसा की, तो "इण्टरनेशनल" के एक को छोड़कर शेष सभी ब्रिटिश नेताओं ने त्यागपत्र दे दिये। जैसा कि प्रोफेसर कोल ने अपनी पुस्तक 'फेबियन सोशलिज्म' में कहा है : "१९ वीं शताब्दी के छठे दशक में चार्टवाद की गूँज समाप्त हो जाने के बाद से हम अंग्रेज सब मिलाकर शान्त व्यक्ति रहे हैं।" 'शान्तिप्रिय व्यक्तियों' के लिए 'रोकोको' उपयुक्त शैली है।

ब्रिटिश मजदूरों द्वारा किये गये सुधारों और उनके द्वारा प्राप्त की गयी सुविधाओं का हेतु और परिणाम शान्ति ही थी। उससे केवल राजनीतिक अधिकारी ही नहीं मिले, अपितु आर्थिक सुधार भी हुए। केवल इंग्लैण्ड में ही नहीं, बल्कि सामान्यतः अतलान्तक देशों में भी पूँजीवाद की कठोरता और उजड्डता वैधानिक साधनों से बदल रही थी। काम के घण्टे जो १८४० में इंग्लैण्ड में सप्ताह में ६९, अमेरिका और फ्रान्स में ७८ तथा जर्मनी में ८३ थे, १८८० तक इंग्लैण्ड में ५२ और अन्यत्र ६० हो गये। बुरी तरह से कम वेतन धीरे-धीरे बढ़ने लगा। गेहूँ का उपभोग प्रति व्यक्ति वर्ष में २८० पौण्ड (१८४०) से ३८४ पौण्ड १८८० हो गया। सम्पत्ति के पवित्र अधिकार, जो १८४५ तक भूस्वामी

और मकान मालिक को मोरी सीवर में मिलाने के लिए बाध्य करने में बाधक थे, अब पवित्र नहीं रह गये और यह वैसे अधिकार की बात नहीं रह गयी। सुधार धीरे-धीरे किन्तु महत्त्वपूर्ण रूप में पूँजीवाद का चित्र बदल रहे थे।

जर्मनी में राजनीतिक लोकतंत्र का अभाव बहुत कुछ गहरी सामाजिक चेतना द्वारा पूरा किया गया, जिसने कारखाना कानून, सार्वजनिक शिक्षा, सामाजिक बीमा जैसे सामाजिक सुधारों की दृष्टि से देश को अग्रणी बनाया। मजदूरों में सामाजिक चेतना थी, ट्रेड-यूनियनें 'सबसे ज्यादा लड़ाकू और शक्तिशाली सुधारक के रूप में' विकसित हुईं और इस प्रकार उन्हें संशोधनवाद को दृढ़ता प्रदान करने की प्रवृत्ति पसन्द आयी। दूसरी ओर जहाँ बड़े शहरी समुदाय थोड़े थे, वहाँ यह समझा गया कि सामाजिक लोकतंत्र कृषक-समाज और कृषक दस्तकार वर्ग में पैठ पाने पर निर्भर करता है। यही क्षेत्र था, जिसमें पहली बार सुधारवाद शक्तिशाली दिखाई पड़ा।

यांत्रिक नवीनताओं और विकास की गति लेकर उपस्थित दूसरी औद्योगिक क्रान्ति और दक्षता का आधार लेकर वित्तीय पूँजी (Finance Kapital) के आविर्भाव का संशोधनवाद के बुनियादी आस्थासूत्रों, 'रोकोको' प्रवृत्ति से मेल हो गया। तीन उदाहरण प्रकट करते हैं कि प्रवाह की प्रक्रिया कैसी थी। ज्वाइण्ट स्टाक बैंक के रूप में मिडलैण्ड बैंक की स्थापना १८३६ में हुई। प्रारम्भ के ५३ वर्षों में इसने १७ शाखाएँ खोलीं और १० शाखाएँ विलयन के फलस्वरूप बढ़ीं। जमा की गयी रकम जो एक लाख पौण्ड से कम थी, २० लाख पौण्ड से अधिक हो गयी। अगले ३० वर्षों में शाखाओं की संख्या बढ़कर १४४४ हो गयी, जिनमें से ९१३ शाखाओं की वृद्धि विलयन के फलस्वरूप हुई। १९३० में जमा किया गया धन बढ़कर ४० करोड़ पौण्ड हो गया। जर्मनी में १९११ में बर्लिन के ६ प्रमुख बैंकों के ८२५ डाइरेक्टर औद्योगिक कम्पनियों के बोर्डों में थे। इनमें से २० प्रतिशत बोर्डों के अध्यक्ष और १५

प्रतिशत उपाध्यक्ष थे। इसी प्रकार उद्योगों के ५७ प्रतिनिधि ६ बैंकों के बोर्डों के सदस्य थे। साइमन्स बन्धु, जो कई उद्योगों और कई देशों में फैले हुए थे, नये संव्यूहन के प्रतीक हैं।* वर्नर साइमन्स (१८१६-९२) अपनी फर्म 'साइमन्स एंड हालोके' के द्वारा इलेक्ट्रिक इंजीनियरिंग में अग्रणी थे। सर विलियम साइमन्स (१८२३-८३) ने इंग्लैण्ड में (open hearth system) का विकास किया और इस्पात उद्योग में साइमन्स बन्धु की स्थिति को शक्तिशाली बनाया। फ्रेडरिक साइमन्स (१८२६-१९०४) ने गलाकर धातु को अलग करने की भट्ठी का आविष्कार किया और काँच-उद्योग में अपनी धाक जमायी। जार्ज साइमन्स ने ड्वास बैंक की स्थापना की और कार्ल साइमन्स ने फर्म के प्रभाव को रूस तक बढ़ाया। बढ़ता हुआ संकेन्द्रण ऐसा प्रतीत हुआ मानो समाजवाद की सरस्वती का घूँघट हटा रहा है।

परिस्थिति का तकाजा बुर्जुआ राज्य को राष्ट्रीकरण के लिए अग्रसर कर रहा था। जर्मनी में रेलवे का राष्ट्रीकरण १८७९ में ही प्रारम्भ हो गया था। १९१४ तक प्रायः सारा रेलवे यातायात राज्य के स्वामित्व में था। फ्रांस और जर्मनी में नौगम्य नहरें आमतौर पर सरकार के स्वामित्व और संचालन-व्यवस्था के अन्तर्गत थीं। फ्रांस में १८८९ से टेलीफोन राज्य के नियंत्रण में किया गया, जर्मनी में प्रारम्भ से ही राज्य के अन्तर्गत था।

पथ के विपरीत जाने से लाभ नहीं

साम्राज्यवाद के प्रति बिस्मार्क ने एक असाधारण अनासक्ति दिखाई। १८७१ में उन्होंने अफ्रीका की फ्रांसीसी बस्तियाँ लेने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था और अलसेस-लॉरेन को जर्मनी में मिलाना पसन्द किया था। फिर १८९० में उन्होंने उगाण्डा और जंजीबार के बदले में सामरिक महत्त्व के द्वीप हेलीगोलैण्ड को हस्तगत किया। इसी प्रकार क्लीमेन्शो ने राजनीतिक सुविधा के लिए मोसुल का

---

* कार्ल ई० शोर्स्के : जर्मन सोशल डेमोक्रेसी, पृष्ठ ७-१६।

तैल-क्षेत्र ब्रिटेन को सौंप दिया। यह सत्य है कि समय का प्रवाह प्रवृत्ति के विरुद्ध था। साम्राज्य-विस्तार के दशकों में ब्रिटेन की बस्तियाँ ४५ लाख वर्गमील (जनसंख्या ६६ लाख), फ्रांस की ३५ लाख वर्गमील (जनसंख्या २ करोड़ ६० लाख) और जर्मनी की बस्तियाँ १० लाख वर्गमील (जनसंख्या १ करोड़ ३० लाख) तक में फैल गयीं। किन्तु गहराई में धारा का रूप भिन्न था, जैसा कि विदेशों में धन लगाने के तरीकों और उद्देश्यों से (जो साम्राज्यवाद की वास्तविक गति है) प्रकट है।

सन् १८७५ और १९१४ के बीच विदेशों में ब्रिटिश पूँजी का विनियोग एक सौ गुना बढ़ गया। महायुद्ध के पूर्व विदेशों में लगाया जानेवाला धन राष्ट्रीय बचत का प्रायः आधा होता था। विदेशों में लगाया गया कुल धन लगभग ४ अरब पौण्ड या राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक चौथाई था। प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आय का ७ प्रतिशत धन विदेशों में लगाया जाता था और संचित धन विनियोग से राष्ट्रीय आय का १० प्रतिशत प्राप्त होता है। धन-विनियोग साम्राज्य के देशों और साम्राज्य के बाहर के देशों में प्रायः बराबर-बराबर ही लगा हुआ था। ब्रिटेन अपने अनुभव से यह समझ रहा था : १. साम्राज्य के बाहर के क्षेत्रों में धन लगाना भी उतना ही लाभप्रद है। उदाहरण के लिए अमेरिका को लीजिये, वहाँ लगभग एक खरब पौण्ड का धन-विनियोग हुआ था। २. छोटे-मोटे धन-विनियोग उतने ही लाभदायक थे, जितने प्रत्यक्ष एवं जोखिमभरे धन-विनियोग। उदाहरण के लिए अमेरिका में इस तरह के परिवर्तन बहुत लाभदायक ढंग से किये गये। ३. पूँजी का बाहर बहुत अधिक भेजा जाना स्वदेश के उद्योगों को कमजोर कर और भूखों मार रहा था।

विदेशों में फ्रांस का धन-विनियोग दो अरब पौण्ड से कम अर्थात् राष्ट्रीय आय के छठे भाग के बराबर हुआ। फ्रान्स का धन-विनियोग साम्यतः (Equity financing) की अपेक्षा ऋण के रूप में अधिक हुआ था। निधि विशेष से निश्चित आमदनी करने की भावना राष्ट्र

की सीमा के बाहर भी गयी। १९१४ के समय तक विदेशों में फ्रान्स के धन-विनियोग का चौथाई रूस में हुआ था। स्पष्टतः ये वित्तीय की अपेक्षा राजनीतिक धन-विनियोग थे, जैसा कि १९१७ में फ्रान्सीसियों ने पछतावे के साथ अनुभव भी किया। १८७८ के बाद से फ्रान्स ने स्वदेश में नियोजित धन-विनियोग की नीति भी अपनायी थी। चार्ल्स द फ्रेंसिने (१८२८–१९२३) के सार्वजनिक निर्माण-कार्य से, जिसके अन्तर्गत ५१४१ किलोमीटर रेलवे लाइनों का निर्माण हुआ, एक नयी नीति की शुरुआत हुई।

जर्मनी में घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति को प्राथमिकता दी गयी। १९१४ तक ब्रिटेन की आधी बचत विदेशों में गयी, फ्रांस की राष्ट्रीय बचत का तिहाई भाग बाहर गया, किन्तु जर्मनी की बचत का दशमांश ही बाहरी देशों में लगाया गया। विदेशों में कुल एक अरब पौण्ड अर्थात् जर्मन राष्ट्रीय धन का १५ वाँ भाग धन-विनियोग हुआ। अधिकांश जर्मन बचत राष्ट्र में औद्योगिक विस्तार में लगायी गयी, विदेशों में लगाने के लिए अधिकांश धन—पेरिस और लन्दन में 'थोड़े समय के ऋण के रूप में' उगाहा और विदेशों को 'दीर्घसूत्रीय ऋण' के रूप में लगाया गया। जर्मनी के राष्ट्रीय विकास में व्यस्त रहने का फल यह हुआ कि १९०० ई० तक उसने बड़े उद्योगों के क्षेत्र में ब्रिटेन को पछाड़ दिया। आंग्ल-जर्मन व्यवसाय प्रतिस्पर्धा में ब्रिटेन अपनी पुरानी मशीनों तथा पुरानी विधियों के कारण उन्नीस पड़ता था। बिस्मार्क की भावना, उनका साम्राज्यवाद-विमुख रहने का तर्क अब अपना औचित्य सिद्ध कर रहा था।

शान्ति एवं सुख के उन दिनों में मानव इन संकेतों का परीक्षण कर रहा था और विश्वास करता था कि संसार विवेक के रास्ते की ओर बढ़ रहा है। अनुभव सिद्ध कर रहा था कि पथ के विपरीत जाने में लाभ नहीं है। उनकी दृष्टि में समाजवाद नये विकास-क्रमों की कृति था।

यद्यपि कार्ल कौट्स्की (१८५८-१९३४) ने चेतावनी दी थी कि सोशल डेमोक्रेसी ने समाजवाद की शक्ति के साथ बढ़ रहे साम्राज्यवाद की

आकर्षक शक्ति का कम मूल्यांकन किया है, तथापि समाजवादियों ने सब कुछ होते हुए भी समस्या की अवहेलना की।

मार्क्सवादी विचार का भवन यद्यपि ब्रिटिश अनुभवरूपी पत्थर की खान की सामग्री से बनाया गया था, तथापि ब्रिटिश समाजवाद पर मार्क्सवाद का प्रभाव बहुत ही कम था। उसका विकास राष्ट्र की अतीतरूपी धारा से सिंचन के द्वारा किया गया। इसमें अविच्छिन्नता की भावना की राष्ट्रीय विशेषता और सामंजस्य-स्थापना की आकांक्षा है।

इंग्लैण्ड का समाजवाद

ब्रिटिश समाजवाद अव्यावहारिक सिद्धान्तों (Abstract Principles) या व्यापक सूत्र (Universal Formulation) की कोई खास चिन्ता नहीं करता। यह समाजवाद को ब्रिटिश जनता की विशिष्ट परम्पराओं का समसामयिक प्रदर्शन मानता है। एडमण्ड बर्क ने कहा : "पूर्वजों से प्राप्त और भावी पीढ़ियों को प्राप्त होनेवाले नियमित उत्तराधिकार (Entailed inheritance) के रूप में, इस राज्य की जनता की सम्पत्ति के रूप में, हमारी स्वतंत्रता का, अन्य किसी भी व्यापक एवं प्राथमिक अधिकार के किसी प्रकार के सन्दर्भ के बिना, दावा और घोषणा करना संविधान की अभिन्न नीति रही है। यह नियमित उत्तराधिकार ब्रिटिश समाजवाद की विशेषता है।

जैसा कि ऐडम बी० उलाम ने अपनी पुस्तक 'फिलॉसाफिकल फाउंडेशन्स आफ इंगलिश सोशलिज्म' (इंग्लैण्ड के समाजवाद के दार्शनिक आधार) में स्पष्ट किया है, इंग्लैण्ड में समाजवाद की जड़ें परिवर्तनवाद और सुधारवाद में बहुत गहराई तक जा चुकी हैं। मिल और बेन्थम की कृतियों के अध्ययन से उसका मार्ग काफी स्पष्ट हो चुका है। सिडनी वेब ने एक बार कहा भी था कि "समाजवादी इस पीढ़ी के बेन्थमवादी हैं।"

न्यूमैन ने अपनी पुस्तक 'डेवलपमेण्ट ऑफ इकानामिक थॉट' (आर्थिक विचार का विकास) में लिखा है : "मिल ने वितरण का जो

चित्र खींचा, वह रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत चित्र से बिलकुल भिन्न था। वितरण के तथाकथित नियम ही अपरिवर्तनीय नहीं हैं, बल्कि स्वयं सम्पत्ति के अधिकार की भी समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार से सापेक्षता है" (पृष्ठ १०६)। ऐसी शिक्षाओं के विकास और प्रसार ने ब्रिटिश समाजवाद का रूप निर्धारित किया।

यूरोप के अन्य देशों के विपरीत ब्रिटेन में एक बात यह थी कि वहाँ समाजवादियों और उदारवादियों (Liberals) में न केवल विरोधभाव नहीं था, बल्कि उनमें वस्तुतः काफी सहयोग भी था। प्रोफेसर एल० टी० हॉबहाउस ने इस सम्बन्ध में कहा है : "मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि लोकसेवा-भाव के सच्चे एवं दृढ़ उदारवाद तथा विवेकशील समूहवाद के बीच मतभेदों को पारस्परिक सद्भाव तथा शुद्ध हृदय से प्रयास करके समाप्त करना सम्भव है।"

ब्रिटिश समाजवाद की विशिष्ट अभिव्यक्ति फेबियन सोसाइटी के रूप में हुई। इसके सम्बन्ध में एडम बी० उलाम लिखते हैं : "काफी अर्से तक फेबियन आन्दोलन ने ब्रिटिश समाजवाद के सामान्य और गवेषणा के अधिकारी वर्ग का काम किया। अच्छा हो या बुरा, इसने राष्ट्र के अधिकतर लोगों को सहमत किया कि समाजवाद लोकतन्त्र का परिष्कृत एवं तर्कसंगत रूप है।"*

समाजवाद के एक दूसरे विद्यार्थी पीटर गे ऐसे ही महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचे हैं : "फेबियन सोसाइटी को सामंजस्य-स्थापना और संयम की आदर्श ब्रिटिश भावना कहने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।"†

एंगेल्स द्वारा की गयी फेबियन समाजवाद की घृणापूर्ण आलोचना में मुख्य बात को भुला दिया गया है। उन्होंने कहा है : "फेबियन समाजवाद

---

* फिलॉसाफिकल फाउण्डेशन्स ऑफ इंगलिश सोशलिज्म, पृष्ठ ७७।

† दि डाइलेमा ऑफ डेमोक्रेटिक सोशलिज्म।

बुर्जुआ उदारवाद का चरम किन्तु अवश्यम्भावी परिणाम है और इसीलिए वह निर्णायक रूप से प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उदारवादियों के विरोध की नहीं, बल्कि उन्हें आगे बढ़ाने, उदारवाद को समाजवाद के साथ समाहित करने की नीति अपनाता है। जैसे ही वर्ग-संघर्ष को दबाने का अपना खास दाँव-घात उन्होंने अपनाया, सब कुछ बेकार हो जाता है।" इंग्लैण्ड में कभी भी राज्य की कल्पना वर्ग-प्रधान राज्य (Klassesntaat) के रूप में नहीं की गयी। ब्रिटिश समाजवादियों को राज्य के निष्पक्ष रूप में और तत्त्व ग्रहण करने की नीति के महत्त्व में कभी सन्देह नहीं था। अंग्रेजों में सामंजस्य की जो भावना निहित है, वह उस प्रकार के दुराग्रह को असम्भव कर देती है। जैसा कि काम्पटन मैकेंजी ने कहा है : "अंग्रेज ऐसे व्यक्ति से सन्देह करते हैं, जो सामंजस्य स्थापित करने की बात नहीं सोचता, भले ही यह सामंजस्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा से हो या अपने निकट और साथ के नश्वर प्राणियों से।"

ब्रिटिश समाजवाद कितना रूढ़िहीन और कट्टरता-रहित है, यह प्रोफेसर कोल की आत्मकथा के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है : "सबके लिए समान अवसर और सबके लिए रहन-सहन के बुनियादी स्तर के आश्वासन ने मुझे समाजवाद की ओर खींचा। मेरा खयाल है कि मैंने बाद में चलकर इसमें तीसरा विचार जोड़ा, जो हमेशा मेरी प्रवृत्ति में निहित था, किन्तु पहले अच्छी तरह स्पष्ट नहीं था। यह तीसरा विचार था, लोकतन्त्रवाद, जो मेरे मस्तिष्क में स्वतन्त्रता के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। इसीलिए मैं उन्हें स्वभावतः दो नहीं, एक विचार समझता हूँ। लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता का यह विश्वास मेरे मस्तिष्क में क्रमशः विकसित हुआ। मेरे लिए इसका यह अर्थ रहा कि समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि मतभेद बर्दाश्त ही न किया जाय, अपितु उसे प्रश्रय भी दिया जाय। मानव समाज बनाने के लिए अनेक तरह के स्त्री-पुरुष चाहिए। कुछ बहुत व्यापक सीमाओं में जितने ही अधिक लोगों का, रुचि और स्वभाव ही नहीं, बल्कि मत की दृष्टि से भी मतभेद हो, उतना ही अच्छा है, क्योंकि

लोकतान्त्रिक प्रगति विरोधी दृष्टिकोणों और विचारों के संघर्ष से होती है।"*

इस तरह अंग्रेजी समाजवाद बिलकुल अंग्रेजी ढंग का था। संशोधनवाद के लिए आवाज लगाये और संघर्ष किये बिना वह संशोधनवादी था। प्रोफेसर डॉ० एच० राबर्ट्सन ने एक बार कहा था: "लिबरल (उदारवादी) पार्टी को सदा के लिए 'स्थिरीकरण' शब्द को अपनी नीति का प्रथम सिद्धान्त बना लेना चाहिए।" ब्रिटिश समाजवाद की नीति में यह सिद्धान्त बहुत अच्छी तरह से निहित है। अपने जन्म ही नहीं विकास में भी ब्रिटिश समाजवाद पूर्णरूप से संशोधनवादी है।

संशोधनवाद के सबसे अधिक सुयोग्य और उत्कट व्याख्याकार जां जौरेस (१८५९-१९१४) थे। केवल फ्रांस में ही नहीं, बल्कि पूरे समाजवादी आन्दोलन में उन्हें सबसे अग्रणी संशोधनवादी माना जाता था। द्वितीय इण्टरनेशनल की कांग्रेस ने केवल एक ही स्थापितमत-विरोधी विचार को अस्वीकार किया था और वह 'जौरेसवाद' था।

जां जौरेस

फ्रांसीसी समाजवाद में जौरेस असामान्य और प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनके बन्धनमुक्त मस्तिष्क, स्पष्ट विचार और आनन्दभरी अभिव्यक्ति की सर्वत्र प्रसिद्धि थी। उनके कथित और लिखित शब्दों में महान् विद्वत्ता और मानववादिता छिपी रहती थी। १८८१ में उन्होंने एकोले नार्मले परीक्षा पास की, जिसमें केवल हेनरी बर्गसां के बाद दूसरा स्थान उनका था। तुलोज में वे दो बार दर्शन के प्रोफेसर रह चुके थे। अपने पत्र 'ल ह्यमैनिते' में अनेक भिन्न-भिन्न विषयों पर उनके लेख यह प्रकट करते थे कि उनके खुले विचारों में मानव के सभी विषयों को स्थान था। स्वभावतः उन्हें अन्तर के बजाय सादृश्यता पसन्द थी। सामान्य आधार की खोज करना तथा सामान्य उद्देश्य को दरशाना और सहानुभूति तथा सद्भावना के साथ कार्य करना उन्हें प्रिय था।

* जी० डी० एच० कोल : फेबियन सोशलिज्म, पृष्ठ ३१–३३।

उन्हें अपने राष्ट्र के अतीत से प्रेम था और वे उससे शिक्षा लेते थे। फ्रान्सीसी क्रान्ति के प्रति उनकी सर्वाधिक अनुरक्ति थी। वे क्रान्ति को अकस्मात् विस्फोट नहीं, अपितु शान्तिपूर्वक विकसित किया गया चरम रूप मानते थे। क्रान्ति ने अधिकार के सम्बन्ध में जो नया विचार दिया, उसे समाजवाद स्वीकार करता और अपना बना लेता है। वह 'लोकतन्त्र और महान् क्रान्ति का दल' बन जाता है। समाजवाद यद्यपि फ्रान्सीसी क्रान्ति से अपनी अनन्यता मानता है, तथापि वह उस क्रान्ति से बँधा हुआ नहीं है। 'बुर्जुआ और लोकतन्त्रवादी पार्टियाँ अपने को ज्वालामुखी के नीचे से ठण्डे लावा के कुछ अंश उठाने और अग्निकुण्ड के किनारे से जले हुए अंगारे को लाने तक ही सीमित रखती हैं। दहकती हुई धातु को नये रूप में प्रवाहित होना चाहिए।'

जौरेस का खयाल था कि क्रान्ति का बराबर विस्तार हो रहा है और उसकी जड़ें गहरी हैं, जब कि १८१५ में अस्सी हजार मतदाता थे, १८३० में बढ़कर उनकी संख्या दो लाख हो गयी। शताब्दी के अन्त तक फ्रान्स पुरुषों के मताधिकार पर आधृत लोकतान्त्रिक गणराज्य बन चुका था। स्वतन्त्रता के इस उत्थान को अन्ततः अव्यवस्था उत्पन्न करना नहीं, समाजवाद के रूप में पुष्पित होना था। उनके विचार एकता और अविच्छिन्नता की भावना से बराबर देदीप्यमान थे। 'इस प्रकार समाजवाद का उदय फ्रान्सीसी क्रान्ति से दो शक्तियों की संयुक्त कार्रवाई के अन्तर्गत हुआ—एक शक्ति थी अधिकार का विचार और दूसरी शक्ति थी सर्वहारा का नवजात क्रियाकलाप।' पूँजीवाद का उन्मूलन केवल अवश्यम्भावी ही नहीं था, बल्कि उचित भी था।

फ्रान्स का समाजवादी आन्दोलन बुरी तरह विभाजित था। एक छोर पर पाल ब्रूसे (१८५४-१९१२) के अनुयायी थे, जिन्हें गर्व था कि हम व्यावहारिक 'सम्भाव्यतावादी' (Possibilistas) हैं : 'हम अपने कार्यक्रम को तब तक खण्डित करते हैं, जब तक उसे अन्ततः सम्भव न बना दें।' फेबियन नीति 'एक-एक कदम आगे, एक-एक टुकड़े

अधिक' का यह फ्रान्सीसी रूप था। दूसरी छोर पर गेज्दे (Guesde) के अनुयायी थे, जो अपने नेता का यह विचार मानते थे कि 'सुधारों में वृद्धि करके शर्म में ही वृद्धि की जाती है, क्योंकि पूँजीवादी शासन में श्रमजीवियों के लिए अधिकारों की जो भी गारण्टी हैं, वे हमेशा प्रभावहीन रहती हैं' (जुलेस गेज्दे १८४५-१९२२)। जौरेस की दृष्टि में सुधार श्रमजीवियों का अधिकार नहीं कम करते, बल्कि उन्हें आगे बढ़ने के लिए तैयार करते हैं और ये सुधार ऐसे होते हैं जो 'मार्ग प्रशस्त करते, नयी सामाजिक व्यवस्था की तैयारी करते हैं और अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा जीर्ण व्यवस्था की समाप्ति में जल्दी लाते हैं।'

वे मानते थे कि समाजवाद कोई देवता नहीं है, वल्कि व्यापक मताधिकार, लोकतंत्र, ट्रेड-यूनियन और सहकारिता-प्रधान समाज में निहित व्यवस्था है। किसी 'निर्णायक अव्यवस्था' से नहीं, वल्कि इन्हें (व्यापक मताधिकार, लोकतंत्र आदि को) विकसित और शक्तिशाली करके ही मुक्तिवादी उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। आर्थिक और सामाजिक जीवन का 'विबन्धन' क्रान्ति नहीं है, यह 'वस्तुतः क्रान्ति की उल्टी चीज है।' क्रान्ति विकास, स्थिरता और निश्चित परिवर्तन से होती है। 'यह वसन्त ऋतु में शान्तिपूर्वक कली खिलने की तरह है।'

क्रान्ति के ऐसे विकासवादी और सुसम्बद्ध विचारों के द्वारा उन्होंने विघटनवादी शक्तियों के विपरीत परीक्षणवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया। उन्हें युद्ध से घृणा थी। उन्होंने समाजवादियों पर दवाव डाला कि वे युद्ध के विरुद्ध आम हड़ताल का सहारा लें। घोर शान्तिवादी और युद्ध के कट्टर विरोधी होने के ही कारण वे ३१ जुलाई १९१४ को एक हत्यारे की गोली के शिकार हुए। युद्ध की वेदी पर यह सबसे पहला और आदर्शपूर्ण वलिदान था। एक बार उन्होंने कहा था : "आपको जानना चाहिए कि आप कैसे जनप्रिय हो सकते हैं, किन्तु इसके साथ ही आपको जानना चाहिए कि आप अपनी इस जनप्रियता का उपयोग कैसे करेंगे।"

युद्धवादी प्रवृत्तियों से आशंका से ही जौरेस ड्रेफस के मामले में

कूदे। ड्रेफस जातिवादी विद्वेष, सेना के भ्रष्टाचार और चालबाजियों के शिकार हुए। उनके बचाव के लिए आगे आकर जौरेस ने यह समझा कि हम भारी खतरों से गणतंत्र के लोकतांत्रिक आधार की रक्षा कर रहे हैं। जोला की ही तरह जौरेस के लिए भी ड्रेफस 'मगरमच्छ' से संघर्ष करनेवाले पराजित व्यक्ति के प्रतीक थे। जौरेस ने कहा : "हम समाजवादी रहने के लिए बाध्य नहीं हैं कि अपने को मानवता के बाहर रखें।"

जौरेस की अन्तर्राष्ट्रीयता में राष्ट्र पर भी जोर था। मार्क्स का सूत्र 'मजदूर की कोई पितृभूमि नहीं है' जौरेस के विचार से अपनाने लायक चीज नहीं थी, बल्कि वे इससे ऊपर उठने की जरूरत मानते थे। उनका खयाल था कि एकमात्र राष्ट्र वह "व्यापक संघ है जो बिना किसी अपवाद के सभी व्यक्तियों के अधिकारों की—जीवित व्यक्तियों के ही नहीं, बल्कि आगे पैदा होनेवाले व्यक्तियों के अधिकारों की भी—रक्षा कर सकता है।" उन्होंने जर्मनी और इटली के नये राष्ट्र राज्यों के आविर्भाव का स्वागत किया और कहा : "भविष्य में दीर्घकाल तक इस अवस्था में राष्ट्र समाजवाद की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा के लिए स्थिति तैयार करेगा, यह वह ढाँचा होगा, जिसमें न्याय ढाला जायगा।"

समाजवाद के वाहक के रूप में सर्वहारा को समाज के दूसरे वर्गों, खासकर खेतिहरों को समाजवाद के आदर्श से अनुप्राणित करना चाहिए। फ्लोकोन द्वारा एंगेल्स को दी गयी यह चेतावनी जौरेस ने विस्मृत नहीं की कि 'फ्रांस के एक करोड़ दस लाख किसान सम्पत्ति के स्वामी हैं।' उनका खयाल था कि भूमि के साथ किसान के असामान्य घनिष्ठ सम्बन्ध को समाजवाद के नाम पर समाप्त करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। वे चाहते थे कि समाजवाद अपना गतिक्रम और रूप आवश्यकता के अनुसार ऐसा नियंत्रणायुक्त रखे कि उससे किसानों की भी निष्ठा प्राप्त हो सके। "मैं इसे बहुत अदूरदर्शी बात मानता हूँ कि यदि खेतिहरों को तटस्थ बना दिया जाय, तो यह बहुत काफी होगा। जब बहुत बड़ा आन्दोलन चल रहा हो,

तब कोई भी सामाजिक शक्ति अपने को तटस्थ नहीं रख सकती। यदि वे हमारे साथ नहीं हैं तो हमारे विरुद्ध होंगी।"

चूँकि पूँजीवाद से सभी लोगों के लिए खतरा है, इसलिए जौरेस समाजवादी आन्दोलन के लिए सभी परिवर्तनवादियों और गणतंत्रवादियों की प्रभावशाली एकता चाहते थे। जहाँ लोकतंत्र की उपलब्धियाँ खतरे में हों, वहाँ ऐसी एकता विशेष रूप से आवश्यक है। समाजवाद की ओर बढ़ने के लिए वे समाजवादियों, गणतंत्रवादियों की सरकारी स्तर पर एकता चाहते थे। जौरेसवाद का यही 'द्रोह' था।

सन् १८९९ में जौरेस ने अन्य अनेक लोगों की तरह अनुभव किया कि गणतंत्र के लिए खतरा है। लोकतांत्रिक शक्तियों को मजबूत करने के लिए उन्होंने वाल्देक-रूसी मंत्रिमंडल में मिलरां (millerand) को शामिल करना स्वीकार किया। यह पहला अवसर था, जब एक बुर्जुआ सरकार में समाजवादी शामिल किया गया। यहाँ मिलरां का ही मामला था, जिसने अनेक देशों में समाजवादी आन्दोलनों को सदमा पहुँचाया और कँपा दिया।

जौरेस ने समाजवाद में इस परिवर्तन को कैसे उचित ठहराया ?

पूँजीवाद के खतरों को किसी प्रकार कम नहीं आँका गया था। सर्वहारा के जीवनरूपी मार्ग को पूँजीवाद के बन्धन अवरुद्ध कर देते हैं। बन्धन स्वयं जीवन विधि पर था, क्योंकि वह 'सर्वहारा के व्यक्तित्व का पृथक्करण' करता है। सर्वहारा केवल साधन रह जाता है और श्रम के उद्देश्य तथा विधि पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं रहता। 'सर्वहारा के व्यक्तित्व का उसके आधार की ही तरह ह्रास हुआ।' जौरेस रोग के मार्क्सवादी निदान से सहमत थे, लेकिन इससे आगे उनकी सहमति नहीं थी। मार्क्स का रोग सम्बन्धी पूर्वज्ञान बेकार था, क्योंकि 'उसका आरम्भ या तो पुरानी पड़ गयी ऐतिहासिक प्रतिज्ञाओं से होता है या गलत आर्थिक प्रतिज्ञाओं से।'

मार्क्स ने अपने नीति घोषणापत्र में तर्क दिया था कि मध्यमवर्ग के

विरुद्ध हिंसात्मक क्रान्ति से ही सर्वहारा शक्ति छीनेगा और कम्युनिज्म को चरितार्थ करेगा। किन्तु क्रान्ति अब भी बुर्जुआ-वर्ग की ही क्रान्ति रह जाती है, क्योंकि सर्वहारा क्रान्ति का सूत्रपात करने के लिए बहुत कमजोर है। सफल बुर्जुआ क्रान्ति का परिष्कार करके सर्वहारा क्रान्ति रूपी वृक्ष को तैयार करना होता है। जौरेस का कहना था कि इस प्रकार के चक्करों से सर्वहारा के सामाजिक अधिकार नहीं बढ़ सकते। मिजेल (Miguel) द्वारा मार्क्स को लिखे गये शब्दों को उन्होंने चेतावनी के साथ उद्धृत किया : "हम क्रान्ति को बुर्जुआ-विरोधी दिशा में ले जा सकते हैं, हम बुर्जुआवादी उत्पादन के खास तरीकों को समाप्त कर सकते हैं, लेकिन हम शायद छोटे-छोटे व्यवसायियों और दूकानदारों का महत्त्व नहीं घटा सकते। मेरा आदर्श है कि जो भी आप प्राप्त कर सकते हैं, उसे प्राप्त करें। हमें प्रथम विजय के बाद जितने भी अधिक समय तक सम्भव हो सके, निम्नवर्ग और मध्यमवर्ग को कोई संगठन बनाने और खासकर हर वैधानिक सदन में बगल में बैठकर हमारा ही विरोध करने से रोकना चाहिए। आंशिक आतंकवाद और स्थानिक अराजकता को अधिकांश लोगों के समर्थन के अभाव का स्थान ले लेना चाहिए।"*

इस प्रकार अधिकांश के समर्थन के अभाव की पूर्ति करने का मतलब जीवन को अव्यवस्थित करना और समाज का ढाँचा बर्बाद करना है। जौरेस ने ऐसे विचार का 'पराश्रयी क्रान्ति' कहकर तिरस्कार किया।

ऐसी क्रान्ति की उपलब्धि क्या होती है ? "जौरेस ने मार्क्स के नीति घोषणापत्र का विश्लेषण किया और सिद्ध किया कि वह १८ वीं शताब्दी के खेतिहर साम्यवाद और आज के मिलरां के कार्यक्रम के कुछ तत्वों का विचित्र मिश्रण है।"† उन्हें घोषणापत्र के 'कार्यक्रम सम्बन्धी गड़बड़-

---

* मिजेल की रूप रेखा आगे चलकर लेनिन के दाँवघातों की अच्छी भविष्यवाणी थी।

† सन् १८९४ में मिलरां द्वारा संयुक्त समाजवादी पार्टी के लिए निरूपित कार्यक्रम।

घोटाले' से अधिक 'तरीका सम्बन्धी गड़बड़घोटाले' से भय था। कार्यक्रम में गड़बड़घोटाले को ठीक किया जा सकता है, लेकिन तरीके में गड़बड़घोटाले को ठीक करना शक्ति के बाहर है।

शाब्दिक रूप से मार्क्स मजदूर की बढ़ती हुई दीन अवस्था में विश्वास करते थे। उन्हें सर्वहारा के सुधार और सामाजिक उन्नति करने की शक्ति में विश्वास नहीं था। उनका मत था कि सर्वहारा जो भी उपलब्ध कर सकता है, वह है केवल अपमान की भावना और शक्ति की भावना। उनके द्वन्द्वात्मक ज्ञान के अनुसार पूर्ण निराश्रयता पूर्णमुक्ति की पूर्ण अवस्था है। यहाँ जौरेस पूरी शक्ति के साथ कहते हैं : "मार्क्स गलती पर थे।" मूलभूत गलती यह है कि 'पूँजीवादी समाज में मजदूरों के दर्जे को नीचा करनेवाली प्रवृत्तियों को उन प्रवृत्तियों के मुकाबले प्राथमिकता दी जाती है, जो मजदूर के दर्जे को ऊँचा करनेवाली हैं।' और भी गलती यह है कि राजनीतिक उथल-पुथल अथवा आर्थिक अव्यवस्था के कारण 'पूँजीवाद का एकाएक पराभव होने और सर्वहारा को एकाएक सत्ता प्राप्त होने' की राह देखी जाती है। क्रान्ति अचानक अव्यवस्था और परिवर्तन नहीं है, बल्कि मूलभूत परिवर्तन की क्रमिक परिपक्वता है। अन्ततः क्रान्ति निराश्रयता नहीं, अपितु विकास से होती है।

जीवन के गहरे स्रोत, जो प्राचुर्य से प्रवाहित हों, समाजवाद को पुष्ट करनेवाले वास्तविक तत्त्व हैं। मुख्य तथ्य जिसे ध्यान में रखना था, वह यह था कि 'मध्य यूरोप और पश्चिम यूरोप के सभी संविधानों में इतने लोकतांत्रिक तत्त्व हैं कि बिना किसी क्रान्तिगत संकट के वास्तविक लोकतंत्र में संक्रमण हो सकता है।' अनुभव ने सिद्ध कर दिया था कि लोकतांत्रिक राज्य पर मजदूरों का प्रभाव हो सकता है। फ्रान्स में सर्वहारा का भाग्य 'यंत्र और कारखाने' सर्वहारा के कब्जे में थे।

जौरेस ने लीब्कनेख्त (१८२६–१९००) के कथन पूर्णसहमति के साथ उद्धृत किये हैं : "सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी सारी जनता की है।

तब इसे जनता की ओर ध्यान देना है और जब भी अवसर आये, अपने व्यावहारिक सुझावों और सामान्य हित के कानून निर्माण द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण देना है कि हमारा एकमात्र लक्ष्य जन-कल्याण है और जनता की इच्छा ही हमारा शासन है। हम व्यक्ति के प्रति राज्य के कर्तव्य के सम्बन्ध में विरोधियों के विचार से ऊँचे विचार रखते हैं और अपने विरोधियों, विशेष सुविधा-प्राप्त तथा एकाधिकार रखनेवाले वर्गों से व्यवहार में भी हम इसका स्तर नीचे न आने देंगे।"

जौरेस ने 'वैधानिक न्याय की स्थिति लाने के यह शान्तिपूर्ण तथा सामंजस्ययुक्त' विचार स्वयं लीब्कनेख्त के लेखों से लिये हैं। इनमें से कुछ १८८१ के निराशापूर्ण दिनों में लिखे गये थे और लीब्कनेख्त की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए थे। जौरेस ने विशेष रूप से इन्हें समझा। इन लेखों में लीब्कनेख्त ने इस सम्भावना को अनुभव किया था कि सैनिक धक्के या राजनीतिक उदारता के फलस्वरूप 'शासन करने या कम-से-कम सरकार में शामिल होने के लिए समाजवादियों का आह्वान किया जायगा।'

ऐसी सम्भावनाएँ उस सामाजिक अनुकूलन का अविच्छिन्न अंग थीं जो धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। ऐसे लोग 'प्रायः एकदम नगण्य' थे, जो अज्ञान नहीं, बल्कि अपने हित के कारण समाजवाद के शत्रु थे। भारी बहुमत सामाजिक प्रवृत्तियों के दबाव के कारण सामाजिक परिवर्तन की दिशा में बढ़ रहा था। यह समाजवादियों का काम था कि वे प्रक्रिया को सजग प्रयास में परिवर्तित कर दें, अज्ञानतापूर्ण विरोध भावना को सहानुभूतिपूर्ण अवबोध में बदल दें। प्रभावशाली शब्दों में जौरेस ने स्थिति का सारांश प्रस्तुत किया : "दूसरे शब्दों में, चूँकि घटनाओं के फलस्वरूप और समाजवादी पार्टी के बढ़ते हुए संगठन से सर्वहारा ने अन्ततः उन वर्गों को भी अपने साथ कर लिया है, जो स्वभावतः समाजवाद की ओर ले जानेवाले सामाजिक कानूनों के विचार के विरुद्ध होते और चूँकि राष्ट्र का बहुत बड़ा बहुमत समाजवाद की ओर चल पड़ा है और यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संगठन की पहली सीढ़ी तक पहुँच चुका है, हम

(इससे) यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसी प्रकार राष्ट्रों के बहुत बड़े बहुमत को और भी अधिक प्रभावशाली प्रचार और भी अधिक प्रेरणामूलक सर्वहारावादी प्रभाव तथा और भी अधिक सुधार के साधनों द्वारा अपने चरम लक्ष्य तक क्रमशः बढ़ाया जा सकता है।"

लीब्कनेख्त ने इसीलिए श्रमजीवी वर्ग की व्याख्या बहुत व्यापक रूप में की : "इस प्रकार हमें श्रमजीवी वर्ग में मजदूरी करनेवालों के अलावा छोटे-छोटे किसानों तथा छोटे-छोटे दूकानदारों को भी शामिल करना चाहिए।...कुछ लोग मानते हैं कि एकमात्र मजदूरी करनेवाला सर्वहारा ही सच्चा क्रान्तिकारी वर्ग है, अकेले वही समाजवादी सेना बनाता है, और हमें दूसरे वर्गों, जीवन के दूसरे क्षेत्रों के लोगों से सतर्क रहना चाहिए। सौभाग्य से इन नासमझी भरे विचारों का जर्मन सोशल डेमोक्रेसी पर कभी प्रभाव नहीं रहा।" अतीत में पेरिस और ल्योन्स के श्रमजीवियों के बहादुरी-भरे कारनामों के बावजूद इस 'घातक गलती' के लिए फ्रांस में समाजवाद को गहरा मूल्य चुकाना पड़ा है। 'संकुचन करना नहीं, बल्कि विस्तार करना' लीब्कनेख्त का 'स्वर्णिम नियम' था। 'समाजवाद का दायरा तब तक बराबर बढ़ते जाना चाहिए, जब तक हम अपने अधिकांश विरोधियों को अपने मित्र के रूप में न बदल दें या कम-से-कम उनका विरोध न समाप्त कर दें।' जौरेस ने कहा : "समाजवाद के बारे में सबसे श्रेष्ठ बात संक्षेप में यह है कि यह अल्पमत का शासन नहीं है। यह अल्पमत द्वारा लादा नहीं जा सकता और न इसे अल्पमत द्वारा लादा ही जाना चाहिए।"

जौरेस की दृष्टि में बहुमत संसद के अंकगणित से नहीं बनता। यह बातों की मान्यता से बनता है। प्रथमतः 'सभी वर्गों, जीवन की सभी अवस्थाओं में हम कार्यरत इच्छाएँ, गतिशील प्रवृत्तियाँ पाते हैं।' 'सर्वत्र व्यक्तियों में आत्मचेतना आ गयी है।' द्वितीयतः विद्रोहवादी पुराने आधार को समाप्त करके जीवन का जो 'विखण्डन' चाहते हैं, वह 'वस्तुतः क्रान्ति का उल्टा' है। 'प्रत्येक महान् क्रान्ति पहले जीवन के उत्कर्ष की

कल्पना करती है और यह उत्कर्ष तभी सम्भव है, जब लोगों में आपसी विश्वास और अनुराग के द्वारा व्यापक एकता की चेतना हो।' संसदीय कार्य अच्छी तरह निश्चित सुधारों के लिए हों, हड़तालें निश्चित और व्यापकरूप से स्वीकृत उद्देश्यों के लिए की जायँ। किन्तु इन सबसे भी अधिक जरूरी यह है कि समाजवादी क्रान्ति को उत्पादन की नयी स्थिति और नया सम्बन्ध कायम करने की शक्ति देने के लिए रचनात्मक भावना से कार्य किये जायँ। 'सन् १७८९ में सम्पत्ति के क्षेत्र में क्रान्ति को केवल निषेधात्मक कार्य करना था। उसने उन्मूलन किया, रचना नहीं की।' समाजवाद के पृष्ठों में रचना है, निर्माण है, अनियमित पृष्ठों में ही विध्वंस की बात कही गयी है। जिस समाजवाद को जौरेस ने हृदय से लगाया, वह जीवन की पुस्तक और रचना का गीत था।

जौरेस यह नहीं मानते थे कि व्यक्तिवादी चेतना में सत्य और न्याय के लिए उद्वेग भरने का प्रयास ही काफी है, श्रमजीवी वर्ग के उपयोग के लिए 'शासन करने और कानून बनाने का यंत्र' ढालने की भी आवश्यकता है।

'हिस्तीयरे सोशलिस्ते' (समाजवाद का इतिहास) में जौरेस ने लिखा : "इतिहास की हमारी व्याख्या मार्क्स की व्याख्या की तरह भौतिकवादी और मिशेल (Michelet) की व्याख्या की तरह आदर्श-वादी होगी। निश्चय ही आर्थिक जीवन मानव-इतिहास का मूल और स्रोत है, किन्तु सामाजिक रचना की सारी परम्परा में मानव विचारशील प्राणी के रूप में पूर्ण आदर्शजीवन और एकता के लिए भूखी अपनी अशान्त आत्मा तथा रहस्यपूर्ण संसार के बीच घनिष्ठ तादात्म्य भी चाहता है।···ऐसा कोई मानव प्राणी नहीं है, जो बिलकुल मानव न रह जाय और एक वर्ग का सदस्य बन जाय।···इससे भी बड़ी बात यह है कि स्वयं वर्ग भी केवल वर्ग-चेतना से उत्तेजित नहीं होते। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न तापमानों में एक ही रासायनिक तत्त्व बिलकुल भिन्न-भिन्न समूह (Combination) बनाते हैं, उसी प्रकार नैतिक तापमान, मान-

वीय तापमान भी है, जो समाज मानवीय तत्त्वों से बहुत ही भिन्न ऐतिहासिक समूहों का निर्माण करता है।"

जौरेस निश्चित रूप से मार्क्सवाद से दूर हट गये थे। मार्क्स द्वारा उपलब्ध की गयी श्रम आन्दोलनों तथा समाजवादी विचार की उपयोगी एकता के लिए वे अवश्य मार्क्स के ऋणी थे। जौरेस के समाजवाद की जड़ें फ्रान्स की ऐतिहासिक परम्पराओं में थीं। उनके विचार अपने देश की भावनाओं से ओतप्रोत थे। समाजवाद को वे राष्ट्रीय जागरण की परिपक्वता मानते थे, जिनके बीच फूल और फल का सम्बन्ध है। उन्होंने युद्ध की ही हिंसा से घृणा नहीं की, बल्कि किसी भी हिंसा से घृणा की, क्योंकि यह मानव में मानवीयता को बर्बाद कर देती है। समाजवाद या स्वतन्त्र एवं समान व्यक्तियों का समाज मानव की और अधिक आत्मसजगता तथा समाज के साथ उसकी सुसम्बद्धता से ही आ सकता है। द्वेष के स्थान पर उन्होंने विवेक और सहानुभूति की भावना बढ़ाने की कोशिश की। यह रचनात्मक विचार, केवल पीड़ित समूहों की आवाज नहीं, बल्कि धर्मभरे सत्य की आवाज के रूप में समाजवाद की यह कल्पना, कभी भी फ्रांस के समाजवाद का अविच्छिन्न अंग नहीं बनी। जौरेस ने सर्वहारा के विकास-क्रम के अनुसार नीति-निर्धारण करते रहने की जिस आवश्यकता पर जोर दिया, उसकी आलोचना यह कहकर की गयी कि यह तो मजदूर की वर्ग-भावना को कमजोर करनेवाली है। उनके विचार की आलोचना करने-वाले 'क्रान्ति' के स्वप्न का परित्याग करना घृणास्पद मानते थे और जीवन में सतत क्षमता और मर्यादा के धीरे-धीरे विकास का कार्यक्रम अपनाना उन्हें पसन्द नहीं था। जिन लोगों ने प्रूधों के द्राक्षासव को नष्ट कर दिया था, उनके लिए जौरेस के सोमरस का कोई उपयोग नहीं था। केवल सोरेल की शराब के नशे में उन्हें मार्क्स द्वारा प्रस्तुत चटपटेपन का स्वाद मिला।

जौरेस की दृष्टि न अपनाने का फल यह हुआ कि फ्रान्स के समाज-वाद ने पहले अपने को युद्ध के बाहुओं में आबद्ध कराया और उसके

बाद वह मास्को इण्टरनेशनल के प्रभाव में आया। सन् १९२० में दो-तिहाई बहुमत से फ्रान्सीसी समाजवाद 'कम्युनिस्ट' बन गया। जौरेस का 'ह्यूमैनिते' 'ल ह्यूमैनिते' बनकर कम्युनिज्म का प्रवक्ता हो गया। अब जौरेस की बातें भर रह गयी हैं। उनकी शिक्षाएँ उपेक्षित हैं, उन शिक्षाओं की निन्दा की जाती है, उनकी स्मृति और उनके नाम के जादू का ऐसे उद्देश्यों के लिए उपयोग होता है, जिन्हें वे कभी न स्वीकार करते।

बर्नस्टाइन और जर्मन समाजवाद

एडवर्ड बर्नस्टाइन (१८५०-१९३२) को इतिहास में संशोधनवाद का जनक माना जाता है। वे चाहते थे कि समाजवाद वैज्ञानिक न होकर गुण-दोष का मूल्यांकन करनेवाला हो, क्रान्तिवादी न होकर विकासवादी हो। इन दूरगामी परिवर्तनों को वे मार्क्सवादी विचार के ढाँचे के अन्तर्गत करना चाहते थे।

जर्मन सोशल डेमोक्रेसी में भी बर्नस्टाइन पहले संशोधनवादी नहीं थे। जार्ज वॉन वोलमर (१८५०-१९२२) इस काम में उनसे प्रायः एक दशक आगे थे। उनकी बवेरियायी पृष्ठभूमि अर्थात् प्रशिया-विरोधी क्षेत्रीय भावना, कृषि-प्रधान व्यवस्था में विश्वास तथा कैथोलिक धर्म ने उन्हें मार्क्स का स्वाभाविक आलोचक बना दिया। लेकिन चूँकि यह आलोचना उपदेश-प्रधान और क्षेत्रीयता की भावना से युक्त होती थी, इसलिए इसका बौद्धिक प्रभाव नहीं था और न इसमें बर्नस्टाइन की तरह दार्शनिक गहराई ही थी।

बर्नस्टाइन संशोधनवादरूपी वर्षा ऋतु के अकेले बया पक्षी नहीं थे। पार्टी में विचार की धारा पहले से ही इस दिशा में प्रवाहित हो चली थी। बेबेल ने एडलर को लिखा था : "हमारे पास अनेक बर्नस्टाइन हैं और उनमें से अधिकांश पार्टी में उच्च पदों पर हैं।" संशोधनवाद के व्याख्याकार के रूप में बर्नस्टाइन अपने जैसे लोगों में केवल प्रधान थे।

संशोधनवाद को शक्ति इस बात से मिली कि जो घटनाएँ घटीं उनका मार्क्स की भविष्यवाणियों से मेल नहीं था और उन घटनाओं तथा

भविष्यवाणियों के बीच का अन्तर व्यापक था। बर्नस्टाइन ने कहा है : "सिद्धान्तों की आलोचना ने नहीं, अपितु वास्तविकता ने मुझे अपने विचार बदलने के लिए बाध्य किया।"

पूँजीवाद के विकास-क्रम के सम्बन्ध में मार्क्स का विचार था कि 'एक छोर पर धन का संचय होगा और उसके साथ ही दूसरे छोर पर दीनता, श्रम की यंत्रणा, दासता, अज्ञानता, निर्ममता तथा नैतिक पतन में वृद्धि होगी।' पूँजीवाद को बढ़ते हुए संकट का सामना करना पड़ेगा और वह धराशायी हो जायगा। अनुभव ने इस विश्लेषण को गलत सिद्ध कर दिया। निस्संदेह धन खूब बढ़ा, किन्तु सारे धन का संचय नहीं हुआ। दीनता स्पष्ट रूप से समाप्त हुई। आर्थिक जीवन ठीक से चल रहा था और पूँजीवाद के पतन का भूत गायब हो चुका था। मार्क्स के महान् संकट-सिद्धान्त के विपरीत जीवन को अनुकूल बनाने का व्यवहार अपना कार्य कर रहा था। जिन्हें उत्तराधिकार में कुछ नहीं मिला था, वे धीरे-धीरे पुनः समाज में प्रतिष्ठित होकर अपने खोये हुए अधिकार को प्राप्त कर रहे थे। मार्क्स ने आगे चलकर होनेवाली जिस बीमारी की निराशापूर्ण बात कही थी, वह बीमारी नहीं हुई और इसके साथ ही वह निर्णायक दिन, वह कयामत भी नहीं आयी, जिसकी वे कल्पना करते थे। बर्नस्टाइन ने लिखा : "सोशल डेमोक्रेसी इस समाज का विघटन करना और अपने सभी सदस्यों को सर्वहारा बनाना नहीं चाहती। इसके बजाय समाज श्रमजीवी को सर्वहारा के स्तर से ऊँचा उठाकर मध्यमवर्गी बनाना चाहता और इस प्रकार पूरा मध्यमवर्ग समाज स्थापित करना चाहता है।"

संशोधनवाद न तो क्रान्ति से संकट पैदा करने में विश्वास करता था और न ही क्रान्ति से समाधान करने में उसकी आस्था थी। वह पूँजी-वादी असंगतियों को कम करना, कमजोर करना चाहता था। अर्थ-व्यवस्था को युक्ति-मूलक बनाकर उत्पादन और विनिमय के बीच भारी अन्तर को समाप्त करना, मजदूरों की स्थिति में सुधार करके और मध्यमवर्ग

को शक्तिशाली बनाकर पूँजी तथा श्रम के संघर्ष का शमन करना संशोधनवाद का उद्देश्य था। उसे वर्ग-प्रधान राज्य तथा समाज के बीच असंगति को उत्तरोत्तर राज्य द्वारा अधिक नियंत्रण तथा लोकतंत्र की प्रगति से समाप्त करना था। यह कोई नया कार्यक्रम, कोई नयी सूझ नहीं थी, बल्कि जो कुछ वस्तुतः हो रहा था, उसे जारी रहने देना और स्थिरता लाना था। ये परिवर्तन स्वयं मजदूर आन्दोलन और उसके कार्यों के साथ जुड़े हुए थे।

बर्नस्टाइन ने कहा था कि पार्टी के उद्देश्य और ट्रेड-यूनियनें बिल्कुल विपरीत दिशा में गतिशील हैं। पार्टी का मुख्य सिद्धान्त राजनीतिक दृष्टि से निराशावादी है अर्थात् पार्टी वर्गगत विरोध गहरा होने की धारणा रखती है और स्थिति की अपकृष्टता को सामान्य तथा सुधार को असामान्य क्रम मानती है। बर्नस्टाइन का तर्क था कि राजनीति के इस निराशावादी दृष्टिकोण का ट्रेड-यूनियन-आन्दोलन से मेल नहीं बैठता। ट्रेड-यूनियनों को चाहिए कि वे अपनी उपलब्ध सफलताओं द्वारा अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करें। ट्रेड-यूनियनों पर दाँवघात की ऐसी नीति लादना, जो निराशावादी और क्रान्तिवादी हो, उन्हें 'ट्रेड-यूनियन के आवरण में समूह का राजनीतिक आन्दोलन बना देगा।' जहाँ पार्टी संघर्ष को निश्चित रूप से सामान्य स्थिति मानती है, वहीं ट्रेड-यूनियन हमेशा 'संघर्ष को अपवाद और शान्ति को (या उद्योग में शान्ति बनाये रखने के समझौते को) नियम के रूप में मानेगी, क्योंकि इसके विपरीत चलने पर वह अपना ही अस्तित्व और अपनी सफलताओं के आधारों को कमजोर कर देगी।' बर्नस्टाइन का खयाल था कि इन दृष्टिकोणों में संघर्ष अवश्यम्भावी है।

पार्टी पहले संसद-विरोधी थी, वह संसद को दलदल समझती थी। बाद में पार्टी चुनाव के मैदान में उतरी और उसके प्रवक्ता रीख़स्ताग (जर्मन संसद की लोकसभा) में पहुँचे, किन्तु 'उनका विशुद्ध उद्देश्य आन्दोलन था।' फिर सुधार सम्बन्धी विषयों पर मत देने के लिए उनका

संसदीय समितियों में जाना जरूरी था। सन् १८९४ में सोशल डेमोक्रेटों को ववेरिया का वजट स्वीकृत करना आवश्यक था। ट्रेड-यूनियनों में अनुकूल बनने की भावना अधिक थी। एक के वाद एक राज्य-संस्थान को उन्होंने मान्यता दी। राजकीय श्रमिक व्यवसाय केन्द्र तथा सामाजिक बीमा-व्यवस्था ने संगठित मजदूर तथा राज्य के बीच नया सम्बन्ध स्थापित किया। मजदूर अब सरकारी अधिकारी को शत्रु के रूप में नहीं देखता था, क्योंकि इस बीच में सरकारी अधिकारी 'बिल्कुल दूसरा व्यक्ति' बन चुका था। ट्रेड-यूनियनों ने अपने अनुभव से 'तटस्थता' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। कार्ल लीजेन (१८६१-१९२०) के शब्दों में 'ट्रेड-यूनियनों को सामाजिक राजनीति में पूर्ण रूप से लगे रहना चाहिए, किन्तु मेरा मत है कि उन्हें पक्षावलम्बी राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए।'

वर्नस्टाइन ने इस सहज अनुकूलन का दर्शन और सामंजस्य की नीति तैयार करने का बीड़ा उठाया। उनके कार्य ही नहीं, वल्कि उनके प्रभाव के विस्तार में भी 'ब्रिटिश समाजवाद' के आदर्श और लासेल की प्रेरणा ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। इंग्लैण्ड में १२ वर्ष के प्रवास ने वर्नस्टाइन को सामाजिक कयामत के सिद्धान्त के प्रति ही नहीं, उसकी आवश्यकता में भी सन्देह करनेवाला बना दिया। 'किसीने भी सरकार पर श्रमजीवी वर्ग के नियंत्रण की आवश्यकता पर आपत्ति नहीं की है।' किन्तु पेचीदे औद्योगिक समाज में, जिसमें श्रमजीवी वर्ग सुसंगठित है, सत्ता पाने का उपाय घेरावन्दी नहीं, मतदानपत्र है। उचित मार्ग से हटा हुआ होने के बावजूद इस सम्बन्ध में लासेल द्वारा प्रस्तुत आधार ठोस था। वर्नस्टाइन ने अनुभव किया कि लासेल की अर्थनीति पुरानी पड़ गयी है, लेकिन मार्क्स के राजनीति दर्शन की अपेक्षा से उनका राजनीति दर्शन वास्तविकता के अधिक नजदीक था। मार्क्स ने केवल अधिकार की दृष्टि से सोचा, जब कि लासेल ने अधिकार और कानून को एक-दूसरे के साथ जोड़ दिया। यदि राज्य रूपी राग के स्वर ठीक नहीं थे, तो क्रान्तिगत विरोध भाव की वात भी गलत थी। कानून द्वारा विकसित राजनीतिक

लोकतन्त्र ही सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र सभ्य तरीका था। इसी प्रकार वर्नस्टाइन ने लासेल के समाजवाद की नीतिपरायणता के आग्रह को भी स्वीकार किया। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक आधार के सन्तुलन के लिए नैतिक सजगता की आवश्यकता थी। 'समाजवादी समाज की स्थापना के लिए वर्नस्टाइन और अन्य संशोधनवादी मुख्य रूप से मानव की विकासशील नैतिक चेतना पर भरोसा करते थे।'*

वर्नस्टाइन की आलोचनाएँ पहले उन लेखमालाओं में मुखर हुईं, जो उन्होंने १८९६ से १८९८ के बीच 'न्यू जीट' में लिखीं। कोट्स्की के सुझाव पर उन्होंने इन लेखों को और विस्तृत करके १८९९ में एक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया और वहीं से एक भारी विवाद की शुरुआत हुई।

मार्क्स का कहना था कि पूँजीवाद का विकास पूँजी में बराबर वृद्धि से होता है। यह पूँजी-संचय धीरे-धीरे कम लोगों के हाथों में सिमटने लगता है, नियमों का आकार बढ़ता जाता है और मालिकों की संख्या घटती जाती है। साख और प्रतिस्पर्द्धा की जुड़वाँ शक्तियाँ संकेन्द्रण करती हैं। विस्तार और संकेन्द्रण अवश्य हुआ, किन्तु जिस तरह का विस्तार और संकेन्द्रण मार्क्स ने सोचा था, वैसा नहीं। साख का नियंत्रण यंत्र पूँजीवादी उत्पादन की अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित कर रहा था। वित्त और उद्योग में बैंक प्रभावशाली योगदान कर रहे थे। जैसा कि रुडोल्फ हिल्फरडिंग (१८७७-१९४०) ने आगे चलकर अपनी पुस्तक 'फाइनैन्स कैपिटेल' (१९१०) में लिखा: "६ बड़े बैंकों को अपने अधिकार में लेने का मतलब आज बड़े उद्योग के सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को अपने अधिकार में लेना होगा।" यहीं बलात् समाजीकरण की प्रक्रिया निहित थी, कलम घुमायी कि बैंक 'राज्य यंत्र' और इस प्रकार समाजवाद के अग बने।

इस चमत्कार को वर्नस्टाइन ने 'पूँजीवाद में समाजवाद' की संज्ञा दी। समाजवादी संस्थाएँ पूँजीवाद का वेधन करने लगती हैं और पूँजीवाद

* कार्ल ई० शोर्स्के: जर्मन सोशल डेमोक्रेसी, पृष्ठ १८।

अपनी चरम ऊँचाई की ओर बढ़ता रहता है। तब भी वे वेधन करती रहती हैं। सामुदायिक कार्रवाई का क्षेत्र आकार और महत्त्व दोनों दृष्टियों से बढ़ता जाता है। कार्टेलों (व्यापारी फर्मों के संघ, जो कीमतों को ऊँचा रखने और प्रतिस्पर्द्धा समाप्त करने के लिए होते हैं) और इजारेदारियों के फलस्वरूप सार्वजनिक नियंत्रण बढ़ा और अन्ततः यह नियंत्रण उनका रूपान्तर सार्वजनिक निगमों में कर देगा। यह आवश्यक था कि 'राजनीतिक वंचना के माध्यम से मुक्ति' के विचार का परित्याग करके 'आर्थिक सुव्यवस्था के माध्यम से मुक्ति' का विचार अपनाया जाय। पहला विचार विध्वंसात्मक बन जाता है, दूसरा विचार रचनात्मक है। रूसी क्रान्ति के बाद बुखारिन ने सिद्धान्त निरूपित किया कि समाजवाद के उत्थान का पहला चरण हमेशा विध्वंसात्मक होता है, केवल दूसरा चरण रचना की ओर ध्यान देता है। यह उसी प्रकार की तोड़-मरोड़कर कही गयी बात थी, जिसकी बर्नस्टाइन को आशंका थी और जिसके विरुद्ध उन्होंने चेतावनी दी थी।

मार्क्स द्वारा सोची हुई केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों ने विशेष रूप से जोर मारा, किन्तु उसके साथ-साथ ही विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ भी उन्हें निष्फल और सन्तुलित करने के लिए सामने आ चुकी थीं। शेयर व्यवस्था बढ़ने से औद्योगिक सम्पत्ति का स्वामित्व बँटता जा रहा था। मध्यमवर्ग नष्ट होने के बजाय संख्या, धन और प्रभाव सभी दृष्टियों से बढ़ रहे थे। भारी पैमाने की अर्थव्यवस्था वेतनभोगियों का एक नया वर्ग ही नहीं तैयार कर रही थी, बल्कि अपने निकट और अपने संरक्षण में छोटे कारखानों तथा निजी उद्योगों के लिए नया अवसर भी प्रदान कर रही थी।

ट्रेड-यूनियनों के बढ़ने का आर्थिक विकासक्रमों पर प्रभाव पड़ा। मजदूरों के संगठन और बढ़ते हुए सामाजिक नियंत्रण से समाजवाद के रूप में सुधार हो रहा था। बर्नस्टाइन और कोनराड स्मिद्त श्रम-कानूनों

को उस 'सामाजिक नियंत्रण' के अंग के रूप में देखते थे, जो पूँजीवाद के अकलात्मक चित्र को सुधार रहा था।

पूँजीवाद के सम्बन्ध में विद्वान् लोग तीन बातें देखते हैं; वे हैं उत्पादन के ढंग, वितरण के तरीके और वैधानिक सम्बन्ध। इसमें से केवल पहले में ही सुधार करना बाकी था। शेष दो में मजदूर-आन्दोलन के दबाव के फलस्वरूप पहले ही सुधार हो चुका था। मालिक अब नौकरी की मनमानी शर्तें नहीं रख सकता था, काम की शर्तें तथा वेतन सामाजिक विषय बन चुके थे और कानून के अन्तर्गत थे। ट्रेड यूनियनों के कार्य में विस्तार करके और सहकारिता का विकास करके (जिसकी मार्क्स ने बुरी तरह उपेक्षा की थी) सर्वहारा औद्योगिक अर्थव्यवस्था के आधार को अपने पक्ष में कर सकता था।

आर्थिक जीवन के इन परिवर्तनों ने सर्वहारा के राजनीतिक दृष्टिकोण में और भी परिवर्तन किये तथा उनका तकाजा था कि और भी परिवर्तन हों। मार्क्स का वर्ग-विश्लेषण बहुत सीधा-सा था, जब कि वास्तविक जीवन में सम्बन्ध पेचीदे थे। मार्क्स ने स्वयं 'कैपिटल' के तृतीय खण्ड में 'वर्गों को उपवर्गों में बाँटनेवाले हितों तथा स्थितियों के सतत विपाटन' का जिक्र किया है। इन विपाटनों से लाभ उठाना अपराध होगा। यह घोषणा करनी होगी कि 'हम चाहते हैं कि तुम शत्रु को निगल जाओ और उसके बाद ही हम तुम्हें निगल जायँगे।' ऐसी चालबाजियाँ समाज को केवल बर्बाद कर सकती हैं। वर्ग के पेचीदे रूप का उपयोग उन वर्गों के भीतर एकता बढ़ाने में करना चाहिए और फिर विभिन्न वर्गों के बीच परस्पर सहयोग स्थापित करना चाहिए। वर्ग-संघर्ष केवल वर्ग-शान्ति की स्थिति में ही सामाजिक अस्त्र हो सकता है।

पार्टी को गैर-मजदूरों, खासकर किसानों, दूकानदारों और वेतनभोगियों का अधिक-से-अधिक सहयोग प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को चौथाई मत इन्हीं वर्गों से मिले थे, हालाँकि पार्टी के सदस्यों में ९९ प्रतिशत श्रमजीवी वर्ग के थे।

औद्योगिक समाज और साथ ही समाजवाद के लिए भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था सर्वोत्तम राजनीतिक जलपोत है। 'लोकतान्त्रिक मताधिकार रखनेवाले को प्रकारतः समुदाय का एक साझीदार बना देता है। ऐसी प्रकारतः साझेदारी निश्चित रूप से अन्ततः वास्तविक साझेदारी बन जायगी।' लोकतन्त्र वर्गों को तत्काल समाप्त किये बिना वर्ग शासन को छोटा और यहाँ तक कि समाप्त कर देता है। यह 'सामंजस्य का विश्व-विद्यालय' है, जहाँ विभिन्न वर्ग सहयोग की शिक्षा लेते हैं। सामाजिक लोकतन्त्र संघवादी और विकेन्द्रीकरण का समर्थक होता है; प्रदेशों और स्थानिक लघुसमाजों को उत्तरोत्तर अधिक अधिकार देकर वह शक्ति के केन्द्रों को समाप्त करना चाहता है।

सर्वहारा यदि काल्पनिक क्रान्ति के लिए इधर-उधर न भटककर ठोस सुधारों के लिए कार्य करे, तो उसे समर्थन प्राप्त होगा और सफलताएँ उपलब्ध होंगी। लोग तभी बहुत अच्छा काम करते हैं, जब वे ऐसे लक्ष्य के लिए दत्तचित्त हों, जो न बहुत बोझिल हो और न बहुत दूर भागनेवाला हो। आदर्श का खिंचाव बहुत अधिक होगा, तो उसका परिणाम निराशा और आस्थाहीनता होगा। संशोधनवाद ने 'मुक्तिवाद' (Apocalyptic) की प्रधानता को ठोस और सुसम्बद्ध सुधारों की ओर मोड़ने का प्रयास किया। 'मैं खुलेआम स्वीकार करता हूँ कि मुझे आमतौर पर कहे जानेवाले 'समाजवाद के अन्तिम लक्ष्य' के प्रति बहुत ही कम दिलचस्पी या रुचि है। यह लक्ष्य जो कुछ भी हो, मेरे लिए कुछ नहीं है, गति ही सब कुछ है।' जैसा कि फीख्टे ने ऊपर कहा है, मानव को सतत प्रयास करना है, उसे किसी जगह पर ही पहुँचना है, इस तरह की कोई बाध्यता नहीं है।

मार्क्सवाद को जब तक उसकी ग्रन्थि द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त से मुक्त न कर दिया जायगा, तब तक परिवर्तित स्थिति के साथ सामंजस्य-स्थापन कठिन है। बर्नस्टाइन के कथनानुसार मार्क्सवाद के मूलभूत तत्त्व उत्क्रान्तिवाद, इतिहास के आर्थिक परिणाम तथा वर्ग-संघर्ष हैं। 'हीगेल के द्वन्द्वात्मक तर्क द्वारा पथभ्रष्ट' ये सबल सामाजिक सत्य बिलकुल पराकाष्ठा-

वादी थे। 'हर बार हम इतिहास का आधार माने जानेवाली अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त को उस सिद्धान्त के आगे आत्म-समर्पण करता हुआ पाते हैं, जो शक्ति पूजा को सीमा तक पहुँचा देता है, हमें अनुभव होता है कि हम हीगेल के वाक्य पढ़ रहे हैं। सम्भवतः इसका उपयोग केवल दृष्टान्त के रूप में होगा, किन्तु वह इसे और भी वदतर बना देता है।' बर्नस्टाइन ने जीवन को 'स्वाभाविक विकास' के रूप में देखा, जिसमें परिवर्तन और अनुकूलन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त विपरीतताओं में संघर्ष को आवश्यकता से अधिक प्रधानता देता है और पारस्परिक सहायता की उपेक्षा करता है। 'मैं यह नहीं मानता कि विप-रीतताओं में संघर्ष विकास का आधार है। सापेक्ष शक्तियों में सहयोग का भी बहुत बड़ा महत्त्व है।' द्वंद्वात्मक सिद्धान्त हिंसा या बलप्रयोग की 'रचनात्मक शक्ति' का बहुत अधिक मूल्यांकन करता है और मुक्तिवादी कार्यों पर बेमतलब जोर देता है। द्वन्द्वात्मक तर्क वस्तुतः 'अस्वाभाविक उत्क्रान्तिवाद' है। सामाजिक विकास धीरे-धीरे समाजवाद का रूप लेता है, जिसमें वर्गगत वैषम्य क्षीण हो जाते हैं, जहाँ राज्य के अन्तर्गत कार्य राज्य के विरुद्ध संघर्ष का स्थान ले लेता है।

मार्क्स की नैतिक सापेक्षता और आर्थिक अवश्यम्भावीवाद ने समाजवाद के 'जरूरी गुण' को नष्ट कर दिया था। मनुष्य के कार्य स्वतन्त्र नहीं होते (अवश्यम्भावीवाद) यह माननेवाला भौतिकवादी वास्तव में 'परमात्मा को न माननेवाला कालविनवादी' जैसा है। त्राण पाने के लिए चुने जाने की वैसी ही आवश्यकता है, 'परमात्मा द्वारा ठुकराये गये लोगों' के प्रति वैसी ही उदासीनता की जरूरत है। अहस्तक्षेप नीति में पूँजीवाद का कालविनवादी जैसा हृदय था। जब तक आचार नीति की पुनर्प्रतिष्ठा न हो, तब तक समाजवाद भी इसी प्रकार दुर्गम बना रहेगा। सामाजिक प्रगति का अर्थ वास्तव में 'इतिहास के कठोर नियमों का' आचारिक मूल तत्त्वों के द्वारा सुधार करना है। 'वैधानिक और राजनीतिक अधिरचना' का आर्थिक रचना के साथ एक-दूसरे पर प्रभाव डालनेवाला सम्बन्ध ही नहीं

हैं, बल्कि इस सम्बन्ध के क्षेत्र का विस्तार करके नैतिक तत्त्व 'रचनात्मक रूप' प्राप्त कर लेते हैं। समाजवाद के लिए कांट द्वारा प्रतिपादित नैतिकता की प्रधानता और उतना ही उनका आलोचनात्मक तरीका आवश्यक था। समाजवाद अपरिहार्य नहीं वांछनीय है, समाजवाद वैज्ञानिक नहीं आलोचनावादी है, विज्ञान 'पक्षपातरहित' होता है, वह सामाजिक आन्दोलन का मार्गदर्शक नहीं बन सकता। 'कोई भी वाद विज्ञान नहीं है', उसके उद्देश्य असाधारतः एक स्थान पर स्थिर हैं। लासेल और जौरेस की तरह बर्नस्टाइन ने समाजवाद के दार्शनिक स्रोत के लिए कोनिंग्सवर्ग के सन्त (इमैनुअल कांट) की ओर दृष्टि फेरी।

कोट्स्की तक ने अपनी पुस्तक 'दि रोड टु पावर' (अधिकारमार्ग) में कहा था कि सामाजिक लोकतंत्र को बढ़ते हुए भ्रष्टाचार का उत्तर नैतिक निष्ठा से देना चाहिए। समाजवादियों को 'सारे प्राधिकार (Authority) के विनाश के बीच अविनाशी शक्ति' बनना पड़ेगा।

बर्नस्टाइन रीख (लोकसभा) के अलोकतंत्रीय पक्षों से अनवगत नहीं थे। विशेषकर के प्रशिया में वर्गगत विशेषाधिकारों पर आधृत मताधिकार ने विधान मंडल के तीनों सदनों को सामन्तवादियों और उच्च बुर्जुआ-वर्ग की ही चीज बना रखा था। वे जानते थे कि रीख का जो स्वरूप है, उसमें संशोधनवाद की कोई भी निर्बाध या पूर्ण गुंजाइश नहीं है। यही कारण है कि उन्होंने कभी भी अपने विचारों को 'ब्रिटिश समाजवाद' कहा जाना स्वीकार नहीं किया। और न ही वे उदारवादियों के साथ गुट बनाने के लिए जौरेस के तर्कों से सहमत हो सके। भोंड़े लोकतंत्र की अवस्था में उन्होंने कठिनाई से प्राप्त सफलताओं तथा ठोस, अत्यन्त आवश्यक एवं व्यापक रूप से मान्य सुधारों को प्रश्रय देने के लिए मजदूरों के सामूहिक हड़ताल के अधिकार का समर्थन किया। इस हड़ताल का प्रयोग सदैव नैतिक उद्देश्यों के लिए आर्थिक अस्त्र के रूप में किया जाना चाहिए। उनका समाज संकीर्ण रूप से विधानवादी नहीं, अपितु विकासवादी था। वे आशा करते थे कि सामाजिक लोकतन्त्र के पथ-प्रदर्शन में विकास तथा

परिवर्तन की प्रवृत्तियों को प्रतिबन्धों और असमर्थताओं पर विजय प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। युद्ध के भेड़ियों ने उत्कण्ठापूर्ण आशाओं को पीछे ढकेल दिया।

बर्नस्टाइन को युद्ध का भय था और वे उसके विरुद्ध थे। फिर भी ४ अगस्त १९१४ को उन्होंने पूरी जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के साथ रूस के विरुद्ध युद्ध के पक्ष में मत दिया। किन्तु ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध को उन्होंने भविष्य के विरुद्ध युद्ध के रूप में देखा। जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया, उनके विचार अपने दल से दूर होते गये और अन्ततोगत्वा १९१६ में शान्ति तथा राष्ट्रों के बीच सद्भावना के प्रति उनकी निष्ठा ने उन्हे अपने दल से हटने के लिए बाध्य किया। संशोधनवाद के इस बड़े पुजारी ने अपने को सोशल डेमोक्रेसी के टाट-बाहर किये गये क्रान्तिकारियों के साथ पाया।

यदि युद्ध थोड़े समय तक ही चलता और वार्ता द्वारा शान्ति स्थापित हो जाती, तो स्थिति संशोधनवाद के लिए अनुपयुक्त न होती। किन्तु चार वर्षों के लम्बे संघर्ष ने बहुत कुछ 'स्वाभाविक विकासवाद' के आधार को ही नष्ट कर दिया। युद्ध ने समाजीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा किन्तु नैतिक एवं लोकतान्त्रिक भावनाओं को भारी आघात पहुँचाया। जैसा कि बाद में लेनिन ने कहा, इतिहास ने विचित्र खेल दिखाया—१९१८ में उसने समाजवाद के दो पृथक्-पृथक् अर्ध भागों को एक ही साथ दो चूजों (मुर्गी के बच्चों) की तरह जन्म दिया, आर्थिक अर्ध भाग का आविर्भाव जर्मनी और राजनीतिक अर्धभाग का आविर्भाव रूस में हुआ। बर्नस्टाइन ने देखा कि युद्ध के फलस्वरूप जर्मन अर्थव्यवस्था ने राज्य-पूँजीवाद का रूप ले लिया है, किन्तु लोकतान्त्रिक शक्तियाँ इतनी कमजोर हो गयी हैं कि राज्य-पूँजीवाद का सामाजिक लोकतन्त्र के रूप में शान्तिपूर्ण परिवर्तन बिल्कुल असम्भव है। अर्थव्यवस्था ने अपने ही रूप में राजनीति व्यवस्था को प्राप्त करने की कोशिश की।

युद्ध अपने बोझिल आयोजन और अभियान के साथ अधिकारवादी

प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता है और लोकतन्त्र-विरोधी शक्तियों को बढ़ाता है। युद्ध राष्ट्रीय शक्ति का उपयोग करके प्रायः प्रजापीड़न को प्रश्रय देता है। १९१४ का महायुद्ध असाधारण रूप से विनाशकारी था। युद्ध-व्यय ३७ अरब डालर हुआ, जो जर्मनी की राष्ट्रीय आय का आधा था। युद्ध में २१ लाख ४० हजार व्यक्ति मारे गये। जर्मनी युद्ध में पराजित हुआ और उसका सामाजिक ढाँचा लड़खड़ा गया। युद्ध ने जर्मन राज्य-व्यवस्था के (बर्क के शब्दों में) सुन्दर स्वरूप को नष्ट कर दिया। जर्मनी पर लादी गयी कठोर शान्ति से मुद्रास्फीति इस कदर बढ़ी कि मध्यमवर्ग की जड़ ही कट गयी। नवजात जनतन्त्र कम्युनिस्ट विद्रोहियों और प्रतिक्रियावादी क्रांतिकारियों के बीच कशमकश की वस्तु बन गया था। स्थिरीकरण की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह से पराङ्मुख हो रही थीं। निराश्रित लोग तब तक इधर-उधर चक्कर काटते रहे, जब तक उन्हें नाजी चक्रवात ने अपने में आत्मसात् नहीं कर लिया। जैसा चुनाव के मतदानों से स्पष्ट है, आर्थिक मन्दी तथा निराशा की अवस्था मे भी समाजवाद, राष्ट्रवाद और कैथोलिकवाद जैसी सुदृढ़ शक्तियाँ अकम्पित रहीं। हिटलर के साथ वही लोग गये, जो न केवल आर्थिक जीवन में निराश्रित थे, बल्कि विचार और भावना की दृष्टि से भी दिवालिया थे। बर्नस्टाइन अपनी आशारूपी फसल और आजीवन किये गये कार्य पर नाजी रूपी टिड्डियों के उतरने के छह सप्ताह पहले ही स्वर्गवासी हो चुके थे।

इटली में समाजवाद

इटालियन समाजवादी पार्टी की स्थापना १८९२ में हुई। शुरू से ही इसकी कमजोरी यह थी कि कभी भी इसकी जड़ें राष्ट्र के गौरवशाली अतीत में नहीं गयीं। ब्रिटिश समाजवाद ने न केवल राष्ट्र की स्वतंत्रता के 'नियमित उत्तराधिकार' को प्राप्त किया, अपितु लाक से मिल तक विकसित उदारवाद का भी वह गौरवशाली उत्तराधिकारी था। जर्मन समाजवाद ने राष्ट्र की सांस्कृतिक भूमि से शक्ति ली थी; यही कारण था कि बर्नस्टाइन भयानक हीगेलवादी भँवर को शान्त काण्टवादी झील में

पहुँचाने में सफल रहे। इटालियन समाजवाद ने कभी भी राष्ट्र के गौरव-मय अतीत से अपनी परम्परा नहीं जोड़ी।

इटालियन समाजवाद की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति मिखेल वकूनिन (१८१४ ७६) नामक एक रूसी तथा सुधारवाद वेनोई मैलों की देन थी। मार्क्सवादी प्रभाव ने इटालियन आत्मा के अन्तरतम को प्रभावित किया। जैसा कि वेनेदेतो क्रोचे ने कहा है: "संकल्प अपने को तब तक उतना स्वतन्त्र नहीं अनुभव करता, जब तक वह उसे परमात्मा की इच्छा या स्वाभाविक आवश्यकता के अनुरूप न समझ ले।" स्वतन्त्रता ने, आवश्यकता की मान्यता के रूप में, अस्थिर संकल्पों को स्थिर कर दिया।

जिस बौद्धिक वातावरण में इटालियन समाजवाद का जन्म हुआ, वह 'प्रत्यक्षवादी' था जब कि लोम्ब्रोजो के मतानुसार बाह्य वातावरणगत तथ्यों का नैतिक उत्तरदायित्व से कहीं अधिक महत्त्व था।

इटालियन समाजवाद ऐसे समय में सामने आया, जब स्थिति उसके अनुकूल नहीं थी। धरती के अभाव से स्वस्थ उद्योग असम्भव हो गया और लूट-खसोट (Transformismo) ने लोकतंत्रवाद के आधार को ही कमजोर कर दिया था। लोकतंत्र को रक्ताल्पता जैसी बीमारी थी और आर्थिक स्थिति स्वस्थ नहीं थी। इटली पश्चिमी यूरोप की अपेक्षा पूर्वी यूरोप के अधिक निकट था। सामाजिक लोकतंत्र को सफल बनाना था तो यह जरूरी था कि समाजवादी पार्टी कल्याण और समृद्धि की स्थिति लाती। उसकी नीति लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना और इस दिशा में विकास के लिए सक्रियता होनी चाहिए थी।

सन् १९०३ और १९११ के बीच प्रधान मंत्री ज्योलिती के काल में लोकतंत्र का थोड़ा सा उत्थान हुआ। आर्थिक विकास और सामाजिक कानूनों की व्यवस्था साथ-साथ हुई। सरकार में शामिल होने के लिए समाजवादियों द्वारा ज्योलिती का प्रस्ताव अस्वीकार किया जाना उचित था, किन्तु सामाजिक कानूनों के निर्माण और लोकतान्त्रिक परम्पराओं के प्रति उन्हें विरोध के बजाय क्रियात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए था।

आपस की फूट और सिद्धान्तों के कारण इटली के समाजवादी विधायक नीति अपनाने में असमर्थ थे। सन् १९०० में पार्टी ने यथासम्भव सुधार और अधिक-से-अधिक क्रान्ति का कार्यक्रम एक साथ स्वीकार किया। फिलियो तुराती ने उन्हें 'उद्देश्य-प्राप्ति का साधन' माना। इसने भ्रान्ति उत्पन्न की। यदि सुधार सफल होता है, तो क्रान्ति विघटनकारी बन जाती है। सुधार और सामाजिक संघर्ष का साथ सम्भव है, किन्तु सुधार और राज्य को उखाड़ फेंकना साथ-साथ नहीं चल सकते। बहुत दिनों तक न ठहरनेवाले इस प्रकार के मिले-जुले कार्य-क्रम ने स्थिति को विस्फोटक बना दिया। इटालियन समाजवाद में न तो संशोधनवाद को अपनाने की शक्ति थी और न ही क्रान्ति की, क्योंकि उसका पोषण राष्ट्र के अतीत और महान् परम्पराओं से नहीं हुआ था। इटली में कभी भी जौरेस जैसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ।

वास्तव में समाजवादी आन्दोलन ने उस अनिर्णायक युग में भी जनता की आकांक्षाओं का प्रदर्शन किया। इस भावना के सम्भवतः सर्वोत्तम प्रतीक कवि गैब्रीब द अनुन्जियों थे। उनकी कृतियों में 'स्व' को माध्यम बनाकर व्यक्त की गयी भावना इटालियन जीवनरूपी कसीदाकारी में लाल धागे जैसी है। सन् १९०० ईसवी में उन्होंने प्रतिनिधि सभा में अपना दल बदला और चरम वामपथी स्थान से घोषणा की, 'मैं जीवन की ओर अग्रसर हो रहा हूँ।' उनके कोश में 'जीवन' का अर्थ विप्लव, अनुत्तरदायित्व और स्वेच्छाचार था।

युद्धकाल में और उसके बाद कवि गैब्रीब के कार्य बड़े ही उत्तर-दायित्वहीन थे। उनके कार्यों के रंग-बिरंगेपन ने जनता के उद्वेगों को बढ़ाया और उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णयों को असम्भव कर दिया। समाज-वादी पार्टी के भीतर भी बहुतेरे ऐसे लोग थे, जो विचार से 'सौन्दर्योपासक प्रतिनिधि' के सहयोगी थे। फ्यूम और उपहासास्पद शासन के विरुद्ध उनके अभियान, उनके तीव्र राष्ट्रवाद और मास्को के साथ उनकी साँठ-गाँठ में केवल एक ही आन्तरिक स्थिरता थी—विधि-सम्मत और युक्ति-

पूर्ण से घृणा। युद्ध में कूदकर इटली अपने अधिकार के लिए जोर देने लगा। गड़बड़ी, हिंसा, आधिपत्य के लिए उत्तरदायित्वरहित भावना और विचाररहित, मन्त्रणारहित, एवं विधिरहित कार्यों की प्रधानता हो गयी।

युद्ध के बाद समाजवादियों को शक्ति-संचय और निर्माण का अच्छा अवसर मिला। पार्टी को ४० प्रतिशत मत मिले और संसद में उसकी शक्ति किसी भी दल से अधिक अर्थात् १५६ थी। ६९ प्रान्तीय सरकारों में २६ तथा लगभग ४ हजार क्षेत्रीय प्रशासनों में २१६२ पर उसका अधिकार था। शक्तिशाली ट्रेड-यूनियन आन्दोलन ने पार्टी को बल प्रदान किया। सीमा के उस पार युद्ध से तहस-नहस आस्ट्रिया में सोशल डेमोक्रेट क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी के साथ मिली-जुली सरकार बनाकर अपने देश में शान्ति एवं स्थिरता स्थापित कर रहे थे।

इटली में भी इस प्रकार के सहयोग के लिए उपयुक्त स्थिति थी। डान लुइली स्तर्जो की पापुलर पार्टी 'कुछ भी स्वीकार करने के बन्धन से परे' (Aconfessional) क्रिश्चियन सोशलिस्ट पार्टी थी। संसद में इसके एक सौ प्रतिनिधि थे और इसके अनुयायियों में सामाजिक आदर्शवाद की भावना अब भी प्रबल थी। इटली के लोगों को आस्ट्रिया के अनुभव से शिक्षा लेनी चाहिए थी। कैथोलिक देशों में जहाँ किसानों की प्रधानता है, हमेशा कार्ल लूजर्स (१८४४–१९१०) जैसे नेताओं का आविर्भाव होगा। अच्छा होगा कि उनके साथ गतिरोध उत्पन्न न करके उन्हें अपने साथ रखा जाय।

इटालियन समाजवाद सदैव देश के कैथोलिकवाद से दूर भागता रहा। आम जनता तथा श्रमजीवी वर्ग की धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुँचाने की अभावात्मक प्रवृत्ति निरर्थक थी। चर्च को अकेले छोड़ दिया जा सकता था, किन्तु कैथोलिकवाद के साथ भावनात्मक और बौद्धिक सहयोग आवश्यक था।

इटालियन समाजवादी पार्टी के जन्म के अवसर पर पोप लियो १३वें ने धार्मिक आदेश (Rerum Novarum) जारी किया। यद्यपि

इसमें समाजवाद की आलोचना की गयी थी, किन्तु साथ-ही-साथ पूँजीवाद की भी आलोचना थी। इसकी मूल आपत्ति वस्तुतः राज्यवाद तथा केन्द्रीकरण के विरुद्ध थी। इसमें वितरण व्यवस्था को उपयोगी वनाने पर जोर दिया गया था। कृषक-प्रधान देश में यह अच्छा श्रीगणेश हो सकता था। वितरण व्यवस्था की उपयोगिता से भूस्वामियों को भी प्रभावित किया जा सकता था।

पापुलर पार्टी में आदिम ईसाई-धर्म के ऐसे तत्त्व पर्याप्त रूप में थे, जिनका कल्पनाशील समाजवादी आन्दोलन से मेल हो सकता था। डान रतजों के सिद्धान्त का मूल आधार क्षेत्रीयतावाद था। इससे समाजवादियों की इच्छा के राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और आर्थिक विकेन्द्रीकरण में किसी प्रकार का संघर्ष न होता। सिद्धान्त रूप में सोवियतों को ये दोनों गुण मिले। इटली में, जहाँ तरह-तरह के नगर-राज्यों की ऐतिहासिक परम्परा रही है, क्षेत्रीयतावाद बहुत आवश्यक था और इसकी चरितार्थता का ठोस प्रभाव पड़ता। एक महान् इटालियन सेण्ट टामस एक्वीनस (१२२५-७४) ने 'अरस्तू की राजनीति' की टीका में एक ऐसा सत्य कहा है, जो उनके महान् देश में निरूपित हुआ था : "नगरों की भिन्नता का कारण लक्ष्यों की भिन्नता है, या यों कहा जाय कि एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मानव सामुदायिक जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों की रचना करता है और उसके फलस्वरूप विभिन्न नगरों का आविर्भाव होता है।" किसी सामान्य ढाँचे के अन्तर्गत इस प्रकार की भिन्नता ही स्वतंत्रता को तत्त्वपूर्ण वनाती है।

किन्तु मार्क्सवादी कट्टरवाद और रोमन कट्टरवाद इस प्रकार की वात सोच ही नहीं सकते थे, हालाँकि इस प्रकार का मार्ग समाजवाद को रोमन रूप प्रदान करता।

सितम्बर १९२० में इटालियन समाजवाद अपनी क्रान्ति के सर्वोच्च विन्दु पर पहुँच गया। धातु उद्योग के ३५ हजार तथा इंजीनियरिंग संस्थानों के तीन लाख श्रमिकों ने देश के सर्वाधिक विकसित उद्योग

समूह को अपने कब्जे में कर लिया। क्रान्ति समाजवादियों के दरवाजे पर थी, किन्तु समाजवादी 'पेनेलोप की तरह' जाल बुनने में व्यस्त थे। सुधारवादियों ने संसद में जो कुछ प्राप्त किया, क्रान्तिकारियों ने बाहर उसे मटियामेट कर दिया और क्रान्तिकारियों ने बाहर जो सफलता प्राप्त की, उसे सुधारवादियों ने संसद में समाप्त कर दिया। रूसी क्रान्ति से चकाचौंध होकर इटली के समाजवादियों ने जो कुछ किया, वह यह कि उन्होंने राष्ट्र तथा श्रमजीवियों का मनोबल तोड़ दिया, राजनीतिक दुस्साहसिकों के मुकाबले अपनी ही शक्ति कमजोर कर ली, पार्टी के बल को ही छिन्न-भिन्न कर दिया और उसकी एकता समाप्त कर दी। क्रान्ति से उत्पन्न अव्यवस्था और तहस-नहस हुई पार्टी के ऊपर पैर रखकर मुसोलिनी सत्तारूढ़ हुआ।

बीस वर्ष का फासिस्टवाद, दमन और देश-निकाला इटालियन समाजवाद को मूलतः परिवर्तित नहीं कर सका है। यह पुनः स्थिरतावादी प्रवृत्ति या विप्लवकारी रूप लेना स्वीकार नहीं कर रहा है। इसमें फूट पड़ी हुई है। पीट्रो नेनी रूस से प्रेरणा लेते हैं, जिसेप सरगत ब्रिटेन की ओर देखते हैं और इटली की अपनी राष्ट्रीय प्रवृत्ति का कोई उपयोग नहीं हो रहा है।*

शिल्पसंघ समाज-वाद

एक आशाजनक विकासक्रम, जिसमें जीवन और सौन्दर्य की लालसा थी, शिल्पसंघ समाजवाद (Guild Socialism) था। यह वैसे ही था, जैसे किसी पुराने खनिज पदार्थ के लिए नयी तह की खुदाई। शिल्पसंघ समाजवाद का जन्म पूँजीवाद और आगे आनेवाले राष्ट्रीकरण के विरुद्ध हुआ। रोग और चिकित्सा दोनों में आदमी खोया रह जाता है।

बाहुल्यता के पीछे दौड़ और लाभ की तृष्णा ने आदमी को वस्तु के सामने गौण बना दिया। यन्त्र ने कर्मचारी को निगल लिया। मुक्त आत्माएँ बड़ी लालसा से उन पुराने दिनों की बात सोचती थीं, जब एक महान्

* डब्ल्यू० हिल्टन : दि इटालियन लेफ्ट।

महिला समाजवादी के प्रभावशाली शब्दों में : 'प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री अपनी-अपनी तरह की कलाकार थी। प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाली और बहुत मामूली चीजों के बनाने में भी बड़ी सतर्कता और कल्पनाशक्ति रहती थी। कला जीवन का आवश्यक अंग और इससे भी अधिक रोटी, प्रेम और आवास की तरह एक आवश्यकता थी।'* कार्य के प्रति न केवल सौंदर्य की भावना का लोप हो गया, अपितु उत्तरदायित्व एवं प्रेरणा शक्ति से रहित औद्योगिक श्रमिक अपने को रचना में अनुभव होनेवाले उत्साह एवं उमंग से वंचित समझने लगा।

जॉन रस्किन (१८१९-१९००), लुडलो (१८२१-९१) विलियम मौरिस (१८३४-९६) तथा अन्य निकटस्थ-समाजवादियों (Near Socialism) ने उपयोगिता के लिए सौन्दर्य की हत्या, लाभ के लिए कर्म-कौशल की प्रवृत्ति की हत्या का विरोध किया था। वे आगे चलकर नागरिकों (उपभोक्ताओं) के अधिकारों और आवश्यकताओं का अतिक्रमण होने तथा उत्पादन करनेवाले मानव की उपेक्षा की बात सोचकर चिन्तित थे। राष्ट्रीकरण कोई समाधान नहीं था। जैसा कि अल्फ्रेड मार्शल (१८४२-१९२४) ने कहा था : "ऐसे मालिक के नियन्त्रण से मुक्त होकर, जो शायद सहानुभूति रखता हो, यदि डाकिया ऐसे अधिकारियों के मातहत हो जाय, जो ऊपरी आदेश मानने के लिए ही बाध्य हों और सहानुभूति न रख सकें, तो डाकिया स्वतंत्र नहीं हो जाता।"

शिल्प-संघियों ने औद्योगिक समाज को वृत्ति के आधार पर पुनर्गठित करने की माँग की। उपभोक्ता-नागरिक के रूप में व्यक्ति दूसरों जैसा ही है, किन्तु उत्पादक श्रमिक के रूप में वह विलक्षण होता है। अपनी वृत्ति के द्वारा उसे समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। औद्योगिक समाज में स्वामित्व और उपयोगिता का विलगाव वृत्ति को पुनर्गठन का आधार बनाकर ही समाप्त किया जा सकता है। "आधुनिक सम्पत्ति का अधिकांश उद्योग के उत्पादन के आधार पर गिरवी रहता है

* कमला देवी : सोशलिज्म एंड सोसाइटी, पृष्ठ १०७।

और इस उत्पादन का मूल्यांकन साधारण ढंग पर किया जाता है, क्योंकि उत्पादक किसी प्रकार का रचनात्मक या प्रत्यक्ष कार्य करने से मुक्त हो जाता है।" इस प्रकार की सम्पत्ति को प्रोफेसर टावनी ने अर्जनात्मक (Acquisitive) सम्पत्ति कहा है। यह शोषण तथा अधिकार-लिप्सा को प्रश्रय देती है। उन्होंने कहा है : "अपने श्रम से मानव जो सम्पत्ति अर्जित करता है, वह 'बालू को सोने में परिवर्तित करने के समान' है। किन्तु जो सम्पत्ति दूसरे के श्रम से प्राप्त होती है, वह 'सोने को बालू बनाने' जैसी है।" अर्जनात्मक समाज कभी भी मुक्त समाज नहीं होता।

मानव का कोई स्वाभाविक अधिकार नहीं होता, उसे केवल उसकी कर्तव्यपूर्ति पर आधृत वस्तुनिष्ठ अधिकार प्राप्त होता है। यह वृत्ति-मूलक (Functional) सिद्धान्त स्पेनिश लेखक रमीरो द मैजतू ने दिया और एक दूसरे स्पैनिश सेम्प्रम वाई० गुरिया ने उसे 'वृत्तिमूलक स्वामित्व सिद्धान्त' (A theory of functional proprietor-ship) के रूप में विकसित किया। किसीके श्रम का उत्पादन ही धन नहीं है, बल्कि श्रम की विधि भी धन है। ऐसा गुण—दक्षता और क्षमता का गुण—व्यक्ति में मौलिक प्रवृत्ति, कार्य को अच्छी तरह सम्पादित करने की इच्छा और श्रम की प्रतिष्ठा की भावना जागरित करता है। समाज के पुनर्गठन और प्रोफेसर टावनी के शब्दों में 'वृत्तिमूलक मत' (Functional Vote) की पुनर्प्रतिष्ठा ने ही शिल्पसंघ के विचार को जन्म दिया या यों कहा जाय कि पुनर्जीवन प्रदान किया।

शिल्पसंघ समाजवाद प्रेरणा के लिए मध्यकालीन शिल्पसंघों का बहुत ऋणी है। जी० डी० एच० कोल ने लिखा है : "यदि मध्यकालीन शिल्पसंघ व्यवस्था से हमें शिक्षा मिली, तो वह तोते के समान दोहरानेवाली शिक्षा नहीं थी, बल्कि ऐसी प्रेरणाप्रद शिक्षा थी, जिससे हम भारी पैमाने पर उत्पादन तथा विश्व हाट (World market) के आधार पर ऐसे औद्योगिक संगठन का निर्माण कर सकते हैं, जो मनुष्य की उच्च भावनाओं को प्रभावित करे और सामुदायिक सेवा की परम्परा को

विकसित करने में समर्थ हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम जब इस स्थिति तक पहुँच जायँगे, तब उत्पादक और उपभोक्ता दोनों समान रूप से आज की घटिया चीजों की अपेक्षा उत्तम कोटि की वस्तुओं की माँग करेंगे, इससे कौशल का नया स्तर स्थापित होगा और हम उत्पादन के बहुत-से क्षेत्रों में लघु स्तर पर उत्पादन की ओर लौट आयेंगे। किन्तु यदि यह अवस्था आती है, तो स्वतन्त्र समाज में स्वतन्त्र व्यक्ति की इच्छा से ही आयेगी।"

स्वतंत्र समाज में ऐसी स्वतंत्रता शिल्प-संघ के आधार पर पुनर्गठन की पूर्व भावना लेकर चलती है। शिल्प संघ की व्याख्या "एक दूसरे पर निर्भर व्यक्तियों का, समाज के कार्यविशेष के सम्पादन के लिए संगठित स्वायत्त शासित संघ" (ए० आर० ओरेज) की गयी है। प्रत्येक शिल्प-संघ में मैनेजर से लेकर मजदूर तक ऐसे सभी लोगों को रखना था जो एक निर्दिष्ट उद्योग, व्यापार और व्यवसाय में काम करते हों और हर एक संघ को अपने कार्य-विशेष के क्षेत्र में एकाधिकार मिलना था।

सन् १९०६ के शिल्पसंघ पुनर्प्रतिष्ठा आन्दोलन ने ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दिया कि १९१५ में नेशनल गिल्ड्स लीग (शिल्पसंघों का राष्ट्रीय महा-संघ) की स्थापना हुई। इस प्रकार के विस्तार-क्रम में इस मूल कल्पना को भुला दिया गया कि किसी शिल्पसंघ को व्यवसाय विशेष और व्यव-साय विशेष में काम करनेवालों के समुदाय को साथ लेकर बढ़ना है। ला तूर दु पिन (La Tour du Pin) के शब्दों में 'व्यवसाय में लगी सम्पत्ति' का तकाजा है कि छोटे पैमाने पर उत्पादन हो, ताकि श्रमजीवी सारी विधियों को समझ सके और एक साथ काम करनेवालों में व्यक्ति-गत सम्बन्ध तथा सन्तुलित गति कायम रहे। क्षमता और उत्पादन के दावों को मानव-प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता के आगे गौण बन जाना है। किसी भी शिल्पसंघ का अपने विकास के लिए अपने आचारों का पालन करना आवश्यक है। इसे ऊपर से नहीं लादा जा सकता। इसकी प्रगति श्रमजीवी के काम करने के अधिकार, सहयोगात्मक प्रयास से विकास

और सामूहिक रूप से सुखपूर्वक जीवन से होती है। इन बातों की उपेक्षा होने का फल यह हुआ कि बहुत-से शिल्पसंघियों ने शिल्पसंघ का जो रूप देखा, उसे ही वास्तविक रूप मान लिया। रूस में उद्योगों का संगठन राष्ट्रीय वृत्तिमूलक संस्थानों के रूप में हुआ था, जो उत्पादन और मूल्य-नियंत्रण करते थे। ये विशाल उद्योग शिल्पसंघ नहीं थे, क्योंकि इनमें श्रमजीवी-उत्पादक को अपना काम बदलने, शिल्पसंघ के विकास की योजना बनाने तथा उद्योग का विकास करने की स्वतंत्रता नहीं थी। इटली के निगमों (Corporations) की तरह रूसी ट्रस्ट राज्य द्वारा ऊपर से लादे गये थे। 'बिना स्वतंत्रता के कोई शिल्पसंघ नहीं और बिना साहचर्य के कोई स्वतंत्रता नहीं' इस सिद्धान्त की उपेक्षा के फल-स्वरूप बहुत-से शिल्पसंघी कम्युनिज्म के प्रवाह में बह गये।

संघ समाजवाद (Syndicalism)* और उसके शक्तिवादी दर्शन के प्रति शिल्पसंघियों के घातक अनुराग ने ही शिल्पसंघरूपी धारा को कम्युनिस्ट जलप्लावन में बदल दिया। शिल्पसंघ विचार के रूप में इस सत्य की खूबी को स्पष्ट नहीं कर सका कि अपने विकास के लिए उसे स्थिरता चाहिए न कि सतत अशान्ति और गड़बड़ी। श्रमसंघीय समाज की वैधानिक और वित्तीय बारीकियों की उपेक्षा कर दी गयी। यह उपेक्षा सम्भवतः फेबियन-निरर्थकता तथा शुद्धवादिता की झक के कारण की गयी। किन्तु श्रमसंघीय विचार में निहित विकास-धारणा की भी इसी प्रकार उपेक्षा की गयी। शक्ति-प्राप्ति का स्वप्न श्रमसंघियों को मास्को का यात्री ही बना सकता था।

श्रमसंघीय आन्दोलन का एक भाग वितरणवाद के भँवर में आत्म-सात् हो गया। यह सत्य है कि मानव चोरों के बीच पड़ गया और अपनी सम्पत्ति गँवा बैठा, किन्तु पेचीदे औद्योगिक समाज में हर व्यक्ति को

---

*. वह श्रमिक आन्दोलन जो ट्रेड-यूनियनों को ही सामाजिक क्रान्ति तथा भावी समाज का आधार मानता है।

किस प्रकार स्वामित्व प्राप्त श्रमजीवी बनाया जाय, इस समस्या का समुचित समाधान वितरणवादियों ने भी नहीं किया।

सोशल कैथोलिकों की कल्पना थी कि सुयोग्य श्रमजीवी का 'अपने कार्य पर स्वामित्व' (Ownership of his job) हो। वितरणवाद तथा विकेन्द्रीकरण ने प्रभुसत्तापुंज (Cluster of sovereignties) दर्शक की सृष्टि की। ला तूर दु पिन (१८३४-१९२४) और अल्बर्ट द मन (१८४०-१९१४) ने 'औद्योगिक परिवार (क्षेत्र) के पुनर्निर्माण' का प्रयास किया। समैक्यवाद के व्याख्याकार एमिल दुरखिम (१८५८-१९१७) व्यावसायिक संघों के माध्यम से विकेन्द्रीकरण करने के पक्ष में थे। क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण का महत्त्व उन्होंने गौण माना। ल्योन दुगुई ने इस विचारधारा में बहुलवाद (Pluralism) का सिद्धान्त जोड़ा : "चूँकि मानव स्वभावतः सामाजिक प्राणी है और केवल समाज में ही कार्य कर सकता है, इसलिए वह जितने ही अधिक समुदायों से सम्बद्ध रहेगा, उसके कार्य उतने ही अच्छे और अधिक उपयोगी होंगे।"

शिल्पसंघीय समाजवाद का सिद्धान्त विचारोत्तेजक रहा है। श्रमजीवियों का नियन्त्रण और वृत्तिमूलक विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त समाजवाद में बराबर विद्यमान रहा है। किन्तु यह ठोस नीति से अधिक आकर्षक लक्ष्य के रूप में था। राष्ट्रीकरण ने ब्रिटेन में काफी प्रगति की है, सार्वजनिक और स्वायत्त दोनों रूपों में औद्योगिक निगमों का उदय हुआ है, किन्तु मजदूरों के नियन्त्रण की अभिलाषा पहले की ही तरह अब भी बहुत दूर की वस्तु बनी हुई है। इसका कारण शायद शिल्पसंघियों की सरलता है। उन्होंने कभी भी दो मुख्य समस्याओं, यथा उद्योगों में नवीनीकरण तथा स्थिरता की प्रवृत्तियों में संतुलन और समग्र रूप में व्यवसाय के साथ वृत्ति के सामंजस्य का समाधान नहीं किया और न उन्हें बृहत् सामाजिक ढाँचे में उतारने की कोशिश की।

द्वितीय इण्टरनेशनल के इतिहास की समीक्षा करते हुए जेम्स जोल ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं : "यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है

समाजवाद को पीछे मोड़नेवाली प्रवृत्ति

कि द्वितीय इण्टरनेशनल में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों पर जर्मन समाजवाद का प्रभाव बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था। उदाहरण के लिए उसने विशेष रूप से फ्रांसीसी समाजवाद का विकास अवरुद्ध कर दिया (उसके अर्थात् फ्रांसीसी समाजवाद के कई सर्वाधिक योग्य व्यक्ति तीसरे रिपब्लिक में पद से कई वर्षों तक अलग रखे गये) और ऐसी कठोर मार्क्सवादी विचारधारा को प्रश्रय दिया, जिसके चक्र में फ्रांसीसी समाजवादी पार्टी का एक मुख्य अंग आज तक पड़ा हुआ है। जो लोग राजनीतिक प्रश्नों को व्यक्तिगत परिधि में देखना चाहते हैं, उनके लिए जौरेस और बेबेल समाजवाद के परस्पर विरोधी रूपों के ही प्रधान नायक नहीं, बल्कि राजनीति को दो अलग-अलग ढंगों से देखनेवाले प्रधान नायक कहे जा सकते हैं।"*

यह भिन्नता द्वितीय इण्टरनेशनल के जन्म-काल में ही सामने आ गयी। १८८९ में पेरिस में जो समाजवादी कांग्रेस हुई, वह शिविरों में बँट गयी और परस्पर-विरोधी सम्मेलन हुए। यह सब "स्पष्टरूप से कतिपय प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों के प्रश्न को लेकर हुआ, लेकिन वास्तव में देखा जाय, तो इसके पीछे वह प्रश्न था, जो आज भी सभी देशों में समाजवादियों को विभाजित किये हुए है। वह प्रश्न था, समाजवादी दूसरे दलों से सहयोग करें या अकेले रहें? कट्टर मार्क्सवादी अलग रहने के पक्ष में थे, अवसरवादी या सम्भावनावादी दूसरे दलों के साथ सहयोग के समर्थक थे।"†

इंग्लैण्ड पर इस अन्तर का प्रभाव नगण्य था। विश्व के इस वर्कशाप ने औद्योगिक क्रान्ति में अगुआई की थी। आर्थिक विकास और राजनीतिक स्वतन्त्रता ने संशोधनवाद को लेकर पार्टी के विचार का मौन

---

* जेम्स जोल : दि सेकंड इण्टरनेशनल १८८९-१९१४, पृष्ठ ३।

† सैमुअल पी० ओर्थ : सोशलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी इन यूरोप—१९१३, पृष्ठ ६९।

प्रधान हेतु या आधार वाक्य (Premise) बना दिया। जे० ए० हॉब्सन ने कहा था : "समाजवाद को सुरक्षित करने का तरीका यह है कि लोकतन्त्र को वास्तविक बनाया जाय।" इंग्लैण्ड ने समाजवाद को सुरक्षित करने का मार्ग दिखाया, क्योंकि १९ वीं शताब्दी के अन्त तक लोकतन्त्र वास्तविक बन चुका था। समाजवादियों की जिस पृथकता को जर्मनी में वॉन वोलमर ने निन्दा के साथ, किन्तु प्रभावहीन शब्दों में 'निष्फलता और निराशा' की नीति कहा था, उस 'भव्य पृथकता' का विवाद इंग्लैण्ड में कभी भी सार्थक नहीं बन सका। १९१० में आई० एल० पी० के सम्मेलन में एक प्रस्ताव आया कि पार्टी के सदस्य 'लिबरल और टोरी पूँजीपतियों तथा जमींदारों के साथ एक मंच पर उपस्थित न हों' किन्तु यह प्रस्ताव भारी बहुमत से अस्वीकार कर दिया गया। यह अंग्रेजों की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी।

जर्मनी में, जहाँ ट्रेड-यूनियनों की सदस्य संख्या २ लाख ६९ हजार (१८९५) से बढ़कर ३० लाख (१९०९) हो गयी, मजदूरों के शानदार संगठन और आर्थिक विकास के बावजूद उत्तरदायी सरकार के अभाव से संशोधनवाद में सक्रियता आयी।

फ्रान्स में तीसरे रिपब्लिक ने संसदीय कार्यों के लिए व्यापक अवसर प्रदान किये।

फ्रान्स की औद्योगिक प्रगति मन्द थी। १९११ में ट्रेड-यूनियनों के केवल १० लाख सदस्य थे, सामाजिक कानूनों की दृष्टि से वह जर्मनी और इंग्लैण्ड से पीछे था, किन्तु व्यापक मताधिकार पर आधृत लोकतंत्रीय व्यवस्था ने सुधारकों को कार्यक्षेत्र प्रदान किया। लोकतांत्रिक रिपब्लिक की रक्षा अनेक समाजवादियों की प्रबल उत्कण्ठा बन गयी।

जर्मनी में शुरू से ही रेखाएँ बिल्कुल स्पष्ट खींच दी गयी थीं। जर्मन समाजवादियों का कट्टरवादी अकेलापन जिद से भरा हुआ था। सरकार द्वारा उत्पीड़ित किये जाने के समय में उन्हें अकेलापन बहाने के रूप में मिल गया। समाजवाजी विरोधी कानून समाप्त किये जाने के बाद ही

वॉन वोलमर ने अपने साथियों के समक्ष कहा कि दक्षिणी जर्मनी के समाजवादी किसीसे भी, जो उन्हें थोड़ा भी स्थान दे, सहयोग करने के लिए तैयार हैं। इसके उत्तर में वेवेल ने एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें इस बात की पुष्टि की गयी थी कि 'राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की प्रधान आवश्यकता क्षणभर का कार्य' नहीं हो सकती, अपितु क्रमिक विकास से ही उसे प्राप्त करना सम्भव है। विकास के काल में सोशल डेमोक्रेटों को 'सत्तारूढ़ वर्गों से रियायतें' पाने की दृष्टि से प्रयास नहीं करना चाहिए, वल्कि 'पार्टी के चरम एवं पूर्ण लक्ष्य को सामने रखना चाहिए।' वेवेल के सिद्धान्त में चरम लक्ष्य चरम अधिकार से जुड़ा हुआ था। लक्ष्य और अधिकार दोनों को अवसर की प्रतीक्षा और उस अवसर के लिए कार्य करके, प्राप्त किया जा सकता था।

सन् १९०९ में सत्तारूढ़ वुलोव गुट में फूट वढ़ गयी। अनुदार जर्मींदारों ने कर का कोई भी भार वहन करने से इनकार कर दिया और अपने इस कार्य द्वारा समाज के दूसरे तत्त्वों को एक साथ ला विठाया। विभिन्न व्यापारिक तथा सहयोगी हितों ने अनुदार भूस्वामियों के गुट (Bund-der Landwirte) तथा स्वार्थपूर्ण कर नीति के विरुद्ध अपने को एक अलग गुट हान्सवण्ड (Hansabund) में एकतावद्ध किया। थोड़े समय के लिए हान्सवण्ड और सोशल डेमोक्रेटों के एक साथ काम करने की आशा दिखाई पड़ी, 'वेवेल से वासरमैन' गुट के विचार का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु लोकतांत्रिक सरकार के अभाव तथा वर्ग के आधार पर विभाजन ने, जिस पर राजनीतिक जीवन आधृत था, इस विचार की सफलता को असम्भव वना दिया।

इन्हीं सव कारणों से जर्मन समाजवादियों में संशोधनवादी संकट ने सैद्धान्तिक रूप ग्रहण किया। फ्रांस में गेज्दे ने कट्टर सिद्धान्तवाद का पक्ष लिया, मिलराँ तथा दूसरे स्वतन्त्र समाजवादियों ने अवसरवादी नीति अपनायी, जव कि जौरेस का अपना एक अलग विशिष्ट विचार था।

सन् १८९७ में फ्रान्स ड्रेफस काण्ड से हिल उठा। रिपब्लिक के लिए

भारी चुनौती और खतरा था। जौरेस ने ड्रेफस के पक्ष में आन्दोलन करनेवालों का साथ दिया। उन्होंने ड्रेफस के विषय में लिखा : "वह अब बुर्जुआ-वर्ग का अधिकारी नहीं रह गया है। उसे दुर्भाग्य की ज्याद-तियों ने सभी वर्गीय विशिष्टताओं से रहित कर दिया है। वह और कुछ नहीं, केवल घोर विपत्ति और निराशा की शिकार मानव-जाति का प्रतीक है। ड्रेफस को बचाने के लिए जौरेस ने ड्रेफस-समर्थक सभी शक्तियों का साथ दिया, चाहे वे शक्तियाँ समाजवादी रही हों, चाहे गैर-समाजवादी।" संसद में 'गुट' के कर्णधार के रूप में जौरेस प्रथम फ्रान्सीसी लोकतन्त्र के प्रथम वास्तविक प्रधान बन गये। राज्य से चर्च के सम्बन्ध की समाप्ति और उसके साथ शिक्षा-व्यवस्था में धर्म-निरपेक्षता तथा सेना के पुनर्गठन के रूप में दो बड़े सुधार किये गये।*

वह अवसर संसद में समाजवाद के सम्बन्ध में क्लीमेन्शो के साथ बहस का था, जब जौरेस को उनके कार्यक्रम के सम्बन्ध में बताया गया : "क्या भयानक रूप से बुर्जुआ कार्यक्रम है! अपने कार्यक्रम की व्याख्या करने के बाद मोशिये जौरेस ने मुझे अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करने की चुनौती दी है।" उत्तर देने के लोभ को संयत रखने में मुझे बड़ी कठिनाई अनुभव हो रही है : 'आप मेरा कार्यक्रम अच्छी तरह जानते हैं। वह आपकी जेब में है। उसे आप मेरे पास से चुरा ले गये हैं।' सभी समाज-वादियों का कार्यक्रम निश्चित रूप से विकासवादी था, किन्तु भावना प्रायः क्रान्तिकारी रहती थी।

जौरेस का सम्भावनावादियों से मतभेद था। सिरैन्ते की आलो-चना करते हुए उन्होंने कहा—'सिरैन्ते का यह खयाल गलत है कि समाज के विरोध भाव को एक प्रकार से स्वतः समाप्त करने के लिए लोक-तन्त्र का सिद्धान्त निरूपित कर देना ही पर्याप्त है। राजनीतिक लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा और व्यापक मताधिकार से वर्गों का विरोधभाव किसी प्रकार

---

* सैमुअल पी० ओर्थ : वही, पृष्ठ ९१।

समाप्त नहीं होता। जिस प्रकार गेज्दे वर्ग-संघर्ष को लोकतंत्र से अलग विशिष्ट स्थिति में रखकर गलती करते हैं, उसी प्रकार सिरैन्ते भी बिना यह समझे हुए कि वर्गों का विरोधभाव लोकतंत्र में हेर-फेर और अशुद्धता ला सकता है, उसे विफल कर सकता है, लोकतंत्र को विशिष्ट स्थिति में रखकर गल्ती करते हैं।" जौरेस के सामने समस्या यह थी कि लोकतंत्र में तब तक समाजवाद अपने पैर जमाता जाय, जब तक 'अभिजात-वर्ग और बुर्जुवा-वर्ग द्वारा नियंत्रित राज्य के स्थान पर सर्वहारा और समाजवादी राज्य स्थापित न हो जाय।' उन्होंने कहा : "यह कार्य ऐसी नीति अपनाकर पूरा किया जा सकता है, जिसमें सभी लोकतंत्रवादियों से सहयोग हो, फिर भी अपने को उनसे अलग बनाये रखा जाय।"

मिलरां का अलग ही रास्ता था। १८९८ में रेने वाल्डेक रूसो ने, जिन्होंने इसके पहले फ्रान्सीसी मजदूरों को ट्रेड-यूनियन के अधिकार दिये थे, सरकार बनायी और अलेक्जेण्डर मिलरां को उसमें शामिल होने के लिए आमंत्रित किया। उनकी नियुक्ति तत्काल फ्रान्सीसी समाजवादी आन्दोलन के भीतर फिर से संघर्ष का मूल बन गयी और आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के फलस्वरूप एक पीढ़ी तक विश्व में समाजवादियों की दाँवघात की नीति को प्रभावित किया। ड्रेफस कांड ने यदि किसी खास एवं तात्कालिक लक्ष्य के लिए दूसरे दलों से सहयोग के प्रश्न पर विवाद को जन्म दिया, तो मिलारां के मामले में और भी उग्र विवाद हुए।

१८९८ और १९०० के बीच इटली में वैधानिक सरकार खतरे में थी। जनरल पेलों की सरकार ने फरवरी १८९८ में समाजवादियों के विरुद्ध कानून बनाना चाहा। लेकिन लिबरल और रेडीकल सदस्यों ने वैसा नहीं होने दिया जैसा १८७९ में जर्मनी में हुआ; उन्होंने इससे खतरा अनुभव किया और १९०० में नयी लिबरल सरकार को सत्तारूढ़ किया। फिलिपो और तुराती ने लिबरल और रेडीकल पार्टियों से सहयोग तथा चुनाव-समझौते का प्रश्न उठाया, जिसका फेरी के नेतृत्व में मार्क्सवादियों ने कड़ा विरोध किया। विवाद १९१२ तक चलता रहा, जब बिसोलाती

और बौनोमी ने अलग होकर सुधारवादी पार्टी बनायी, जो विफल रही।

संशोधनवाद के प्रश्न पर विचार करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस की बैठक सितम्बर १९०० में पेरिस में हुई।

जर्मनी तथा जिन देशों में मजबूत सुधारवादी पक्ष था, उन देशों के मार्क्सवादियों (जैसे फ्रान्स के गेज्दे और इटली के फेरी) ने माँग की कि बुर्जुआ सरकारों में शामिल होने या गैर-समाजवादी पार्टियों से सहयोग करने के लिए साफ-साफ शब्दों में निषेध किया जाय। फिर भी बहुत-से लोग ऐसे थे, जो नरम नीति चाहते थे। उदाहरण के लिए बेलजियम के वाण्डरवेल्डे ने कहा : "सरकार में शामिल होना उस स्थिति में उचित है, जब स्वतंत्रता के लिए खतरा हो, जैसे इटली में था। वहाँ भी सरकार में शामिल होना उचित है, जहाँ मानव के अधिकारों की रक्षा का प्रश्न हो, जैसे हाल में ही फ्रान्स में था। बेलजियम में व्यापक मताधिकार प्राप्त करने के लिए भी अन्ततः इसका औचित्य है।"

मिलरां ने जो कुछ किया, उसके लिए वाण्डरवेल्डे ने उनकी उतनी अधिक आलोचना नहीं कि जितनी इस बात के लिए कि उन्होंने अपने कार्यों के सम्बन्ध में दल से परामर्श नहीं किया।

सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसमें कहा गया था कि किसी बुर्जुआ सरकार में समाजवादी के पद स्वीकार करने को "राजनीतिक सत्ता जीतने का सामान्य प्रारम्भ नहीं माना जा सकता, बल्कि ऐसा समझना चाहिए कि संक्रमणकालिक और असाधारण स्थितियों के तकाजे को देखते हुए यही उपयुक्त है।"

कांग्रेस ने १९०४ में बहस प्रारम्भ की। चार दिन की बहस के बाद, जो बुद्धि और विचार का अद्भुत संघर्ष था, संशोधनवाद का पक्ष लेनेवाला प्रस्ताव १९ के विरुद्ध २१ मतों से अस्वीकृत कर दिया गया और उसके बाद जर्मन पार्टी के रुख का समर्थन करनेवाला प्रस्ताव, जिस पर १२ सदस्यों ने मत नहीं दिया, ४ के मुकाबले २२ मतों से स्वीकार हो गया। "यह महत्त्वपूर्ण बात है कि ड्रेसडेन प्रस्ताव का विरोध करनेवाले

या तत्सम्बन्धी मतदान में भाग न लेनेवाले प्रतिनिधि इंग्लैण्ड, फ्रान्स, स्कैण्डनेविया, वेलजियम, स्विट्जरलैण्ड जैसे उन देशों के थे, जहाँ उदार संसदीय परम्पराएँ सबसे सुदृढ़ थीं। इसके विपरीत उसका समर्थन करने-वालों में इटालियनों को छोड़कर शेष सभी प्रतिनिधि (जिनमें जापान का एकमात्र एक प्रतिनिधि भी था) उन देशों के थे, जहाँ उन्हें राजनीतिक अधिकार मिलने की कोई सम्भावना नहीं थी। यह वेवेल की महान् विजय और जौरेस की व्यक्तिगत पराजय थी।"*

समाजवाद में लोकतान्त्रिकता का गला घोंटने की वात उन लोगों ने शुरू की, जिन्हें न तो लोकतन्त्रीय शासन का अनुभव था और न ही अवसर प्राप्त था। इस कार्य में उन्हें गेज्डे और फेरी जैसे कट्टर मार्क्स-वादियों का सहारा मिला था। संशोधनवाद को तथ्यों के वजन या तर्क की शक्ति से अमान्य नहीं किया गया, वल्कि वह उन लोगों के अन्धा-धुन्ध समर्थन से अमान्य हुआ, जिन्होंने समाजवादी शक्तियों को अधिकार-वादी स्थिति में (जैसा कि जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी में हुआ) परिपुष्ट किया था।

तीसरे इण्टरनेशनल ने दूसरे इण्टरनेशनल के लक्ष्य को आँख मूँदकर आगे बढ़ाया।

प्रोफेसर अर्नाल्ड ट्वायनवी ने अपनी पुस्तक 'स्टडी आफ हिस्ट्री' में अभियानवादी (Aggressive) और पीछे की ओर मुड़कर देखनेवाली (Recessive) शक्तियों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किया है। संशोधनवाद समाजवाद का सदैव पीछे की ओर मुड़कर देखनेवाला (और इस प्रकार दुर्निवार) रूप रहा है।

जैसा कि जान प्लामेनात्ज ने अपने विचारोत्तेजक अध्ययन 'जर्मन मार्क्सिज्म एण्ड रशियन कम्युनिज्म' में कहा है : "मार्क्सवाद वह दर्शन है, जिसका जन्म पश्चिम में लोक-तन्त्र-युग से पहले हुआ।"† इसीलिए मार्क्स-

* जेम्स जोल : वही, पृष्ठ १०४। † पृष्ठ १४।

वादी लोकतन्त्र से कभी भी खुश नहीं रहे। लोकतन्त्र को न मानना और जहाँ जरूरी हो, वहाँ उसे नष्ट करना उनकी प्रवृत्ति हो जाती है। एशियाई देशों में, जहाँ लोकतन्त्र शक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्षरत है, परम्परागत मार्क्सवाद रूपी पड़ाव पर विश्राम करना आसान है, किन्तु इससे भी अधिक जरूरी है, संशोधनवाद के विचारों को समझना, जहाँ समाजवाद लोकतन्त्र से अवयवभूत हो जाता है।

● ● ●

खेतिहर और समाजवाद : ६ :

समाज में खेतिहर उपेक्षित रहा है। "अपने ही श्रम से, अपने ही प्रयास से, अपनी ही योग्यता से प्राप्त की गयी सम्पत्ति। यह क्या आप निम्न बुर्जुआ की बात कर रहे हैं, छोटे खेतिहर की सम्पत्ति की बात कर रहे हैं? हमें उसे समाप्त करने की जरूरत नहीं है। उद्योग के विकास ने यह कार्य कर दिया है और बराबर कर रहा है।" मार्क्स का यह प्रसिद्ध विचार आमतौर पर समाजवादी दृष्टिकोण था। आशा की जाती है कि विकास के अटूट नियम खेतिहर की समस्या हल कर देंगे।

क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए खेतिहर का पक्ष अवश्य लिया जा सकता है। १८४९ में ही मार्क्स ने कहा था :

"बाल्टिक सागर और कृष्ण सागर के बीच के बड़े-बड़े कृषि-प्रधान देश पितृ-प्रधान सामन्तीय बर्बरता से अपनी रक्षा ऐसी खेतिहर क्रान्ति के द्वारा ही कर सकते हैं, जो दास या बन्धनयुक्त किसान को स्वतंत्र स्वामी बना देगी। अर्थात् यह क्रान्ति ठीक वैसी ही होनी चाहिए, जैसी देहातों में १७८९ की फ्रान्सीसी क्रान्ति थी।" लेकिन क्रान्ति के बाद क्या होता है? किसान को समाजवादी विकास में किस प्रकार अंगभूत करना है? हम प्रूधों और मार्क्स के दृष्टिकोणों में व्यापक विपरीतता पहले ही देख चुके हैं। क्या एक साथ रखकर इन मतभेदों पर विचार किया जा सकता है?

एंगेल्स ने इस सम्बन्ध में दो अलग-अलग उत्तर दिये। जहाँ तक छोटे-छोटे किसानों का सम्बन्ध था, उन्होंने कहा : "हम उन्हें जल्दी अपने पक्ष में तभी कर सकते हैं, जब हम उनसे ऐसे वादे करें जिन्हें हम साफ तौर पर पूरा न कर सकें।......सबसे पहले हमें छोटे-छोटे किसानों की निश्चित रूप से बर्बादी दिखाई पड़ रही है, किन्तु हमें किसी भी हालत

में हस्तक्षेप द्वारा उसमें तेजी लाने की जरूरत नहीं है। दूसरे, यह भी इतना ही स्पष्ट है कि हमें जब राज्य की सत्ता मिलेगी, तो हम छोटे-छोटे किसानों को जबरन बेदखल न करेंगे (मुआवजे के साथ या मुआवजे के बिना, इसका कोई प्रश्न नहीं है) जैसा कि हमें बड़े-बड़े भूमिपतियों के साथ करना है। छोटे किसानों के सम्बन्ध में हमारा सबसे पहला काम यह होगा कि हम उनके निजी उत्पादन और निजी स्वामित्व को सामूहिक उत्पादन एवं स्वामित्व के रूप में परिवर्तित कर देंगे—किन्तु हम यह कार्य जबर्दस्ती नहीं, बल्कि आदर्श प्रस्तुत करके और सामाजिक सहायता देकर करेंगे।"

सन् १८७५ में एंगेल्स ने अपने 'रूस में सामाजिक सम्बन्ध' शीर्षक लेख में लिखा : "फिर भी यह निर्विवाद है कि इस सामुदायिक रूप (Communal form) को बड़े रूप में बदला जा सकता है। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब इसे उस समय तक सुरक्षित बनाये रखा जाय, जब तक स्थिति इस परिवर्तन के लिए उपयुक्त न हो जाय और इसमें विकास की ऐसी क्षमता रहे कि किसान अलग-अलग नहीं, बल्कि एक साथ मिलकर खेती करने लगें। वैसी स्थिति में रूसी खेतिहर इस ऊँचे स्तर पर पहुँच जायगा और छोटे पैमाने के बुर्जुआ स्वामित्व के मध्यवर्ती स्तर में जाने से उसे छुट्टी मिल जायगी। किन्तु यह तभी हो सकता है, जब इस सामान्य सम्पत्ति की समाप्ति के पूर्व पश्चिम में सफल सर्वहारा क्रान्ति हो जाय—ऐसी क्रान्ति हो जाय, जो रूसी कृषक को ऐसे परिवर्तन की स्थिति और विशेषकर उसकी पूरी कृषि-व्यवस्था में क्रान्ति के लिए आवश्यक भौतिक साधनों के सम्बन्ध में आश्वस्त कर दे।"

यह लक्ष्य है कृषि को सामूहिक सम्पत्ति बनाना और साधनों में है सामूहिकीकरण और आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए 'सामाजिक सहायता' और 'भौतिक साधन'। आशा की जाती थी कि पश्चिम के औद्योगिक देशों में क्रान्ति होने से अर्ध-विकसित कृषि-प्रधान देशों के लिए सहायता की धारा वह निकलेगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय

सहायता परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण यंत्र बन गयी। ऐसी ही सहायता के विरुद्ध आज के मार्क्सवादी प्रायः आवाज उठाते रहते हैं। देश के भीतर भी उद्योग से कृषि के लिए सामाजिक सहायता दी जानी थी।

रूसी अर्थ-शास्त्री प्रेओब्राजेन्स्की ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "समाजवादी व्यवस्था अपनानेवाला देश आर्थिक दृष्टि से जितना ही पिछड़ा हुआ तथा निम्न मध्यमवर्गीय होगा और क्रान्ति से सर्वहारा को मिलनेवाला संचित धन जितना ही कम होगा, वह समाजवादी राज्य समाजवाद आने के पूर्व के आर्थिक साधनों के विदोहन के लिए उतना ही अधिक बाध्य होगा।"

कम्युनिस्टों ने इस किंकर्तव्यविमूढ़ता का निवारण तानाशाही अपनाकर किया है। यह सोशल डेमोक्रेट (सामाजिक लोकतंत्रवादी) ही हैं, जो सन्तोषप्रद उत्तर प्रस्तुत करने में विफल रहे हैं।

छोटी-छोटी सम्पत्ति की विद्यमानता से समाजवादी व्यग्र बने रह गये। बड़ी सम्पत्ति को तो वे समझते थे, क्योंकि वे उसे छीन सकते थे, उसका राष्ट्रीकरण कर सकते थे, लेकिन छोटी सम्पत्ति का क्या हो? एंगेल्स ने कहा था: "ऐसे खेतिहर को पार्टी में रहने की कोई जरूरत नहीं है, जो हमसे इस बात की आशा रखे कि हम उसकी छोटी सम्पत्ति उसके साथ बराबर बनी रहने दें।" कौट्स्की ने इससे भी दो कदम आगे बढ़कर कहा: "हमारी नीति में खेतिहर का पक्ष उतना ही कम ग्रहण किया जाना चाहिए, जितना जंकर (कुलीन जर्मन) का।"

फ्रांसीसी सुधारवादियों ने छोटी खेती के सम्बन्ध में यह समझाने का प्रयास किया कि वह छोटे उपकरण (tool) से अधिक और कुछ नहीं है और वैसी ही है, जैसे लकड़ी, पत्थर आदि पर नक्काशी करनेवाले के लिए रुखानी और चित्रकार के लिए ब्रुश। इसके लिए उन्हें कोपभाजन होना पड़ा और उनके प्रयास के सम्बन्ध में यह कहा गया कि वे छोटी खेती रूपी लघु उपकरण को भी 'निषिद्ध वस्तुओं की तरह चोरी से छिपाकर अन्य व्यावसायिक उपकरणों के साथ समूहवाद के अधिकार-क्षेत्र में

रखना चाहते हैं।' जौरेस ने यह दिखाने का प्रयास किया कि बड़ी सम्पत्ति और छोटी सम्पत्ति में अवस्था (Degree) का ही नहीं, प्रकार (Kind) का भी अन्तर है : 'एक पूँजी का रूप है और दूसरा श्रम का रूप।' जौरेस का यह प्रयास विफल रहा।*

मार्क्स के बाद कम्युनिस्ट प्रवक्ताओं अर्थात् लेनिन, स्तालिन, माओ-त्से-तुंग और टीटो की खेतिहरसम्बन्धी प्रवृत्तियों की रूपरेखा मैंने अपनी पुस्तक 'सोशलिज्म एण्ड पीजैण्ट्री' (समाजवाद और कृषक वर्ग) में प्रस्तुत की है। मैं यहाँ उन तर्कों को न दुहराऊँगा। कम्युनिस्ट देशों में कृषक को विकसित हो रही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल बनाने में अनुभव होनेवाली कठिनाइयों तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की कीमत पर पूँजी की वृद्धि पर कभी भी निर्बाध रूप से विचार नहीं किया गया। अन्य कठिनाइयों की तरह उन पर भी रहस्य का पर्दा पड़ा हुआ है। एशिया के देश जितने ही अधिक लोकतांत्रिक ढंग से सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन करना चाहेंगे, उनके लिए ये कठिनाइयाँ और समाज़वाद तथा खेतिहर के बीच सम्बन्ध उतने ही मौलिक महत्त्व के प्रश्न बन जायँगे।

यदि खेतिहर अर्थ-व्यवस्था का आधुनिकीकरण हो सके या अतिरिक्त कृषक जनसंख्या दूसरे आर्थिक क्षेत्रों में समुचित रूप से खपायी जा सके, तो कोई समस्या न रह जायगी। लेकिन इस समाधान के लिए बड़े पैमाने पर विनियोजन की आवश्यकता होगी। यदि विनियोजन विदेशी सहायता के रूप में हो, तो भी समस्या का समाधान हो जाता है। किन्तु जहाँ साधनों को देश में ही प्राप्त करना है, वहाँ दो प्रकार की परि-स्थितियाँ लानी पड़ती हैं १. पूँजी-वृद्धि परम्परागत अर्थ-व्यवस्था अर्थात् खेतिहर की कीमत पर न हो २. चूँकि खेतिहरों के उत्पादन तथा आय को बढ़ाना आवश्यक है और आधुनिकीकरण के लिए साधन

---

* डेविड मितरानी : मार्क्स अगेन्स्ट दि पीजैण्ट।

सीमित हैं और चूँकि समाज के हर वर्ग को आर्थिक विकास के लिए आवश्यक अधिक बचत और विनियोजन में अपना योग प्रदान करना है, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि परम्परागत उत्पादन विधियों को उत्पादनशील बनाया जाय। इस उद्देश्य के लिए कौन-कौन से परम्परागत (Institutional) तथा विचारगत परिवर्तन करने पड़ेंगे, यह विचारणीय है।

किन्तु एशियाई देशों में जहाँ कृषकों की ही प्रधानता है, समाजवादियों ने खेतिहर और अर्थ-व्यवस्था के बीच कोई सन्तोषप्रद सम्बन्ध नहीं निकाला। यह सभी स्वीकार करते हैं कि आचार्य नरेन्द्रदेव भारत के एक बड़े राष्ट्रवादी और समाजवादी कर्णधार थे। मार्क्सवादी समाजवाद के प्रति उनकी निष्ठा अटूट थी। फिर भी उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में 'खेतिहरवाद के खतरे' के सम्बन्ध में चेतावनी दी थी :

"एक और खतरा है जिसकी ओर मैं यहाँ ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। यह खेतिहरवाद का खतरा है, जो सभी प्रश्नों को कृषक वर्ग का ही ध्यान रखकर संकीर्ण और वर्गवादी दृष्टि से देखता है। इसके सिद्धान्त इस आदर्श से उद्भूत हुए हैं कि हमारे आर्थिक विकास में कृषक के रूप को कायम रखना पड़ेगा। यह ग्रामप्रधान लोकतन्त्र में विश्वास करता है, जिसका मतलब है भूमि के स्वामी कृषकों का लोकतन्त्र। यह समझता है कि युद्ध की भावना का अन्त करने और विश्व-शान्ति के लिए ऐसा शासन अधिक उपयुक्त है। यह मजदूर को संरक्षण देगा, क्योंकि मजदूर की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह सरकार का प्रतिनिधिक रूप भी स्वीकार करेगा, क्योंकि कई वर्गों ने इस रूप को पसन्द किया है। इसका कार्यक्रम किसी सिद्धान्त (Theory) पर आधृत नहीं है और न ही यह किसी खास कट्टर मत को स्वीकार करता है, बल्कि यह सभी विचारों के तत्त्वों को मिलाकर बना है। इसका दृष्टिकोण आधुनिक विचारों से प्रभावित मध्यम किसान का होता है और निम्न बुर्जुआ व्यवस्था पर आधृत है। अपने प्राकृतिक रूप में यह संकीर्ण भूमि वितरणवाद (Agrarianism) है

और सभी सम्भावित स्थानों में किसानों को बढ़ावा देने की बहुत बड़ी इच्छा रखता है। ऐसा दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है और उस प्रवृत्ति को आघात पहुँचाता है, जो छोटे किसानों को बढ़ा चढ़ा महत्त्व दे सकती है।······ वैज्ञानिक दृष्टिकोण उस सामाजिक परिवर्तन के नियमों द्वारा निश्चित होंगे, जो भविष्य की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में हर वर्ग को उसका उचित स्थान देता है। वह सामाजिक न्याय के लोकतान्त्रिक विचारों के अनुसार चलेगा, लेकिन उद्देश्य-प्राप्ति की प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन के नियमों से नियन्त्रित होगी। स्तालिन के शब्दों में वास्तविक उद्देश्य खेतिहर वर्ग के प्रधान समूह को समाजवाद की भावना की शिक्षा देना और धीरे-धीरे कृषक वर्ग के अधिकांश को सहकारी समितियों के माध्यम से समाजवादी निर्माण की पंक्ति में लाना होगा।"*

सामाजिक परिवर्तन के वास्तविक नियम क्या हैं? वे किस प्रकार काम करते हैं? कृषक वर्ग का अर्थ-व्यवस्था में उचित स्थान क्या है? यह स्थान कौन निर्धारित करता है? जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था में खेतिहरों का प्राधान्य हो, वह व्यवस्था छोटे खेतिहरों की भावनाओं और परम्पराओं को क्यों प्रतिबिम्बित नहीं करती? क्या स्तालिनवादी शिक्षा स्वतंत्रता और लोकतंत्र के अनुरूप हैं? क्या खेतिहर की समस्त सम्पत्ति और स्वतंत्रता को सामूहिक कृषि-व्यवस्था में विलीन कर दिया जाय?

समाजवादियों की दृष्टि से खेतिहर और आर्थिक विकास में सम्बन्ध की मूल समस्या विकास के उतार-चढ़ाव की पूँजीवाद के साथ समरूपता के कारण छिपी रह गयी। पूँजीवाद के खराब पक्ष का वर्णन करना आवश्यक हो सकता है, किन्तु क्या आर्थिक विकास भारी कठिनाइयाँ नहीं हैं? क्या सोशल डेमोक्रेसी के तत्त्वावधान में आर्थिक विकास उतार-चढ़ाव से मुक्त रहता है? यह प्रश्न शायद ही किया गया हो।

एक परम मेधावी समाजवादी नेत्री रोजा लक्जमबर्ग ने अपनी

---

* नरेन्द्रदेव : सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन (१९४६), पृष्ठ ५१।

पुस्तक 'दि एक्युमुलेशन ऑफ कैपिटल' (पूँजी-संचय) में कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने लिखा है : "पूँजीवाद तथा साधारण वस्तु उत्पादन के बीच संघर्ष का सामान्य परिणाम यह होता है कि स्वाभाविक अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर वस्तु-प्रधान अर्थव्यवस्था की प्रतिष्ठा करके पूँजी स्वयं वस्तुप्रधान अर्थ-व्यवस्था का स्थान ले लेती है। गैर-पूँजीवादी संगठन पूँजीवाद के लिए उर्वर भूमि प्रदान करते हैं, बल्कि यों कहा जाय कि पूँजी ऐसे संगठनों के ध्वंसावशेष पर पुष्ट होती है। यद्यपि गैरपूँजीवादी अवस्था संचय के लिए अनिवार्य है, तथापि संचय गैरपूँजीवाद की कीमत पर ही बढ़ता है और अन्ततः उसे ही समाप्त कर देता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पूँजी-संचय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और पूँजीवाद से पूर्व की उन उत्पादन विधियों के बीच जठराग्नि जैसा है, जिनके बिना पूँजी-संचय नहीं हो सकता और जिन्हें पूँजी-संचय अन्ततः तोड़-मरोड़कर आत्मसात् कर लेता है। इस प्रकार पूँजी गैर-पूँजीवादी व्यवस्था के बिना संचित नहीं हो सकती और न ही दूसरी ओर यह अपने साथ उनके सतत अस्तित्व को बर्दाश्त कर सकती है। गैर-पूँजीवादी उत्पादन विधियों के केवल लगातार और क्रमबद्ध विघटन से ही पूँजी-संचय संभव होता है।"

इस प्रकार का संचय क्या एकमात्र पूँजीवाद की ही विशेषता है या कमोवेश समाजवादी व्यवस्था तक में संचय का यह स्वाभाविक गुण निहित है? एशिया के देशों के लिए यह प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक विकास में अभाव और अवगति का निवारण पूँजी की अधिक प्राप्ति तथा विनियोजन से ही हो सकता है।

विकास की प्रारम्भिक समस्याओं का निवारण हो जाने के बाद यदि पश्चिमी यूरोप की तरह समाजवादियों को कार्य-सम्पादन करना पड़े, तो ये सब प्रश्न उपस्थित ही न होंगे। यदि समाजवादियों को विकसित देशों से भारी सहायता मिले, जैसा कि मार्क्स ने रूस के लिए सोचा था, तब भी शायद कठिनाइयाँ हल्की हो जायँ। लेकिन जब समाजवादी अपने

को सत्तारूढ़ पाते हैं (जैसा कि एशिया के बहुत-से देशों में आज हम देख रहे हैं) और उन्हें बाहर से बहुत सीमित सहायता प्राप्त होती है, तब यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि रोजा लक्ज़मबर्ग द्वारा चित्रित प्रक्रिया केवल पूँजीवाद की ही विशेषता है या प्रारम्भिक विकासक्रम के सभी देशों में विद्यमान है।

एंगेल्स ने और भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है : विशाल उद्योग का यह अनिवार्य परिणाम है कि वह जिस विधि से अपना राष्ट्रीय बाजार तैयार करता है, उसी विधि से उस बाजार को नष्ट भी कर देता है। खेतिहरों के गृह-उद्योगों के आधार को नष्ट करके ही वह इस बाजार का निर्माण करता है। लेकिन गृह-उद्योग के बिना खेतिहर जीवित नहीं रह सकते। खेतिहर के रूप में वे बर्बाद हो जाते हैं, उनकी क्रय-शक्ति घटकर *निम्नतम स्तर पर आ जाती है और तब स्थापित उद्योगों के लिए वे तब* तक अच्छा बाजार न प्रस्तुत कर सकेंगे, जब तक वे सर्वहारा होकर नयी स्थिति में न आ जायँ।

विशाल उद्योग की यह मार और पैठ क्या उसकी अपनी विशेषता है या यह केवल पूँजीवादी सन्दर्भ में ही दिखाई पड़ती है? किसी लोकतांत्रिक समाज में कृषक अपने को बर्बाद करने के लिए क्यों तैयार हो? विशेषज्ञों ने सिद्ध किया है कि आर्थिक विकास और औद्योगीकरण जनसंख्या की वृद्धि को खपा लेते हैं। इस प्रकार कृषि-प्रधान जनसंख्या सापेक्षतः घटती जाती है, किन्तु पूर्ण रूप से उद्योगों में नहीं खप पाती। आर्थिक परिवर्तन के अन्त में जो भी लाभ हो, एशिया के लिए अन्तिम परिणाम के बजाय प्रक्रिया या तरीके का अधिक महत्त्व है। और प्रक्रिया कभी कठिनता-रहित नहीं होती।

सन् १८९१ में अमेरिका के किसान संघ के एक नेता सिनेटर पेफर ने लिखा : "आज का अमेरिकी किसान आज से पचास या एक सौ वर्ष पहले के अपने पूर्वज से बिल्कुल भिन्न प्रकार का व्यक्ति है। आज भी अनेक ऐसे पुरुष और स्त्रियाँ जीवित हैं, जिन्हें स्मरण है कि एक समय किसान

खेतिहर की कामधेनु

अधिक अंश में निर्माता थे, अर्थात् वे अपने निजी उपयोग के लिए अनेक औजार बनाते थे। हर किसान के पास औजारों का संग्रह रहता था, जिनसे वह लकड़ी का पाँचा, भूमि को बराबर करने का पाटा या सुहागा (हेंगा), कुदाल का बेंट, हल की मुठिया, गाड़ी का आरा और दूसरी चीजें बनाता था। उसके बाद किसान पटसन, ऊन और कपास का उत्पादन करने लगा। ये चीजें फार्म पर ही तैयार की जाती थीं; उनसे सूत, सूत से कपड़ा और कपड़े से पहनने का वस्त्र बनता और फिर पहना जाता था। हर फार्म में लकड़ी और लोहे का छोटा वर्कशाप होता था और घरों में धुनाई का यंत्र और करघे रहते थे, दरियाँ और गलीचे बुने जाते थे और ओढ़ने-बिछाने के तरह-तरह के कपड़े तैयार किये जाते थे। हर फार्म में बत्तखें रहती थीं, जिनके छोटे-छोटे पर से भरे हुए गद्दे और तकिये माँग के अनुसार बाहर भेजे जाते थे और जो कुछ बच रहता था, उसे पास के बाजार में बेच दिया जाता था। जाड़े के दिनों में गेहूँ और आटा तथा अनाज की चीजें बड़ी-बड़ी गाड़ियों में भरकर, जिन्हें ६ या ८ घोड़े खींचते थे, सौ-दो सौ मील दूर बाजार में ले जायी जाती थीं और वहाँ उन्हें बेचकर अगले वर्षभर के लिए किराने की और सूखी चीजें आदि ली जाती थीं। इसके अलावा किसानों में ही अनेक मिस्त्री थे। एक गाड़ी के तैयार करने में एक वर्ष से दो वर्ष तक का समय लगता था। उसमें लगनेवाली चीजें आसपास से प्राप्त करनी पड़ती थीं। गाड़ी में कौन-सी लकड़ी लगेगी, यह करार में स्पष्ट कर दिया जाता था। वह लकड़ी किसी खास ऋतु में ली जाती थी, कुछ समय तक उसे सुखाया जाता था। इस प्रकार सब चीजों को एकत्र किया जाता था और गाड़ी बन जाती थी। करार करनेवाले दोनों पक्ष जानते थे कि इसकी एक-एक लकड़ी कहाँ से आयी है और उसे कितने समय तक पकाया गया है। जाड़े के दिनों में पड़ोस का बढ़ई अगले वर्ष बननेवाले भवन के लिए खिड़कियाँ, दरवाजे, कारनिस या टोंटे आदि बनाता था। इस तरह का

पाला शुरू होता था, मोची किसान के घर पर आता था और वहाँ अपने लिए निर्धारित स्थान पर जाड़े में परिवार के लिए जूते बनाता था। ये सब चीजें किसानों के बीच होती थीं और खर्च का अधिकांश खेत में पैदा चीजों से चुकाया जाता था। जाड़ा आते ही मांस के लिए पशुओं का वध भी शुरू हो जाता था। परिवार के लिए अगले वर्ष के लिए मांस तैयार किया जाता और सुरक्षित रख दिया जाता था। गेहूँ साफ किया जाता था और एक बार में इतना ही साफ किया जाता था, जितना परिवार की आवश्यकता पूर्ति के लिए पर्याप्त हो न कि इतना अधिक कि उसका एक भी दाना बर्बाद हो। हर चीज बचायी और काम में लायी जाती थी। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था का एक परिणाम यह होता था कि खेती का काम चलाने के लिए तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम नकद रकम की जरूरत पड़ती थी। अनुपाततः एक सौ डालर की रकम इतनी अधिक थी कि उन दिनों के सबसे बड़े किसान भी पारिश्रमिक, औजारों की मरम्मत तथा दूसरे आकस्मिक नकद खर्चों की पूर्ति उससे कर लेते थे।"*

उपर्युक्त चित्रण में निस्सन्देह रूप से आदर्श दिखाया गया है, इसमें ऐसा सीधा-सादा जीवन चित्रित किया गया है, जैसा जीवन कभी भी नहीं था। और रहा भी हो, तो शायद थोड़े-से भाग्यवानों का। यह भी सत्य है कि ऐसे जीवन में कठिनाई और अकेलेपन का दूसरा पक्ष भी था। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी इस वर्णन में एक बहुत महत्त्वपूर्ण सत्य है। इस प्रकार के वर्णन दूसरे देशों के सम्बन्ध में भी किये जा सकते हैं। कृषक का जीवन विभिन्न गतिविधियों को एक साथ मिलाता है। न केवल परिवार विविध उत्पादन कार्यों में लगा रहता है, बल्कि पूरा गाँव-समाज ही किसान गृहस्थी के लिए आवश्यक सारे कार्य करता है। परिवार अनेक कार्यों में लगा होता है और ये परिवार प्रायः आत्मनिर्भर गाँव-समाजों से जुड़े रहते हैं।

* डब्ल्यू० ए० पेफर : दि फार्मर्स साइड, हिज ट्रबुल्स एण्ड देयर रेमेडी।

आर्थिक विकास, द्रव्य को कार्यकलापों का आधार बनाना, विशिष्टीकरण ये सब पुराने और घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए सम्बन्धों को समाप्त कर देते हैं। वंचित और रहित किये जाने की प्रक्रिया से बच निकलना असम्भव है। ब्रिटिश वस्तु निर्माताओं ने भारत के गाँवों में जो कहर बरपा किया, उसका रमेशचन्द्र दत्त तथा दूसरे लोगों ने स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। मशीन से बनी वस्तुओं की जब भी गाँवों में हाथ से बनी चीजों से प्रतियोगिता होगी, तभी वह आफत आयेगी। उच्च शिल्प-विज्ञान अपने से नीचे स्तर की यंत्र-पद्धति के उत्पादन को तहस-नहस कर देता है, यह अविकल प्रक्रिया है। साम्राज्यवाद का अपराध यह है कि उसके अन्तर्गत औद्योगीकरण का लाभ और उद्योगों से होनेवाली बर्बादी दो अलग-अलग देशों में होती है; लाभ शासक देश को होता है और बर्बादी उपनिवेश की होती है। किन्तु उस देश में भी क्षेत्र और वर्ग के आधार पर ऐसा विभेद होता है। एक अवधि, उदाहरण के लिए एक सौ वर्ष, में स्थिति में अन्ततः समानता आती है। इसीलिए समाजवादी पूँजीवाद की बुराइयों के विरोधी हैं। लेकिन समाजवादी पुनर्निर्माण में भी ये खतरे विद्यमान हैं। विशेष संरक्षात्मक कार्रवाइयों द्वारा उनसे गाँवों को बचाया जा सकता है और इन कार्रवाइयों के अन्तर्गत नयी औद्योगिक पद्धतियों की अवस्था (Degree) ही नहीं, अपितु आकार (Form) में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। सामाजिक लोकतंत्र इस दिशा में मार्गदर्शक विचार की आवश्यकता समझता है।

किसान को उसीकी भलाई तथा सामाजिक प्रगति के लिए बहुधन्धे के गहन जाल से मुक्त करना पड़ेगा। इससे अतीत में कुछ लोगों को आराम और निश्चिन्तता का सरल जीवन मिला होगा, किन्तु आज वे पुराने सम्बन्ध समाप्त हो रहे हैं और बहुसंख्यक लोगों के लिए वे भारस्वरूप हैं। खेतिहर को आर्थिक विकास की कठिनाइयों का सामना अकेले और साधन-रहित होकर नहीं करने दिया जा सकता। उसका उत्पादन इस तरह का है कि वह आसानी से दोहरे दबाव का शिकार हो जाता है।

सी० राइट मिल्स द्वारा किया गया निम्नलिखित वर्णन यहाँ अप्रासंगिक न होगा : "किसान पर मूल्य का बन्धन लगाया गया। जब मन्दी (इस शताब्दी के चतुर्थ दशक में) शुरू हुई, खेती में काम आनेवाले उपकरणों का थोक मूल्य केवल १५ प्रतिशत गिरा, जब कि उत्पादन ८० प्रतिशत कम कर दिया गया। किन्तु खेती में पैदा वस्तुओं का मूल्य ६२ प्रतिशत गिर गया, जब कि उत्पादन में केवल ६ प्रतिशत ही कटौती की गयी थी।" अतः कृषि से उत्पादित वस्तुओं तथा औद्योगिक वस्तुओं के मूल्यगत सम्बन्ध को निश्चित करना आवश्यक है। यह महत्त्व की बात है कि इस प्रकार का सम्बन्ध केवल विकसित देशों में ही निश्चित किया गया है, जहाँ खेतिहरों की समस्या गम्भीर नहीं रह गयी है! किसानों से अनिवार्य रूप से वसूली नहीं करनी है और पूरी अर्थ-व्यवस्था का राष्ट्रीयकृत आधार पर संचालन नहीं होना है जैसा कि कम्युनिस्ट देशों में होता है, तो यह आवश्यक हो जायगा कि मूल्य नीति को स्थिर करने के परिणामों पर विचार किया जाय।

स्फूर्तिदायक भावना

ग्रामीण जनता की उत्पादन विधियों के आधुनिकीकरण की बात अक्सर सुनाई पड़ा करती है। ऐसे कार्य के लिए बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता है और यदि उतनी पूँजी हो भी सके, तो भी किसानों के खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े और जनसंख्या-वृद्धि एशिया के देशों के लिए उस आधुनिकीकरण की विधि को एकदम अनुपयुक्त बना देती है। इस क्षेत्र में आगे आनेवाले कुछ समय तक परम्परा से चले आ रहे तत्त्वों को उत्पादनशील बनाने पर जोर देना आवश्यक है। और यहीं पर उतोपीय समाजवादियों की शिक्षा एशिया के लिए प्रासंगिक बन जाती है। आधुनिक यन्त्रों से भारी पैमाने की खेती का धरती पर बहुत बुरा असर होता है। अमेरिका के बारे में जानकार लोगों का कहना है कि "कृषि-योग्य भूमि के मूल क्षेत्रफल का पंचम भाग फिर खेती करने के लायक नहीं रह गया है और तिहाई भाग बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो गया

है।" अमेरिका और रूस दोनों अपनी भूमि का मनमाना उपयोग कर सकते हैं, किन्तु एशिया के अधिकांश देशों में भूमि का पूर्णतः विदोहन हो चुका है और साथ ही भूमि की इतनी कमी है कि उसे फिर से सुधारने, फिर से उपजाऊ बनाने में किसानों को बहुत श्रम और बहुत चिन्ता करनी पड़ेगी। यह ऐसा कार्य है, जिसके लिए कोई भी विस्तीर्ण कृषि-व्यवस्था प्रयास नहीं कर सकती।

उतोपीय समाजवादियों ने ग्रामीण जनता के लिए उपयुक्त विभिन्न सामाजिक-आर्थिक आधारों तथा सामाजिक मूल्यों का विकास किया था। बड़े-बड़े दावों और तर्कों के लिए उतोपीय समाजवादी उतने ही (और शायद उससे भी अधिक) दोषी हैं, जितने दूसरे लोग; किन्तु उनके विचारों को इन सब गलतियों से अलग करके देखा जाय, तो जो कुछ सामने आता है, वह ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए बहुत उपयुक्त है।

उनके स्वाभाविक ढंग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, उनकी नीतिपरायणता की चाह, जो वास्तव में मूल्यवान् है। १९१५ में सिडनी वेब ने डाक्टर जान मथाई की पुस्तक की भूमिका में विचार प्रकट किया था : "पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में बहुमत से होनेवाले निर्णय का हम बहुत आदर करते हैं। यदि हम 'सहमति के द्वारा सरकार' में विश्वास करते हैं, समाज के द्वारा किये गये निर्णय में हमारी आस्था है, तो भारत के गाँव हमें क्वेकर (शान्तिवादी) की मीटिंग की तरह, वल्कि सम्भवतः और ऊँचे विकल्प प्रदान करते हैं। इंग्लैण्ड में हमारे कानून के जानकार और राष्ट्रनायक आज भी एक शताब्दी पूर्व के आस्टिनवादी पाण्डित्य-दर्शन के बोझ से लदे हुए हैं, जिसने उन्हें सिखाया है कि कर्तव्य अधिकार का उलटा है, जो अदालती कार्रवाई द्वारा लागू न कराया जा सके, वह अधिकार नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वतन्त्र जनता, पूरे गाँव, किसीके अपने पेशे, परिवार के सदस्यों या भावी पीढ़ियों को बाँधनेवाला कोई कर्तव्य नहीं हो सकता। ब्रिटेन की शुरू की मैनर व्यवस्था की तरह

भारत का गाँव अधिकार के बजाय कर्तव्य पर जोर देता है और उन अधिकारों की सीमा में बँधे रहने के बजाय, जिनके आधार पर कोई व्यक्ति स्वयं के लाभ के लिए कार्रवाई कर सके, जनता से कर्तव्य-पालन कराने में दत्तचित रहता है।"†

भारतीय गाँव के सम्बन्ध में यह मूल्यांकन शायद उस समय भी सही नहीं था, जब वह किया गया था। उसके बाद व्यतीत ४० या उससे अधिक वर्षों में इस चित्र में और भी कम सत्य रह गया है। आज प्रत्येक ग्रामीण 'आस्टिनवादी पाण्डित्य-दर्शन' से लदा हुआ है। पुरानी भावनाओं को फिर से जागरित नहीं किया जा सकता। वे भावनाएँ कतिपय सामाजिक परम्पराओं और सामाजिक वातावरण की कृति थीं। अब वे सामाजिक परम्पराएँ और सामाजिक वातावरण दोनों ही बदल चुके हैं, इसलिए वह भावना भी समाप्त हो गयी है। ग्रामीण समाज में एक नयी भावना लाने और समाज में फिर से प्राण फूँकने की जरूरत है, क्योंकि समुदाय-निर्माण के द्वारा ही खेतिहर उन कठिनाइयों और सम्भावनाओं का ठीक तरह से सामना कर सकता है, जो आर्थिक विकास के फलस्वरूप आती हैं, भले ही वह समाजवाद द्वारा शुरू किया गया विकास ही क्यों न हो।

हम नयी भावना का रूप ढूँढ़ें, इसके पहले एक मूलभूत निर्णय हो जाना जरूरी है। जमींदारी समाप्त हो जाने के बाद गाँवों में क्या समाजवादियों को कम्युनिस्टों की तरह वर्ग-संघर्ष को उत्तेजित करना चाहिए और एक वर्ग को दूसरे के विरुद्ध लड़ाने के उन दाँव-पेंचों को अपनाना चाहिए, जो लेनिन से माओ-त्से-तुंग तक विकसित हुए हैं? क्या गाँव को एकताबद्ध करनेवाली शक्ति समाजवादी पार्टी के कार्यकर्ता ही हों? यदि यह मार्ग अपनाया जायगा, तो लोकतांत्रिक अधिकारों और समाजवादी मूल्यों की रक्षा नहीं हो सकती। तब निश्चित

---

† जान मथाई : विलेज गवर्नमेण्ट इन ब्रिटिश इण्डिया, पृष्ठ १२।

रूप से पूरा कम्युनिस्ट रूप आ जायगा—जनवादी न्यायालय होंगे, धनी किसानों (Kulaks) का उन्मूलन होगा, जबरन कर लगेंगे और फिर इस कार्य में सहायता के लिए हिंसा होगी। दूसरा रास्ता यह है कि गाँव को पुनः सामुदायिक समैक्य और गाँव-समाज की स्वायत्तता स्थापित करने में सहायता दी जाय, जिससे वहाँ प्रत्यक्ष लोकतंत्र सम्भव हो सके। गाँव और व्यवसाय सबसे छोटे वे सामाजिक संगठन हैं, जिनमें रीति-रिवाज और कार्यकर्ताओं के दमनात्मक दबाव से स्वतंत्र रहकर मानव सामाजिकता का मुक्तिदायी पाठ पढ़ता है। अपनाये जानेवाले उस विकल्प के द्वारा ही उतोपीय समाजवाद (जिसके विषय में हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं) की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के विषय में निर्णय होगा।

दुर्भिक्ष जाँच आयोग (१८८०) ने कहा था : "भारत के पास अपना दरिद्र रक्षा नियम है, किन्तु वह अलिखित है।"* इसका अर्थ यह हुआ कि १८८० के आसपास सामाजिक समैक्य और पारस्परिक उत्तरदायित्व की एक निश्चित भावना थी। भारतीय सिंचाई आयोग (१९०१-३) ने कहा था : "हमें बार-बार विश्वास दिलाया गया कि तालाबों की हिफाजत सन्तोषप्रद ढंग से नहीं हो रही है और 'खुदी-मरम्मत' का प्रायः अन्त हो चुका है। दूसरे लोग इसे बिल्कुल समाप्तप्राय मानते थे।...हमारी स्वयं यह स्वीकार करने की इच्छा नहीं होती कि एक इतनी उपयोगी परम्परा सचमुच समाप्त हो गयी है।"† १८६९-७० के सार्वजनिक निर्माण आयोग ने इस प्रश्न पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया था और इस व्यवस्था की विद्यमानता के न जाने कितने प्रमाण दिये। इस प्रकार १८७० (या १८८०) और १८९० के बीच इस पुरानी सामुदायिक रीति का अन्त हुआ।

आज सभी लोग सामुदायिक भावना को पुनर्जीवित करने की

---

* रिपोर्ट, परिशिष्ट २, पृष्ठ ६५।

† रिपोर्ट, भाग २, पृष्ठ ११२।

आवश्यकता अनुभव करते हैं। यह उस पुरानी परम्परा और युगों पुरानी रीति के रूप में फिर से नहीं आ सकती। इसे सजग भावना से अपनाये गये आवेग, अन्तरतम में अनुभव की गयी आकांक्षा को अपनाना पड़ेगा, जो धरती और पास के अन्य लोगों के साथ मानव के सम्बन्धों को अर्थपूर्ण बनाती है। इसी उद्देश्य के लिए गांधी से लेकर विनोबा और जयप्रकाश तक हमारे उतोपीय समाजवादी बराबर प्रयत्नशील रहे हैं। क्या ग्रामीण समस्याएँ हल की जा सकती हैं, क्या परम्परा से चले आ रहे तत्त्वों को, बिना उस सामाजिक अनुराग के जिसे वे तत्त्व प्रदान करते हैं, उत्पादन-शील बनाया जा सकता है? क्या समाजवादी खेतिहर को सिडनी वेब के शब्दों में 'आस्टिनवादी पांडित्य-दर्शन' के विषय में शिक्षित करने का आग्रह करेंगे? क्या एकताबद्ध करने का कार्य पार्टी विशेष ही करेगी?

गाँव समाज की संगठनात्मक आवश्यकताओं को वर्ग-संघर्ष को तेज करके या दलों की प्रतिद्वन्द्विता द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। लघु समाज के निर्माण की निष्ठा पारस्परिक सद्भाव चाहती है, न कि अन्दर-अन्दर सुलगता हुआ वैर-भाव। क्या अन्तरात्मा से सहानुभूति का, आचारिक कर्तव्यों की स्वतःस्फूर्त स्वीकार्यता का कोई विकल्प हो सकता है? ग्रामीण इन चीजों को स्वीकार करेगा या नहीं, यह अलग प्रश्न है, महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समाजवादी के पास इनका कोई विकल्प है, इससे बचने का कोई उपाय है?

गाँव-समाज आम तौर पर क्षत-विक्षत हो गये हैं। गाँव आर्थिक ध्वंसावशेष और सामाजिक ह्रास का चित्र प्रस्तुत करते हैं। क्या सामुदायिक भावना को पुनर्जीवित किये बिना समाजवादी परिवर्तन के लिए प्रयास करना सम्भव है? यह सत्य है कि गाँवों में काफी असमानता और अन्याय है, उन्हें धीरे-धीरे दूर करना सुधारकों और प्रशासकों का काम है। जब तक गाँवों में परिवर्तनों के लिए सहयोग का वातावरण नहीं बनता, तब तक सुधार की कार्रवाइयाँ कागज पर ही रह जायँगी। प्रश्न है कि वह वातावरण कैसे लाया जाय।

डेनमार्क में गाँवों को क्रियाशील बनाने में देहाती स्कूलों ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। केवल पढ़ने-लिखने की नहीं, बल्कि सामुदायिक जीवन की शिक्षा को सर्वत्र समाज का उत्तम पोषक माना गया है। चीन से लेकर पेरू तक सभी जगह समझा जाता है कि पारस्परिक सहायता आवश्यक है, किन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं है कि पारस्परिक सहायता दल आर्थिक स्थिति या राजनीतिक मत पर आधृत विभिन्न कृषक वर्गों और राज्य की भेदभाव पूर्ण कर-नीति, 'अनिवार्य रूप में सरकार को अन्न समर्पण, 'गाँव से पूँजीवादी तत्त्वों को समाप्त करने के लिए' ऋण वितरण जैसे आर्थिक अस्त्रों के जोर दबाव के बीच सामाजिक कटुता के वातावरण में काम करते हैं या गाँव में सामुदायिक ऐक्य बढ़ाकर।

हमारे खयाल से जोर सामुदायिक जीवन पर दिया जाना चाहिए। एकमात्र रचनात्मक कार्य, गाँव समाज के ढाँचे का पुनर्निर्माण ही सहयोग तथा उस भावना को पैदा कर सकता है, जो परम्परागत तत्त्वों को उत्पादनशील बनाने में सहायक होगी। आधुनिकीकरण आवश्यक है, किन्तु नयी भावना ऐसा सांस्कृतिक वातावरण बनाने के लिए आवश्यक है, जिसमें बड़े धन-विनियोगों और उच्च शिल्प-पद्धतियों को खपाया जा सके। एशिया में, जहाँ भूमिवालों का अनुपात कम है, जहाँ कृषि-प्रधान जनसंख्या के भार के कारण अधिक उत्पादन के लिए गहन प्रयास की आवश्यकता है, यह स्थिति विशेष रूप से है।

अनेक पर्यवेक्षक इजराइल के समाजवादी विकास-क्रमों से बहुत प्रभावित हुए हैं। यहूदी समाजवादी अपनी इस सफलता का आधार यह बताते हैं कि वहाँ जनता ने व्यापक रूप से एक सामान्य मूल्य व्यवस्था, एक जीवन प्रणाली स्वीकार की है, जिससे नयी परम्पराओं का जन्म हो रहा है और नयी रीतियों में तथा नयी-नयी रीति चलानेवालों में अन्तर रहना सम्भव है।

भूदान और ग्रामदान का पूरा कार्यक्रम स्वीकार न भी किया जाय, तो भी उनके पीछे काम करनेवाली भावना में, इस दृष्टि से, नव-

जीवन भर देने का गुण है। इससे जनता में सामुदायिक चेतना और नागरिक गौरव की भावना आती है। यह समाज की कीमत पर बढ़ने को नहीं, समाज के साथ बढ़ने की प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है। जिस प्रकार धरती पर ध्यान दिया जाता है, उसी तरह समाज के लिए काम करना सोने की फसल उगाना है।

खेतिहर को आर्थिक प्रोत्साहन देना आवश्यक है और उसी प्रकार आवश्यक है, उसकी आकांक्षाओं को बढ़ाना। इनका आर्थिक विकास की दृष्टि से क्या महत्त्व है, इसे अगले अध्याय में स्पष्ट किया जायगा। इतना ही जरूरी यह भी है कि किसान की अनुभव-परिधि का विस्तार किया जाय। जैसा कि माओ-त्से ने कहा है, वह नदी के किनारे बैठा रहेगा और कभी भी उसे पार करने की इच्छा न करेगा। यदि विकास गाँव-समाज की कीमत पर होता है, तो इससे सामाजिक तनाव और गाँवों की कठिनाइयाँ बढ़ती हैं। यदि इन परिवर्तनों के अन्तर्गत सामुदायिक निर्माण होता है, तो उससे विकास की एक नयी शक्ति पैदा होती है।

भूमि और समाज के क्षरण को संरक्षण द्वारा रोकना होगा। किसान के लिए अव्यवस्था नहीं, स्वाभाविक विकास की आवश्यकता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि सर्वोदय जैसा दर्शन, जो उतोपीय समाजवादरूपी गण की ही एक जाति की तरह है, क्या आधुनिकीकरण को रोकनेवाला न सिद्ध होगा? यह सत्य है कि गाँव की आत्मनिर्भरता जैसे इसके कुछ विचार यथार्थ से परे और सतयुग की चीज जैसे हैं, किन्तु समग्र रूप से देखा जाय, तो आचारिक चिन्ता और सामाजिक जागृति के ऐसे दर्शन के बिना, विकास के लिए आवश्यक सांस्कृतिक वातावरण का आविर्भाव न होगा। तीक्ष्ण दृष्टि के पर्यवेक्षक प्रोफेसर मिल्टन सिंगर ने स्थिति की समीक्षा इस प्रकार की है: "मैंने यह नहीं कहा है कि भारत में परलोक की दृष्टि से संयम की गांधीजी द्वारा की गयी व्याख्या भारत में ऐसे 'प्रोटेस्टेण्ट (सुधारवादी) आचार' और 'पूँजीवादी भावना' को जन्म देगी, जो उद्योगवादी विकास को उसी तरह बल देगी

जिस तरह यूरोप में हुआ था, जिसका मैक्सवेबर ने अच्छा विश्लेषण किया है। इस विषय को लेकर भारत के सम्बन्ध में लिखी जानेवाली पुस्तक का अधिक उपयुक्त नाम 'हिन्दू आचार और समाजवाद की भावना' होगा। मैंने तो केवल यह दिखलाने का प्रयास किया है कि त्याग का परम्परागत भारतीय-दर्शन विकास के मार्ग में बड़ी बाधा नहीं है, यथार्थ में यह भारतीय जीवन के भौतिक पक्ष के साथ बराबर पूर्ण रूप से जुड़ा रहा है और जैसा कि पिछले एक सौ वर्ष के धार्मिक और सामाजिक सुधारकों, विशेषकर गान्धीजी ने व्याख्या की है, इसमें आधुनिक औद्योगिक समाज के लिए आवश्यक आन्तरिक उत्साह और अनुशासनशीलता प्रदान करने का पूरा सामर्थ्य है।"*

भावना का बड़ा महत्त्व है। उसे नीतिपरायण, शान्तिवादी मूलतः उतोपीय अर्थात् आदर्शवादी या मिशनरी होना चाहिए। ऐसी भावना विकास को सुन्दरता प्रदान करती है।

एशिया में जो स्थिति विद्यमान है, उसमें गाँव प्रशासन और अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी इकाई बना हुआ है। फिर से एकता और स्वायत्तता प्राप्त करने में गाँव की जितनी ही सहायता की जायगी, गाँव का विघटन उतना ही रुकेगा।

प्रक्रियागत अभिव्यक्ति

डाक्टर जान मथाई ने लिखा है: "गाँव के प्रधान अधिकारी—मुखिया, जिलेदार और चौकीदार—यद्यपि अब भी प्रशासनिक कार्य करते हैं, तथापि वे गाँव-समाज से अधिक सरकार के सेवक हो गये हैं।"† इस स्थिति को समाप्त करना और बिल्कुल दूसरे रूप में बदलना है।

जैसा कि प्रूधों ने बराबर कहा है, एक गाँव को दूसरे गाँवों के साथ काम करने का अवसर दिया जाना चाहिए। संघीय भावना का

* दि ऐनल्स: मई १९५६, पृष्ठ ८६।

† वहीं, पृष्ठ १७।

बराबर विस्तार होते जाना चाहिए। बुनियादी तत्त्व या बीज रूपी गाँव बढ़कर वृहत्तर सामाजिक संगठनों का रूप ले लेगा।

गाँव-सभाओं को—और यहाँ तक कि नगर-सभाओं को भी—जिनमें सभी वयस्क हों, लोकतन्त्र का बुनियादी अंग होना चाहिए। सर्वसम्मति का सिद्धान्त, जो (जैसा कि सिडनी वेब ने कहा है) अतीत में पंचायतों की विशेषता थी, वांछनीय सिद्धान्त है, क्योंकि यह लोगों को घुल-मिलकर रहने की कला सिखाता है।

अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में सामूहिकता या सहकारिता का आग्रह नहीं हो सकता। अपने साधनों को जुटाने और सामुदायिक भावना से विकास की योजना बनाने में गाँव की सहायता की जानी चाहिए। इससे निश्चय ही तरह-तरह के प्रयास होंगे, लेकिन उनमें वह उत्साह भरा होगा, जिसकी आवश्यकता है।

सहकारिता को घास से भरे ऐसे चरागाह के रूप में समझना, जिसमें अनिच्छुक झुण्डों को पहुँचाना है, गलत होगा। छोटी सम्पत्ति का स्वामित्व सन्तोष और गौरव दोनों प्रदान कर सकता है। समुचित प्रेरणा के द्वारा एक साथ काम या पारस्परिक सहयोग को प्रश्रय दिया जा सकता है। किन्तु किसान और उसकी भूमि को एक साथ जोड़नेवाली नाल को काटना सामाजिक क्षरण को निमन्त्रित करना होगा। नैतिक दबाव और आदर्श से आकृष्ट होकर जनता पूर्ण सहकारिता को भी स्वीकार कर सकती है, किन्तु इस दिशा में यदि जोर-दबाव की नीति अपनायी गयी, तो उत्पादन के लिए उसका परिणाम घातक होगा। लोकतांत्रिक ढंग पर संगठित विस्तार सेवाओं में सहकारिता का समुचित सामर्थ्य रहता है।

समाजवादी समाजों का विकास करने में एक नये ढंग का व्यवस्थापक वर्ग सामने आ सकता है। इजराइल सम्बन्धी एक प्रवीण जानकार ने कहा है : "शायद सबसे महत्त्वपूर्ण किस्म का उपक्रमी (Entrepreneur) 'संस्थाओं से सम्बद्ध' उपक्रमी या बस्तियों के बसाने के कार्य की देखरेख करनेवाला व्यक्ति होता है। वह ऐसा व्यक्ति है, जिसका

नयी बस्तियों के बसाने और सहकारी उद्योगों, सार्वजनिक तथा अर्ध सार्वजनिक आर्थिक उद्योगों की व्यवस्था में हाथ होता है (हिस्ट्रैड्ट द्वारा संचालित कुछ कारखाने इसके उदाहरण हैं)। उसका मुख्य कार्य बाजार तैयार कर और पूँजी तथा साख के विभिन्न साधनों को जुटाकर अपने समूह और संस्थान के लाभ तथा सम्पत्ति और आर्थिक कार्यकलापों के क्षेत्र को अधिक-से-अधिक बढ़ाना है। उसकी दृष्टि में उसका कार्य केवल आर्थिक ही नहीं है। वह अपने को समाज के नैतिक मूल्यों का विकास करनेवाला और नयी बस्तियों तथा अपनी संस्था का विस्तार करनेवाला समझता है; और यह एक ऐसा तथ्य है, जिसमें कुछ सत्य है। यद्यपि वह आर्थिक अनुमानों में बड़ा दक्ष होता है, फिर भी वह उन्हें इन लक्ष्यों के आगे गौण मानता है और दूसरों से यह आशा रखता है कि हमारे कार्यों को वे हमारी ही तरह समझें।" इस प्रकार के नये उपक्रमी की खोज बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए सेवा सहकारी समितियाँ अच्छे व्यक्ति और प्रशिक्षण दोनों प्रदान कर सकती हैं।

कृषि तथा ग्रामोद्योग की कुछ हद तक पारस्परिक निर्भरता को पुनर्जीवित किया जा सकता है। लेकिन यह ऐसा कार्य है, जिसमें कठिनाइयाँ हैं। एक ओर यन्त्रों तथा शिल्प-कौशल में सुधार करना होगा और दूसरी ओर कृषि पर बढ़ती हुई जनसंख्या के उत्तरोत्तर अधिक भार को घटाने तथा अधिक लोगों को काम देने और उनकी आय बढ़ाने के लिए औद्योगीकरण में तेजी लानी पड़ेगी। समस्या का सारतत्त्व यही है कि कृषक को किस प्रकार आर्थिक विकास के साथ सम्बद्ध किया जाय।

● ● ●

पुनर्निर्माण का अर्थशास्त्र : ६ :

समाजवादी आन्दोलन के रंग-बिरंगे इतिहास में जल्दी-जल्दी जो विचार बने हैं, उन्हें कहीं भी व्यवस्थित ढंग से एक साथ नहीं प्रस्तुत किया गया। इस तरह का अध्ययन मनोरंजक होगा।

समाजवादियों, विशेषकर मार्क्सवादियों ने समाजवादी समाज के ब्यौरे पर विचार करना अस्वीकार कर दिया। कार्ल कौटस्की ने जो कड़ी टीका की, वह उनकी प्रवृत्ति का एक उदाहरण है : "वे (विरोधी) समाजवादी कामनवेल्थ (सर्वोपभोग्य व्यवस्था) को उसी तरह देखते हैं, जिस तरह किसी पूँजीवादी उद्योग, उदाहरणार्थ स्टाक कम्पनी को, जो शुरू की जानेवाली है और लोग जिसकी हुण्डी (स्टाक) तब तक लेने के लिए तैयार नहीं होते, जब तक उन्हें विवरण-पत्रिका (प्रास्पेक्टस) दिखाकर यह प्रमाणित न कर दिया जाय कि संस्थान चल सकेगा और उसमें लाभ होगा। इस प्रकार की धारणा का १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में औचित्य रहा होगा, आज के युग में समाजवादी कामनवेल्थ को इन महानुभावों की सहमति की चिन्ता नहीं है।"

पूँजीवाद तिरस्कृत हो चुका था, उसकी असंगतियों का पर्दाफाश करना और उसे छिन्न-भिन्न करने में तेजी लाना, यह समाजवादियों के लिए मुख्य कार्य थे। इतिहास की प्रवृत्तियाँ पूरी शक्ति से समाजवाद की विजय के लिए कार्य कर रही थीं। ऐसी स्थिति में समाजवादी समाज का चित्र तैयार करने में समय बर्बाद करना बिल्कुल व्यर्थ था। समाजवादी समाज के सम्भावित स्वरूप के विषय में अनुमान लगाने को बेकार ही नहीं, हानिकर भी माना जाता था। कार्ल कौटस्की ने कहा था : "यह निरर्थक और हानिकर चीज है कि समाजवादी समाज

को लाने और संगठित करने के लिए निश्चयात्मक प्रस्थापनाएँ (Positive propositions) की जायँ। सामाजिक अवस्था का रूप क्या हो, इस सम्बन्ध में प्रस्थापनाएँ वहीं की जायँ, जहाँ अपना बोलबाला हो और जहाँ की स्थिति को हम अच्छी तरह जानते हों।"

पूरे समाजवादी चिन्तन का मुख्य मौन हेतुपस्थिति (Hypothesis) यह थी कि उत्पादक शक्तियों का विकास पूँजीवाद द्वारा होगा और उनके परिपक्व हो जाने के बाद ही समाजवादियों का प्रवेश होगा। आर्थिक विकास की समस्याओं विशेषकर अर्ध-विकसित से विकसित अर्थव्यवस्था के संक्रमण के चरणों की रूपरेखा तैयार करने की ओर समाजवादियों ने ध्यान नहीं दिया। जहाँ समाजवादी काफी समय से सत्तारूढ़ रहे हैं—जैसे स्वीडेन में—वहाँ वे निस्सन्देह रूप से कल्याण-कारिता की सीमा से बहुत आगे तक बढ़ चुके हैं, किन्तु आर्थिक जीवन में प्रधानता समाजीकरण के बजाय स्थिरता की रही है। इसके अलावा उन्नत देशों में आर्थिक विकास की समस्या उस तरह की नहीं है, जैसी अर्द्धोन्नत देशों में है।

समाजवाद के साहित्य में समाजवादी परिवर्तन की कोई पहले से बनी-बनायी मूल योजना नहीं है। मार्क्स ने कहा था : "उत्पादन, वितरण, और उपभोग······सभी पूर्ण के अंग हैं, अन्तर एकरूपता के भीतर ही रह सकता है। उत्पादन की और सब बातों से प्रमुखता रहती है। उसीसे आगे का काम बढ़ता है और हर बार नयी प्रक्रिया होती है।······केवल 'नीच समाजवाद' ही मुख्य रूप से वितरण के प्रश्नों के चारों ओर चक्कर काटता है।" 'गुरु' के इस कथन के बावजूद अधि-कांश समाजवादियों ने उत्पादन पर बहुत ही नाममात्र का ध्यान दिया है और 'मुख्य रूप से वितरण के प्रश्नों के चारों ओर' चक्कर काटते रहे हैं। यही अधिकांश समाजवादियों का गौरव और साथ-ही-साथ सीमा बन गया।

एंगेल्स ने चेतावनी दी थी : "इतिहासरूपी देव सभी देवों से अधिक

निर्दयी है। वह अपने रथ को युद्ध में ही नहीं, बल्कि 'शान्तिपूर्ण' आर्थिक विकास के समय में भी लाशों के ढेर पर दौड़ाता है।" रथ के मार्ग को, आर्थिक विकास के नियमों को समाजवादियों ने कभी निर्धारित नहीं किया। विकास के मार्ग में स्तालिन के (समाजवादरूपी) जगन्नाथ के रथ के नीचे बलिदान होनेवालों की लाशों का एक ढेर लग गया। किन्तु हम लोगों को जो लोकतांत्रिक और मानवीय मूल्यों को महत्त्व देते हैं, उन तरीकों की खोज-करनी पड़ेगी, जो ऐसी निर्दयता का शमन करें।

जहाँ समाजवादी सत्तारूढ़ होते हैं, वहाँ उन्हें (१) उद्योगों, खदानों आदि के लिए, जो पहले से ही कार्यरत हैं और (२) अर्थव्यवस्था के विकास तथा विस्तार के लिए, उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने के लिए अपनी नीति निश्चित करनी पड़ती है। पहली स्थिति दूसरों से प्राप्ति से सम्बन्धित है और दूसरी 'ऊपर उठने' की स्थिति है। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और एशिया जैसे महाद्वीप के जनबहुल तथा कृषक-प्रधान देशों में उन पर अच्छी तरह ध्यान देने और उनके लिए प्रयास करने की आवश्यकता है।

भविष्य को निरूपित करने का पहला अवसर प्रथम महायुद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप के समाजवादियों को मिला। जैसा कि ओटो बोअर (Otto Bauer) ने कहा है : "मध्य यूरोप में लोकतन्त्र की विजय युद्ध के फलस्वरूप, मध्य राष्ट्रों की पराजय के परिणामस्वरूप हुई।...... युद्ध ने जनता को दरिद्र, बुरी तरह दरिद्र बना दिया।...जिस युद्ध ने लोकतन्त्र को विजयी बनाया, उसीने हमें बाध्य करके उस मार्ग पर बढ़ाया, जो समाजवाद की ओर ले जाता है।"

जर्मनी में एक के बाद एक दो समाजीकरण आयोग बनाये गये। उनके विवेचनों में जानकारी का ऐसा भाण्डार है, जिसका उपयोग नहीं किया गया। इन आयोगों ने 'पूर्ण समाजीकरण' या 'अत्यधिक तेजी से समाजवाद' के विचार को अमान्य कर दिया। 'पूर्ण समाजीकरण' या 'अत्यधिक तेजी से समाजवाद' की स्थापना की उस नीति

को लेनिन ने, शायद परिस्थितियों से बाध्य होकर कार्यान्वित किया और तब से जहाँ भी कम्युनिस्ट सत्तारूढ़ हुए, वहीं उस नीति का पालन किया जा रहा है। आयोगों ने आंशिक समाजीकरण का (जैसे कोयला खदानों के क्षेत्र में) समर्थन किया। उसी नीति को द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटेन की मजदूर सरकार ने अपनाया।

समाजीकरण के सम्बन्ध में शुरू के विचार-विमर्शों में समाजीकरण आयोग द्वारा प्रस्तावित सभी कोयला खदानों के राष्ट्रीकरण के मुकाबले जो समस्थित (Horizontal) समाजीकरण है, ऊर्ध्व या लम्बमान (Vertical) समाजीकरण के लिए प्रस्ताव रखे गये। इन प्रस्तावों के अनुसार समाजीकरण खदानों के एक वर्ग में ही करना था और इसके साथ ही लोहा तथा इस्पात उद्योग, सीमेण्ट उद्योग और कोयले का उपयोग करनेवाले अन्य उद्योगों के एक उपयुक्त भाग को समाजीकरण के अन्तर्गत लाना था। ऐसे आंशिक फिर भी सुसम्बद्ध समाजीकरण के समर्थकों का कहना था कि हमारे प्रस्ताव सरकार को इस योग्य बनायेंगे कि वह कोयले, कच्चे लोहे और उनसे बननेवाली चीजों के वास्तविक उत्पादन-व्यय को जान सके। इस प्रकार ये प्रस्ताव अर्थ-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को, जिनमें वे क्षेत्र भी शामिल हैं, जिन पर निजी स्वामित्व चला आ रहा है, प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण में लेने का कार्य भी सरल कर देते हैं। ये प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये गये और अतीत की कारा में ही बन्द रह गये।

इसके बाद दूसरा सुझाव जिसे आर्थिक योजना में विसेल और मोलेनड्राफ ने प्रस्तुत किया था, यह था कि उत्पादन को संयुक्त प्रयास से अर्थात् अपनी व्यवस्था के मामले में स्वतन्त्र ऐसे संगठनों के द्वारा सुनियोजित किया जाय, जिनमें मजदूरों और मालिकों के प्रतिनिधियों के साथ-साथ व्यापारियों तथा उपभोक्ताओं के भी प्रतिनिधि रहें। मजदूरों तथा मालिकों के प्रतिनिधि, जिन्हें समान अधिकार होते, ट्रेड-यूनियनों तथा उद्योग मालिक संघ द्वारा चुने जाने थे। शायद इन योजनाओं तथा

इसी प्रकार की दूसरी योजनाओं से प्रेरित होकर ही सह-संकल्प (Co-determination) कानून बना, जो द्वितीय महायुद्ध के बाद से पश्चिमी जर्मनी में लागू है।

समाजीकृत कोयला-खदानों के लिए जो आर्थिक संगठन सुझाया गया, वह इस प्रकार था : "जर्मनी का पूरा खदान उद्योग एक संयुक्त और व्यावहारिक निगम (कारपोरेशन) में परिवर्तित कर दिया जाय। निजी संस्थान तथा राज्य द्वारा संचालित संस्थान इसी आर्थिक संगठन के अधिकार में दे दिये जायँ। इस प्रकार एक विशाल राष्ट्रीय कोयला संगठन अस्तित्व में आ जायगा, जिसे मजदूर, व्यवस्थापक और समाज एक साथ मिलकर चलायेंगे। आयोग का बहुमत कोयला उद्योग, नौकरशाही राज्य संस्थान को हस्तांतरित करने का प्रस्ताव अस्वीकार करता है।"*

उसके बाद से विभागीय प्रशासन के बजाय सार्वजनिक निगम समाजीकरण का पसन्द किया हुआ साधन बन गया है।

प्रकट है कि विद्यमान उद्योगों आदि के समाजीकरण के मामलों में निर्णयात्मक विचार पश्चिम में हुए हैं और १९१९ के बाद इस दिशा में नाममात्र को कुछ हुआ है।† एशियाई देशों में हम पिटे-पिटाये मार्ग पर चल रहे हैं।

एशिया के लोकतंत्रीय देशों में जहाँ समाजवादी सत्तारूढ़ रहे हैं—जैसे बर्मा या लंका में—पूर्ण समाजीकरण नहीं स्वीकार किया गया है। आंशिक या थोड़ा-थोड़ा करके समाजीकरण को पसन्द किया गया है। १९१८-२० के यूरोप की तरह १९४८-५८ के एशिया में पूर्ण राष्ट्रीकरण से हटकर आंशिक समाजीकरण की नीति का अनुसरण समाजवादियों और कम्युनिस्टों के बीच अन्तर को बराबर स्पष्ट करता आ रहा है।

यदि हम एशिया के देशों की समाजवादी पार्टियों (उदाहरण के

---

* प्रथम समाजीकरण आयोग की बहुमतपक्षीय रिपोर्ट।

† देखिये हेनरिक स्ट्रोबेल : सोशलाइजेशन इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस (१९२२)।

लिए कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी) के प्रारम्भिक कार्यक्रमों पर नजर डालें, तो हम देखेंगे कि 'उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों का राष्ट्रीकरण' उद्देश्य घोषित किया गया है। यदि ऐसे विचार अब पुराने पड़ गये हैं, तो यही समय है कि जान-बूझकर उनका परित्याग कर दिया जाय। लँगड़ाता हुआ समाजीकरण उतना ही या शायद और भी अधिक बुरा है, जितना अत्यधिक तेज राष्ट्रीकरण, जो कम्युनिस्टों की विशेषता है। १९१९ में एक जर्मन समाजवादी प्रोफेसर न्यूरथ द्वारा दी गयी चेतावनी आज भी अर्थ रखती है : "यदि अगले कुछ वर्षों में राष्ट्रीकरण की दिशा में क्रमबद्ध कदम उठाने का इरादा किया गया और इस बीच में आंशिक अराजकता बनी रहने दी गयी, तो समाज पंगु हो जायगा, क्योंकि उद्योगों के जो मालिक समाजीकरण की नीति अपनाये जाने के बाद अभी मालिक के रूप में बच गये हैं, वे इसलिए दूरगामी निर्णय न कर पायेंगे और दूरदर्शी मनोवृत्ति न अपना सकेंगे कि पता नहीं; कब उनका नम्बर आ जाय।" राष्ट्रीकरण का बराबर खतरा अर्थव्यवस्था को पंगु बना दे सकता है।

विवेकपूर्ण समाजीकरण लोकतांत्रिक समाजवाद की खास विशेषता है। पूर्ण या अत्यधिक तेजी का राष्ट्रीकरण और लोकतंत्र साथ-साथ नहीं चल सकते। कम्युनिस्टों द्वारा अपनाया गया राष्ट्रीकरण स्वतंत्रता को कठोरता से सीमित और कठिनाइयों को बढ़ानेवाला है।

समाजीकरण उसीकी चिन्ता करता है जो विद्यमान है, जो स्थापित है और काम कर रहा है। अर्द्धोन्नत देशों के सामने जो वास्तविक कार्य है वह है नवनिर्माण, परम्परागत अर्थव्यवस्था का आधुनिक एवं सक्षम अर्थव्यवस्था में परिवर्तन। इस मामले में पश्चिम के समाजवादियों ने समाजीकरण की तरह विचार की कोई परिपक्वता नहीं दिखायी। वही प्रोफेसर न्यूरथ लिखते हैं : "समाज के भौतिक जीवन का स्तर केवल सक्षम अर्थनीति से ऊँचा उठाया जा सकता है। उत्पादन की क्षमताओं और समाज की पूरी आवश्यकताओं से अभिज्ञ होना ही

पर्याप्त नहीं है। समाज में कच्चे मालों और साधनों, व्यक्तियों और मशीनों की गति तथा लक्ष्य को नियंत्रित करने का सामर्थ्य होना चाहिए। यदि हम समाज में परिवर्तन के कार्य पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दें, तो हमारे लिए जो सबसे पहली चीज जरूरी होगी, वह आर्थिक योजना है। जरूरी यह है कि कच्चे मालों और साधनों के आवागमन का स्पष्ट सर्वेक्षण किया जाय।" समाजीकरण आयोग के एक दूसरे सदस्य प्रोफेसर वैलोड ने उत्पादन और उपभोग की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में काफी काम किया है। अपने रूप में मूल्यवान् ये विचार पूर्ण नियोजन की रूपरेखा खींचते हैं, जिसका बड़ा चित्र गोस्प्लान ने १९२८ में रूस में प्रस्तुत किया। लेकिन उन लोगों का, जो पूर्ण नियोजन स्वीकार नहीं कर सकते और उसे लोकतंत्र का विनाश करनेवाला मानते हैं, यूरोप कोई पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता। एशियाई समाजवादियों को आर्थिक विकास के चरणों के अनुकूल समाजवादी नीतियाँ स्वयं निश्चित करनी पड़ेंगी। विभिन्न उद्योग-क्षेत्रों में बदलता हुआ सम्बन्ध, अर्थव्यवस्था में वृद्धिज उत्पादन (Growth producing), क्षेत्र का चयन, उत्पादन-कार्य में अपनाने के लिए बदलते हुए शिल्पकौशल, अतिरिक्त जनशक्ति का पूँजी के साधन के रूप में उपयोग, वाञ्छनीय वृद्धि के अनुपात के अनुसार विकास का ढंग—ये कुछ ऐसी समस्याएँ हैं, जिनके सम्बन्ध में समाजवाद का साहित्य या समाजवादी इतिहास कोई मार्ग-दर्शन नहीं करता। यहाँ विचार के नये अभियानों की आवश्यकता हो जाती है।

दोहरा दबाव

एशिया में विकास के लिए जल्दी करने की जरूरत इसीलिए नहीं है कि लम्बे समय तक इसकी उपेक्षा हुई है और विकास रुका रहा है, बल्कि जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव के कारण भी है, जिसके असाधारण गति से बढ़ने का खतरा है। जैसा कि राष्ट्रसंघ के हाल के ही एक अध्ययन से प्रकट है, अगले तीस वर्षों में विश्व की जनसंख्या आज की जन-संख्या की दुगुनी हो जाने की सम्भावना है, इस जनसंख्या-वृद्धि में

एक बहुत बड़ा अंश एशिया का होगा। यदि आर्थिक विकास जनसंख्या में वृद्धि की गति के मुकाबले अधिक तेजी से नहीं होता और इस प्रकार इस वृद्धि को नहीं रोकता या कम-से-कम नयी कठिनाइयाँ पैदा होने से नहीं रोकता, तो यह जनसंख्या-वृद्धि कठिन समस्याएँ उत्पन्न कर सकती है। जनसंख्या के बढ़ने से नगरों की वृद्धि और विस्तार होता है। देहातों में जनसंख्या एक प्रतिशत बढ़ती है, तो शहरों में करीब ढाई प्रतिशत और यह ढाई प्रतिशत वृद्धि नगरों में बच्चों के जन्म से ही नहीं, अपितु गाँवों से लोगों के शहरों में आ जाने के कारण भी होती है। नगरों में भी बड़े नगर और भी तेजी से बढ़ते हैं, उनकी जनसंख्या-वृद्धि की गति प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत या इससे भी अधिक होती है। नगरों में इस प्रकार के भारी जमाव, जिनके साथ-साथ तेजी से आर्थिक विकास नहीं हो रहा है, भयानक परिणाम उपस्थित करेंगे। आर्थिक विकास को इस दोहरे दबाव का सामना करना है।

जनसंख्या-वृद्धि आर्थिक विकास के लिए क्या जटिलताएँ उत्पन्न कर सकती है, इसे कोल और हूवर ने अपने हाल के अध्ययन 'पापुलेशन ग्रोथ एण्ड इकॉनामिक डेवलपमेण्ट इन इण्डिया, १९५६-१९८६' (भारत में १९५६-१९८६ के बीच जनसंख्या-वृद्धि तथा आर्थिक विकास) में दर्शाया है। 'जीवन निर्वाह और मृत्यु सम्बन्धी, परिवर्तन का सिद्धान्त प्रकट करता है कि आर्थिक विकास के फलस्वरूप मृत्यु-अनुपात में असाधारण कमी हो जाती है और जन्मानुपात में कमी मृत्यु में कमी होने की तुलना में काफी समय बाद होती है। १८९१ से १९२१ तक की अवधि में भारत में जनसंख्या-वृद्धि ५ प्रतिशत से थोड़ी अधिक थी, १९२१ से १९५१ तक की अवधि में जनसंख्या ४४ प्रतिशत बढ़ गयी। 'जीवन निर्वाह और मृत्यु सम्बन्धी महान् क्रान्ति' भारत में पहुँच गयी है।

प्रजनन का अनुपात ऊँचा है, मध्यम है या निम्न, इससे भारी अन्तर हो जाता है। कोल और हूवर के अनुसार १९८६ में जनसंख्या

उपर्युक्त तीनों अनुपातों से क्रमशः ७७५० लाख, ६३४० लाख, ५८९० लाख हो सकती है अर्थात् लगभग २० करोड़ का अन्तर हो सकता है।

अधिक तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या से आर्थिक विकास में क्या अंतर आता है, इस पर दोनों लेखकों ने विचार किया है। वे निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे हैं :

"ये विचार सिद्ध करते हैं कि निम्न अनुपात की जनसंख्या-वृद्धि की स्थिति में कुल राष्ट्रीय आय ३० वर्षों में २०० प्रतिशत से कुछ अधिक बढ़ेगी, जिसका अर्थ हुआ प्रतिवर्ष अनुपातत: ३·८ प्रतिशत वृद्धि। इस वृद्धि में उत्तरोत्तर अधिक गति है, तीन प्रतिशत से शुरू होकर यह अन्त में साढ़े चार प्रतिशत हो जायगी। इसके विपरीत ऊँचे जन्मानुपात की स्थिति में राष्ट्रीय आय ३० वर्षों में केवल १२६ प्रतिशत बढ़ती है अर्थात् प्रतिवर्ष वृद्धि का अनुपात केवल २·८ प्रतिशत होता है, जो इस अवधि के अन्त में केवल १·७ प्रतिशत रह जाता है।

"प्रति उपभोक्ता की दृष्टि से देखा जाय, तो अन्तर और भी असाधारण है। निम्न जन्मानुपात की स्थिति में इस अवधि में प्रति उपभोक्ता आय ९२ प्रतिशत हो जाती है और अन्तिम पाँच वर्षों में साढ़े ३ प्रतिशत प्रति-वर्ष के अनुपात से बढ़ती है। ऊँचे जन्मानुपात की स्थिति में प्रति उपभोक्ता पीछे आय का बढ़ना १९७६ में रुक जाता है और उसके बाद वृद्धि की प्रवृत्ति वस्तुतः ह्रास में परिवर्तित हो जाती है। किसी भी समय में उपभोक्ता की स्थिति १९५६ की तुलना में २० प्रतिशत से अधिक अच्छी नहीं होती।

ऊँचे जन्मानुपात की स्थिति में १९८६ में राष्ट्रीय आय १९५६ के उत्पादन (१००) के आधार पर २२६ प्रतिशत होगी और प्रति उपभोक्ता आय, जो १९५६ में १०० है, केवल ११४ होगी। निम्न जन्मानुपात हो, तो राष्ट्रीय आय ३०७ प्रतिशत और प्रति उपभोक्ता आय १९२ प्रतिशत होगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि जल्दी ही विकास की गति नहीं बढ़ायी

जाती, तो बढ़ती हुई जनसंख्या आगे बढ़ रहे विकास को पीछे ढकेल देगी। फिर, ३० वर्ष तक विकास के बाद यदि प्रति उपभोक्ता आय वस्तुतः अपरिवर्तित ही बनी रहे, तो क्या स्थिरता बनायी रखी जा सकती है? गतिहीनता और स्थिरता साथ-साथ नहीं चल सकती। विकास की तीव्र गति ही बढ़ते हुए वेग को कायम रख सकती है, जनसंख्या का बढ़ना रोक सकती है, रहन-सहन का स्तर ऊँचा कर सकती है और लोकतन्त्र की मर्यादा रख सकती है। समाजवाद को समस्या हल करनी है।

लोगों का नगर में जाकर बसना एशिया में अपनी अलग ही विशेषता रखता है। भारत में १९५१ में नगरों में रहनेवालों की संख्या साढ़े पाँच करोड़ थी। १९६१ में यह संख्या बढ़कर ८ करोड़ हो जाने की सम्भावना है और १९८६ तक १९ करोड़ २० लाख तक जा सकती है। जब कि १९५१ में देश की जनसंख्या का केवल १७ प्रतिशत नगरों में था, १९८६ में ३७ प्रतिशत हो जायगा। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मैक्सिको में जिसकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति हमसे बहुत भिन्न नहीं है, ४५ प्रतिशत जनसंख्या नगरों में रहती है।

एशिया में यद्यपि नगरों में जनसंख्या के १२ प्रतिशत लोग ही रहते हैं, तथापि उसमें ८ प्रतिशत से अधिक बड़े नगरों में रहते हैं। कृष्येतर (non-agricultural) श्रमिकों की संख्या मोटे तौर से ३० प्रतिशत है। पश्चिमी देशों, जैसे अमेरिका (१८५०), फ्रान्स (१८६०), जर्मनी (१८८०) और कनाडा (१८९०) में नगरीकरण (Urbanization) की ऐसी अवस्था में कृष्येतर व्यवसायों में लगे हुए श्रमिकों की संख्या मोटे तौर पर ५५ प्रतिशत थी। संसार के एक लाख से अधिक जनसंख्या के ८९७ नगरों में ४६३ नगर ऐसे देशों में हैं, जहाँ आधी से अधिक जनसंख्या खेती में लगी हुई है और ४३४ नगर उद्योगप्रधान देशों में हैं। प्रथम समूह के नगरों की जनसंख्या मोटे तौर पर १६ करोड़ है और दूसरे समूह की लगभग साढ़े १५ करोड़।

जहाँ तक आर्थिक विकास का प्रश्न है, एशिया में 'आवश्यकता से अधिक नगरीकरण' हो चुका है।

हिन्देशिया में देखा गया कि १९३० और १९५०-५१ के बीच आर्थिक कार्यकलापों के बढ़ने से विस्तृत हुए शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या ५२६० हजार से बढ़कर ९७७० हजार हो गयी, जब कि दूसरे कारणों से बढ़े हुए अन्य नगरों में जनसंख्या १३९० हजार से बढ़कर ४३३० हजार तक पहुँची। प्रथम समूह में वृद्धि का अनुपात ८२ प्रतिशत और दूसरे समूह में २१२ प्रतिशत थे। 'यह प्रकट करना है कि न केवल बड़े नगर छोटे नगरों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रहे हैं, अपितु नगरों की ओर प्रयाण में आर्थिक कारणों के बजाय आर्थिकेतर कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।"*

इसके परिणाम स्पष्ट हैं। एशिया में नगरीकरण की ओर झुकाव अधिक है। इसका परिणाम यह होगा कि गृह-निर्माण, सफाई आदि में अधिक साधन लगाने पड़ेंगे और उस हद तक उत्पादन-वृद्धि के लिए सुलभ साधनों में कमी आ जायगी। विकास की गति जितनी ही मन्द होगी, नगरीकरण का भार उतना ही बढ़ जायगा।

एक दूसरी और बड़ी समस्या नगरों की बढ़ती हुई आबादी के लिए उत्तरोत्तर बढ़ रही खाद्यान्न की आवश्यकता पूरी करने की है। भारत की 'खाद्यान्न जाँच समिति' ने हाल में ही अपने प्रतिवेदन में कहा है कि शहरी क्षेत्रों की खाद्यान्नगत आवश्यकताएँ १९५६ से १९६१ तक ३३ प्रतिशत बढ़ जायँगी, जबकि खाद्यान्न उत्पादन में १४.७ प्रतिशत वृद्धि की ही आशा की जाती है। खाद्यान्न की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग की पूर्ति कृषक से कैसे की जाय? बढ़ती हुई जनसंख्या और बढ़ता हुआ नगरीकरण किसान को ऐसी प्रधानता प्रदान करता है, जिसकी कि यूरोपीय समाजवाद को आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

एशियाई समाजवादी आन्दोलन में क्या इस विषय में कोई मतैक्य

---

* बर्ट एफ० होजलितज : दि सिटी, दि फैक्टरी एण्ड इकॉनामिक ग्रोथ।

है कि अर्थ-व्यवस्था में विकासवर्धक क्षेत्र किन तत्त्वों से बनता है ? वह क्षेत्र कोई भी हो और निश्चय ही यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि खाद्यान्न और वाणिज्यिक या नकदी फसलों का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है। मेक्सिको में वास्तविक औद्योगिक विकास १९३९ में शुरू हुआ और तब से राष्ट्रीय उत्पादन प्रतिवर्ष ७ प्रतिशत के अनुपात से बढ़ा है। २० वर्ष से कम की इस अवधि में कृषि उत्पादन ढाई गुना बढ़ गया है, जिसमें से ४० प्रतिशत उद्योगों के लिए कच्चा माल होता है। औद्योगिक क्रान्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक साथ-साथ कृषि में भी क्रान्ति न हो। विकासवर्धक क्षेत्र उद्योग या उसके कुछ विभागों में होने के बावजूद विकास के गतिवेग को तब तक कायम नहीं रखा जा सकता, जब तक कृषि-क्षेत्र अपनी उत्पादन-शक्ति नहीं बढ़ाता।

विकासवर्धक क्षेत्र

एशिया में जो स्थिति है, उसमें सामुदायिक भावना को पुनर्जीवित किये बिना कृषि-उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता। प्रश्न यह नहीं है कि कितना लगाया जाता है और कितना प्राप्त होता है, बल्कि यह है कि जर्जर भूमि को फिर से ठीक हालत में किया जाय, सिंचाई की सुविधाओं को सुधारा जाय और खाद तैयार की जाय। संक्षेप में कह सकते हैं कि ये ऐसे कार्य हैं, जिन्हें सामुदायिक प्रयास से ही पूरा किया जा सकता है। अधिक उत्पादन आवश्यक है, किन्तु इससे भी अधिक आवश्यक यह है कि किसान को विपण्य अधिशेष (Marketed surplus) में वृद्धि की जाय। यही वह बचत है, जो औद्योगीकरण तथा नगरीकरण की जरूरत को पूरा करती है।

उत्पादन में वृद्धि से विपण्य बचत स्वतः नहीं बढ़ जाती, क्योंकि किसान में उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होती है। निम्नलिखित तालिका, जो रूस द्वारा किये गये अनुभव को स्पष्ट करती है, इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं है :

उत्पादक की श्रेणी	युद्ध पूर्व उत्पादित	विपणित	१९२६-२७ उत्पादित	विपणित
	(लाख टन में)			
जमींदार	९६	४५	—	—
बड़े किसान (कुलक)	३०४	१०४	९६	२०
छोटे और मध्यमवर्गीय किसान	४००	५९	६४०	७३
राजकीय फार्म	—	—	१३	८

अपनी जरूरत की पूर्ति के बाद बाजार में दिया जानेवाला अतिरिक्त अन्न उत्पादन के २६ प्रतिशत से घटकर १३ प्रतिशत हो गया। ऐसे परिणाम से बचने के लिए केवल यही जरूरी नहीं है कि उत्पादन को तेजी से बढ़ाने में सहायता की जाय, बल्कि यह भी जरूरी है कि किसानों को अपनी आवश्यकताओं में परिवर्तन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय और तब किसान इसे स्वीकार करके अपनी खेती में उत्पादित वस्तु देना पसन्द करेगा। कृषि-सुधार से भिन्न सामुदायिक विकास आवश्यकताओं में भिन्नता लाने में सहायक होता है और इस प्रकार उसके द्वारा उत्पादन और विपण्य अधिशेष दोनों अधिक परिमाण में होता है।

इस अधिशेष या बचत की दृष्टि से ही सर्वोदयवादियों का विचार बुनियादी रूप से त्रुटिपूर्ण है। यदि गाँव आत्मनिर्भर बन जाता है, यदि वह अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर लेता है, तो शहर के लोगों के सामने भारी संकट आ सकता है। स्वयं कृषि में इस प्रकार का हेरफेर और तेजी लानी पड़ेगी कि उसमें प्रायः सालभर बराबर काम मिलता रहे। यदि कृषि-व्यवस्था बराबर पिछड़ी दशा में रहती है, यदि अतिरिक्त कार्य शहरी चीजों के स्थान पर ग्रामीण वस्तुएँ देकर कराया जाता है, तो एक नया संकट आ जायगा।

एक प्रवृत्ति कृषि तथा उद्योग को, देहाती तथा शहरी जनता को

पृथक् करके सोचने की भी है, जब कि दोनों का उत्तरोत्तर अधिक पारस्परिक सम्बन्ध ही विकास को तत्त्वपूर्ण बनाता है।

निस्सन्देह रूप से खेतिहर जीवन और औद्योगीकरण में कुछ द्वन्द्व हैं। इस द्वन्द्व को बँधी हुई दृष्टि से नहीं दूर किया जा सकता। तीव्र गति से विकास ही इस आरम्भस्थ द्वन्द्व को उपयोगी सहयोग में बदल सकता है। उन्नत देशों की यही शिक्षा रही है। अलेक्जेण्डर गर्सचेंकरोन ने अनुभव की समीक्षा इस प्रकार की है: "१९वीं शताब्दी के यूरोप के आर्थिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह विचार बहुत दृढ़ हो जाता है कि भारी पैमाने पर औद्योगिक विकास होने से ही औद्योगीकरण के पूर्व की अवस्था और औद्योगीकरण से होनेवाले लाभ के बीच व्याप्त तनाव कठिनाइयों को समाप्त करता है और उन शक्तियों को पैदा करता है, जो औद्योगिक प्रगति में सहायक हों।"

बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास प्रारम्भ करने के लिए कई शर्तें पूरी करनी होंगी। सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि प्राथमिकता ऐसे उत्पादन कार्यों को दी जाय, जो यन्त्र और शिल्प कौशल में सुधार करें, उन्हें क्रान्तिकारी बना दें। इसका अर्थ यह हुआ कि इस्पात, कोयला और विद्युत् उद्योगों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। यही विकास-वर्धक क्षेत्र का हृदय है।

विकास का अर्थ है, पूरी उत्पत्ति के बचत का पुनः विनियोजन, और श्रम तथा अन्य खर्चों का कम लगना। जो भी तरीका बचत को बढ़ाता है, वह विकास को तेज बनाता है। वाल्टर गैलेनसन और हार्वे लायबेन्स्टाइन नामक दो अमेरिकी अर्थशास्त्रियों ने हाल में ही हिसाब लगाया था कि विभिन्न श्रेणी की सूती वस्त्रोत्पादन व्यवस्थाओं में रोजगार देने की कितनी क्षमता है। आँकड़े भारत के हैं और १९४३ की कीमतों तथा अवस्थाओं को आधार माना गया है। निष्कर्ष नीचे की तालिका में दिये गये हैं:

१२०० रुपये के प्रारम्भिक विनियोजन से मिलनेवाला काम

वर्ष	आधुनिक मिल	हाथकरघा
५	५	३५
१०	३४	३५
१५	२४२	३५
२०	१७१८	३५
२५	१२२००	३५

बढ़ती हुई जनसंख्या और निर्धनता की चुनौती स्वीकार करने के लिए औद्योगीकरण और यन्त्रीकरण को बढ़ाना ही पड़ेगा। उन उद्देश्यों की पूर्ति और साथ ही अपेक्षित बचत को विकासगत विनियोजन के हेतु प्राप्त करने के लिए भारी उद्योगों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

औद्योगीकरण होने तक की बीच की लम्बी अवधि में छोटे उद्योगों को अधिक-से-अधिक अच्छे ढंग से चलाकर उपभोग की वस्तुओं को बढ़ाना तथा परम्परागत व्यवसाय को उत्पादनशील बनाना पड़ेगा। समाजवाद का तत्त्व उसके इस सामर्थ्य में है कि वह अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकृत क्षेत्रों में अच्छी व्यवस्था, सहयोग और सामाजिक सजगता के द्वारा पूँजी के अभाव से मुक्ति दे।

नये और अच्छे यन्त्रों तथा शिल्प कौशलों के प्रचलन से नयी दक्षता, काम के लिए नयी प्रवृत्ति एवं नयी लय और नये सामाजिक अनुशासन की आवश्यकता है। आर्थिक विकास के आधार और सामाजिक सतर्कता को, जो नये साधनों का उपयोग कर सकते हैं, साथ-साथ बढ़ना पड़ेगा, साहचर्य रखना पड़ेगा। एक प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री सर डेनिस राबर्टसन ने हाल में ही कहा है : "विकास के लिए आवश्यक त्याग इसी बात में नहीं है कि उपभोग से विरत रहा जाय, बल्कि कुछ ऐसी चीज में है जो कहीं अधिक कठिन है। वह है अपने जीवन और कार्य के व्यवस्थित

नित्यक्रम में उलट-पुलट स्वीकार करना।" ऐसी स्वीकृति किसानों और शिल्पियों को ही नहीं देनी है, बल्कि समाजवादियों को भी देनी है।

जनता के कल्याण में समाजवादियों की गहरी दिलचस्पी और गहन सम्बद्धता है। आर्थिक समानता और सामाजिक सुरक्षा मुख्यतः उन्हींके प्रयासों के फलस्वरूप महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं। उत्पादन का चक्र तभी अर्थपूर्ण बनता है, जब उसकी इति उपभोग में हो और उपभोग उचित वितरण पर निर्भर हो। श्रमजीवी वर्ग के जीवन को उन्नत करने से ही उत्पादी-प्रयासों को अर्थ और प्रवर्तक शक्ति मिलती है। सारे विकास में, दूसरे कार्यों की ही तरह असमानता की दबी हुई प्रवृत्ति रहती है, जैसा कि प्रोफेसर गुन्नार मिर्दल ने अपनी पुस्तकों में सिद्ध किया है।* असमानता नैतिक दृष्टि से ही अस्वीकार्य नहीं है, बल्कि आर्थिक दृष्टि से उस पर प्रतिबन्ध भी जरूरी है। समानतामूलक कार्यों को आगे बढ़ाना, समानता स्थापित करना प्रगति के लिए सच्चे रूप में कार्य करना है। समानता और कल्याण पर जोर, जो समाजवाद की विशेषता है, कभी भी अधिक उग्र नहीं हो सकता।

विकास और सामाजिक जागृति

अर्ध-विकसित देशों में उत्पादन-विधियों की वृद्धि ऐसे ही नहीं हो जायगी। उन विधियों को पूरी चेतना के साथ प्रश्रय देना पड़ेगा। जैसा लेनिन ने १९२३ में कहा था : "हमें अब यह कहने का अधिकार है कि सहकारी समितियों की सीधी सादी वृद्धि की समाजवाद की वृद्धि से एकरूपता है। फिर भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमने समाजवाद सम्बन्धी अपनी धारणा में बुनियादी रूप से परिवर्तन कर दिये हैं। यह बुनियादी परिवर्तन इस बात में है कि क्रान्ति के बाद, सत्ता छीनने के बाद, हमने शुरू में राजनीतिक युद्ध पर सबसे अधिक जोर दिया और हम इसके लिए बाध्य भी थे। अब जोर मुख्यतः शान्तिपूर्ण एवं संगठनात्मक 'सांस्कृतिक' कार्य पर होना चाहिए।" समुचित

* देखिये—रिच लैण्ड्स एण्ड पूअर।

भाग के लिए संघर्ष से आर्थिक-प्राविधिक विकास में सुधार की बात यों ही अलग पड़ी रह जा सकती है। उदाहरण के लिए गृह-निर्माण को लीजिये। समाज-कल्याण का यह एक आवश्यक कार्य है। अमेरिका में १८९० के बाद (कुछ वर्षों को अपवाद के रूप में छोड़कर) उद्योग तथा गृह-निर्माण पर समान रूप से ध्यान दिया गया है, उन पर कुल धन विनियोग का चौथाई लगा है। इस शताब्दी के चतुर्थ दशक में रूस ने उद्योग के लिए कुल धन विनियोग का ४० प्रतिशत निर्धारित किया और गृह-निर्माण के लिए केवल १० प्रतिशत। १९५० से उद्योगों पर व्यय की जा रही भारी रकम का आधा खर्च गृह-निर्माण पर किया जा रहा है। जाहिर है कि कोई भी व्यक्ति सामाजिक हित और सन्तुलित विकास की दृष्टि से साधनों के बँटवारे के अमेरिकी ढंग को पसन्द करेगा। लेकिन अर्द्धोन्नत देशों में ऐसा कार्य औद्योगीकरण की गति को मन्द करने के मूल्य पर ही किया जा सकता है। क्या कम्युनिस्टों ने गृह-निर्माण में ७५ प्रतिशत (इस मद में कुल धन विनियोग का) कटौती करके और उद्योग के हिस्से को उतना ही बढ़ाकर अधिक बुद्धिमत्ता की ? ऐसे कठिन भ्रमजाल से समाजवादी बच नहीं सकते। जो बात गृह-निर्माण के लिए है, वही दूसरी सुविधाओं के लिए भी कही जा सकती है। हर जगह कठिन विकल्प अपनाने पड़ेंगे और साधनों का इस ढंग से बँटवारा करना पड़ जायगा, जो समाजवादी विचार से पूरी तरह से मेल न खा सकें।

इसी प्रकार की समस्या समानता के विषय में भी है। धन-विनियोग विकास का प्राणतत्त्व है और धन लाभ से मिलता है—चाहे वह लाभ निजी क्षेत्र में हो, चाहे सार्वजनिक क्षेत्र में। मौरिस जिनकिन की तीक्ष्ण टीका में वजनदार युक्तियाँ हैं : "एशिया और उससे भी अधिक यूरोप में राजनीतिक घबराते हैं कि लाभ में निर्लज्जता की ध्वनि निकलती है, उससे उनके मतदाताओं के विचार की विशुद्धता पर आघात होता है। लेकिन कोई भी चीज उतनी तेजी से पूँजी-निर्माण नहीं करती, जितनी

तेजी से लाभ करता है। साहसी राजनीतिज्ञ यह बात अच्छी तरह समझ सकता है कि उसके मतदाता इस निर्लज्जता को अपने बच्चों के लिए उस बेहतर जीवन के बदले में सहन कर लेंगे, जिसे यह (लाभरूपी निर्लज्जता) अपने साथ लाती है।"*

लाभ को विनियोजन के रूप में कैसे मोड़ा जाय, यह ऐसी समस्या है, जिस पर बराबर ध्यान देने की आवश्यकता है और यह तभी सम्भव है जब हम लाभ के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ना बन्द कर दें।

यह कार्य हमें अर्थ-व्यवस्था का मार्ग निर्धारित करने के प्रश्न के सामने लाकर खड़ा कर देता है। विकास, उत्पादन या उपभोग की ओर कौन-सी चीज अग्रसर करती है? १९ वीं शताब्दी में गतिशीलता उत्पादन में निहित थी। जिस परस्पर प्रतिक्रिया से उत्पादन और उपभोग एक-दूसरे को बढ़ाते हैं, उसमें उपक्रामक या अगुआई करनेवाली अन्तः-प्रेरणा मुख्य रूप से उत्पादन के पक्ष से आती थी। विनियोजन और आय-वृद्धि की परस्पर क्रिया में कारणात्मक स्वत्व (Causal Claim) प्रधानतः विनियोजन से आय की दिशा में बढ़ता था। उपभोग और माँग आश्रित की स्थिति में थी। प्रेरक शक्तियाँ प्रधानतः उत्पादन तथा पूर्ति के साथ थीं। समाजवाद इस पद्धति को उलट देने की कोशिश करता है। उत्पादनवादी अर्थ-व्यवस्था में कठोरपन होता है। पश्चिम में कम सुविधा पाये हुए लोगों के लिए आर्थिक व्यवस्थाओं, सामाजिक सुरक्षा की कार्रवाइयों और कोयला उद्योग, रेलवे यातायात की तरह के एकाधिकारों के राष्ट्रीकरण जैसे सामाजिक सुधारों में बराबर होती जा रही वृद्धि के द्वारा इसकी बुराइयों को कमजोर कर दिया गया है। वितरणगत न्यायपरता उत्पादन-व्यवस्था को नियन्त्रित करती है। एशिया में क्या उचित वितरण उत्पादन-वृद्धि को कायम रख सकता है? ऐसा न होने का परिणाम यह होगा कि हम विकास की प्रवृत्ति से विमुख होंगे। क्या योजना उत्पादन तथा वितरण के लिए सामान्य आधार प्रदान कर

* मौरिस जिनकिन : डेवलपमेण्ट फॉर फ्री एशिया, पृ० ४३।

सकती है और इसके साथ-ही-साथ उपयुक्त सामाजिक अनुशासन स्थापित कर सकती है ? कम्युनिस्टों के पास स्पष्ट उत्तर है। यदि समाजवादी उस उत्तर का पूर्ण रूप से अनुमोदन करते हैं, तो उनकी विशिष्ट दृष्टि समाप्त हो जाती है। यदि उनके पास दूसरा उत्तर है, तो उन्हें स्पष्टतापूर्वक तथा साहसपूर्वक उसे भलीभाँति प्रदर्शित करना चाहिए।

मूल रूप से कम्युनिस्टों की योजना क्या है ? यह योजना कैसे बनती है और किस प्रकार इसे कार्यान्वित किया जाता है ?

राष्ट्रीकरण की गतिशीलता

"उत्पादन, विनियोजन और उपभोग के लक्ष्यों तथा उनकी पूर्ति के लिए वस्तु-साधन तथा धन की आवश्यकताओं के विवरण का व्यापक रूप ही योजना है। पश्चिम के तरीके से एकदम विपरीत सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के देशों में इन विवरणों में, जिन्हें सन्तुलित प्राक्कलन (Balanced Estimates) कहा जाता है, बदलती हुई हेतूपस्थितियों और कल्पनाओं पर आधृत केवल पूर्वानुमान और अस्थायी 'माडल' ही नहीं होते, अपितु एक निश्चित कार्यक्रम होता है, जिसे पूरा करना अनिवार्य है और जिसे पूरा समाज कानून की तरह मानने के लिए बाध्य है।"*

'पूरे समाज के लिए कानून की तरह अनिवार्य' योजना सर्वसत्तावादी नियन्त्रण में ही सम्भव है। जब कि सत्ताहीन रहने पर कम्युनिस्ट पूँजी-संचय और उत्पादन से उत्प्रेरित अर्थ-व्यवस्था पर आपत्ति करते हैं, सत्ता पर अधिकार हो जाने के बाद उनका अभियान उसी दिशा में होता है। जैसा कि पोलैण्ड के एक योजना-विशेषज्ञ हिलारी मिंक ने कहा है : "हमें यह गलत धारणा त्याग देनी चाहिए कि उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के साथ पारिश्रमिक में उतनी ही या उससे भी अधिक वृद्धि होगी ही।···यह समाजवाद के पूँजी-संचय के बुनियादी नियमों की बहुत बड़ी असंगति

* निकोलस स्पुलहर : दि इकॉनामिक्स ऑफ कम्युनिस्ट ईस्टर्न यूरोप, पृ० २८२।

और पेशे भी उसकी चपेट में आ जाते हैं। चीन में हाल में ही सभी आवास-गृहों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया है। ऐसे अन्धाधुन्ध और व्यापक राष्ट्रीकरण का परिणाम आर्थिक सुधार नहीं होता, अपितु वह जनता की परेशानियाँ बढ़ाता है। जैसा कि मतयास राकोसी ने १९५३ में पुराना मार्ग बदलकर 'नया मार्ग' अपनाने के समय कहा था : "पूरे गाँवों और नगर क्षेत्रों में मोची, दर्जी, लोहार, पाइप की मरम्मत और बिजली का काम करनेवाले लोग नहीं थे।...यदि कोई व्यक्ति अपनी टूटी हुई खिड़की को बदलवाना चाहता अथवा कृषि फार्म के किसी यन्त्र की मरम्मत कराना चाहता, तो उसे २० से ३० मील तक की यात्रा करनी पड़ती थी।" पूर्ण नियोजन के अन्तर्गत क्या ही पूर्ण अव्यवस्था थी !

राष्ट्रीकरण में नियंत्रण की कुछ समान विशेषताएँ हैं। कुछ थोड़े-से नियंत्रण प्रभावकारी हो सकते हैं, लेकिन जब सीमा का अतिक्रमण हो जाता है, तो अधिक-से-अधिक नियंत्रण लादने की जरूरत पड़ती है और हर नया नियंत्रण पूरी व्यवस्था को कम प्रभावकारी तथा अधिक सन्तापकारी बना देता है। राष्ट्रीकरण की शक्ति यदि नियंत्रित नहीं की जाती, तो यह ज्यादती को ही प्रश्रय नहीं देती, अपितु दमनकारी भी हो जाती है। यही कारण है कि समय-समय पर कम्युनिस्ट देशों में इस प्रकार के दबाव में ढिलाई की जाती रहती है, जिससे कृषि, खुदरा व्यापार व्यवसाय तथा स्वतंत्र प्रयास के लिए राहत मिल जाती है।

एक बार राष्ट्रीकरण को अस्वीकार कर दिया जाय, तो विपणन (Market) और मूल्यांकन की व्यवस्था अपना स्वरूप प्राप्त कर ले। जाहिर है कि बाजार और मूल्यांकन व्यवस्था को खुली छूट नहीं दी जा सकती। राज्य सन्तुलनात्मक कार्रवाइयाँ करेगा, किन्तु इन कार्रवाइयों का उद्देश्य बाजार की उपयोगिता को कम करना नहीं, अपितु बढ़ाना है। एशिया में समाजवादियों ने बाजार प्रक्रिया को एक प्रकार से मान लिया है। यही समय है कि इस सम्बन्ध में अच्छी तरह गवेषणा की जाय।

आर्थिक विकास के लिए प्रेरक शक्ति उन लोगों से प्राप्त होती है जिनमें नयी खोज की प्रवृत्ति हो। एक ओर किसी वस्तु का नये तथा भिन्न ढंग से उत्पादन करना और दूसरी ओर बहुत कुछ प्रचुर मात्रा में उत्पादन करना, नयी खोज के ये दो पहलू हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में इसे उपक्रमी (Entrepreneur) करता था और वह जोसेफ शम्पटर की कल्पना का ऐसा उपक्रमी था, जो नयी खोजों को प्रयोग में लाता था। इस प्रकार का उपक्रमी एशिया के देशों में नहीं है। कम्युनिस्ट व्यवस्था में इस कार्य को पार्टी कार्यकर्ता और कोमिस्सार (Commissar) करता है। समाजवादी व्यवस्था में रचनात्मक प्रवृत्ति को नये प्रयोगों से जाग्रत करना है, नयी संस्था, नये तरीके अपनाने हैं। कुछ स्थितियों में कारखानों पर मजदूरों का नियंत्रण, कुछ स्थितियों में इजराइल की तरह उद्योग पर ट्रेड-यूनियनों का स्वामित्व, नये उपक्रमियों के प्रशिक्षण के लिए नये औद्योगिक संस्थान, सार्वजनिक निगम, सहकारिता प्रधान व्यवस्था और निजी स्वामित्व—यही सब समाजवादी भावना के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। इस प्रकार के प्रयोग से ही योग्य नायक और विकास का कार्य करनेवाले इंजीनियर वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से तैयार किये जायेंगे।

पूर्ण राष्ट्रीकरण मानता है कि राज्य अर्थात् उसके अंगों में किसी काम के लिए आगे बढ़ने तथा उद्योग-संचालन की शक्ति निहित है। यह ऐसा ही प्रमाणरहित कथन है, जैसे यह मान लेना कि एशियाई अर्थ-व्यवस्था नवीन पूँजीवादी पद्धतियों से ही विकसित हो सकती है। ऐसी शक्तियों को बहुत सजगता से तैयार तथा नियंत्रित करना होगा।

नवीनताएँ तथा प्रयोग केवल व्यवस्था के स्तर तक ही सीमित नहीं हैं। शिल्प-प्रक्रिया के लिए भी उनका महत्त्व कम नहीं है। औद्योगिक खोजों और प्रयोगों का रूप और अवस्था दोनों परिवर्तनशील हैं। यह ऐसा तथ्य है, जिसकी कम्युनिस्टों ने उपेक्षा की है और जिसे समाजवादियों ने अच्छी तरह से समझा नहीं है। हमें इस सत्य को समझना चाहिए कि

एशिया में उत्पादन के सम्बन्धों में ही नहीं, अपितु उत्पादन की शक्तियों में भी परिवर्तन करना पड़ेगा।*

आर्थिक विकास अकेले में प्रगति नहीं कर सकता। शक्ति तथा सृजनात्मक प्रवृत्ति का बढ़ना कभी भी आर्थिक जीवन तक ही सीमित न रहेगा। एक बार ऐसी लहर आयी, तो वह सारे कार्यकलापों को प्रभावित करेगी। जैसा कि प्रोफेसर जॉन नेफ ने अपनी पुस्तक 'कल्चरल फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डस्ट्रियल सिविलाइजेशन' (औद्योगिक सभ्यता के सांस्कृतिक आधार) में सिद्ध किया है, 'कोई भी औद्योगिक क्रान्ति बिना बौद्धिक पुनरुदय के आगे नहीं बढ़ती। नये रचनात्मक उत्थान में मानव बुद्धि का पूर्ण योगदान विकास का आवश्यक लक्षण है। इस स्थिति में समाजवादियों का क्षेत्र राजनीति या अर्थनीति तक ही सीमित नहीं रह सकता, संस्कृति के सारे क्षेत्र को उनकी शक्तिदायिनी प्रेरणा प्राप्त होनी चाहिए और बदले में समाजवादियों को ऐसे योगदान से अपने को उत्तम बनाना चाहिए। दलित और शोषित संसार में समाजवाद को अन्तःकरण की आवाज बनना है, उसे मानव-विचार को भविष्य की कल्पना और उस कल्पना को चरितार्थ करने की आस्था प्रदान करनी है।

---

* देखिये, राममनोहर लोहिया : आस्पेक्ट्स ऑफ सोशलिस्ट पालिसी।